हिन्दी साहित्य

की

दार्शनिक पृष्ठभूमि

लेखक

विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

एम० ए० (हिन्दी), एम० ए० (संस्कृत)

प्राध्यापक—आगरा कालेज, आगरा

भूमिका—लेखक

श्री नन्ददुलारे वाजपेयी

(सागर विश्वविद्यालय)

तथा

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल

(काशी विश्वविद्यालय)

प्रकाशक

साहित्य-रत्न-भण्डार

आगरा

प्रकाशक
साहित्य-रत्न-भण्डार
आगरा

प्रथमवार

चैत्र २०१२

मूल्य ६॥)

मुद्रक
साहित्य प्रेस
आगरा

समर्पण—

दिवङ्गत पिताजी

की

पुण्य-स्मृति में

चल रहा है चेतना के द्वन्द्व का इतिहास।
किन्तु जब तब सिसकने लगता सजल अवकाश॥
जानता हूँ, है न रुचिकर, आपको उपचार।
आँसुओं के साथ ये 'आखर' करो स्वीकार॥

अभिमत

मैंने अपने प्रिय शिष्य द्वारा प्रणीत 'हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि' का ध्यानपूर्वक अवलोकन किया। कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रतिपाद्य विषय अत्यन्त गम्भीर तथा विस्तृत अध्ययन की अपेक्षा रखता है। प्रथमतः दर्शन का विषय ही अत्यन्त क्लिष्ट है और उच्चकोटि के कवियों द्वारा उसके सन्निवेश का ठीक-ठीक विश्लेषण और भी कठिन कार्य है। इतना होने पर भी मैं यह निःसङ्कोच कह सकता हूँ कि इस ग्रन्थ में विश्वम्भरनाथजी को यथेष्ट सफलता मिली है।

दार्शनिक तत्त्वों के विश्लेषण तथा उनके क्रमिक विकास का इस ग्रन्थ में बड़ा ही स्पष्ट तथा तर्क-सङ्गत रूप उपस्थित किया गया है। इसमें विश्वम्भरनाथजी के विस्तृत तथा गम्भीर अध्ययन की स्पष्ट छाप सर्वत्र ही दिखलाई देती है। जिस सरल, सुबोध तथा व्याख्यात्मक शैली का इस ग्रन्थ में प्रयोग किया गया है वह विषय को सरलता पूर्वक बोधगम्य बनाने में अत्यन्त अधिक क्षमता रखती है।

कवियों द्वारा इन दार्शनिक तत्त्वों के उपयोग के विश्लेषण में जिस सार ग्राहिणी व्यापक तथा तर्कपूर्ण पद्धति का प्रयोग किया गया है, वह भी विश्वम्भरनाथजी के मननशील अध्ययन तथा साधना का परिचय देती है।

विश्वम्भरनाथजी हिन्दी साहित्य के एक उदीयमान उज्ज्वल नक्षत्र हैं। उनकी पद्यात्मक तथा आलोचनात्मक कई कृतियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं और हिन्दी साहित्य को उनसे बहुत आशाएँ हैं। मुझे पूर्ण विश्वास है कि उनकी यह रचना विद्यार्थियों तथा हिन्दी के विद्वानों के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी। आशा है इस ग्रन्थ का उचित स्वागत होगा।

आगरा कालेज, आगरा
७-३-५५

—जगन्नाथ तिवारी
अध्यक्ष—हिन्दी संस्कृत विभाग

भूमिका

हिन्दी साहित्य का दीर्घकालीन इतिहास भाषा, काव्यरूप, काव्यरस और भावों की दृष्टि से अत्यन्त गम्भीर है। इन चारों क्षेत्रों में संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषा और साहित्य का पुष्कल उत्तराधिकार हिन्दी को प्राप्त हुआ है। भाषा के क्षेत्र में, काव्यरूपों के क्षेत्र में, रस के क्षेत्र में और भावों या दार्शनिक विचारों के क्षेत्र में ज्यों-ज्यों हिन्दी साहित्य का उत्तरोत्तर अध्ययन किया जायेगा त्यों-त्यों विद्वज्जन उसके गम्भीरतर स्तरों में बैठकर उसकी प्राचीन परम्पराओं का उद्‌घाटन करने में समर्थ होंगे। जिस प्रकार पृथिवी के गर्भ में छिपी हुई सुवर्णादि धातुओं को खोजने वाला व्यक्ति भीतर पहुँचकर चारों ओर छिटकती हुई धातु गर्भित सींवनों को उधेड़ता है और उस संस्थान से परिचित हो जाता है जिससे उस खान का रूप निर्मित हुआ है, उसी प्रकार की कुछ स्थिति साहित्य में गर्भित विचारों के इतिहास की भी है। अभी तो हम विशाल हिन्दी साहित्य के देहली द्वार में ही प्रविष्ट हुए हैं। उसके वाह्य तोरण पर जो आशा से भरा हुआ स्वागत सन्देश है उसने हमें अपनी ओर आकृष्ट किया है। अभी तो ऊपर कहे हुए चतुर्विध अध्ययन का हम श्री गणेश ही कर पाये हैं। भाषा के क्षेत्र में हिन्दी की अति विस्तृत शब्दावली हमारी ऐतिहासिक छानबीन की बाट जोह रही है। कौन शब्द किस युग में और किस शती में पहली वार हिन्दी भाषा में आया, कहाँ से उसका उद्‌गम हुआ, किस प्रकार के ध्वनि परिवर्त्तन से वह वर्तमान साँचे में ढला और युगानुक्रम से किस प्रकार उसके अर्थों का विकास हुआ, इस प्रकार की ऊहापोह प्रत्येक शब्द के लिये अपनी भाषा में करनी होगी। उदाहरण के लिये, एक नेत्र शब्द किस प्रकार वैदिक काल से

चलकर संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश की पैड़ियाँ पार करता हुआ हम तक आ पहुँचा है, किस प्रकार नेत्र और नेत के रूप में आँख, रस्सी, रेशमी वस्त्र और धुआँ निकलने का छिद्र—इन भिन्न अर्थों में उसका विकास हुआ है, इन प्रश्नों का उत्तर हमें साहित्य से ही देना होगा और ऐसा करते हुए हिन्दी के शब्दों की प्राचीन परम्परा को अपभ्रंश, प्राकृत, संस्कृत और वैदिक भाषा तक ढूढ़ना होगा। साथ ही हिन्दी भाषा के व्याकरण का जो ठाठ है उसकी छानबीन के लिए उस गङ्गोत्री तक जाना होगा जहाँ से हिन्दी की धाराओं का उद्गम हुआ है। इसी प्रकार हिन्दी के प्रबन्ध काव्य, खण्ड काव्य, मुक्तक, सतसई, बावनी, सबदी, साखी, रमैनी, चूनड़ी, फाग, रास आदि अनेक काव्यरूपों की परम्परा के इतिहास को टटोलना होगा। इस प्रकार के सैकड़ों काव्यरूप मध्यकालीन हिन्दी में विद्यमान हैं। अकेले रास ग्रन्थों की संख्या कई सौ है। इसीसे सम्बन्धित प्रश्न हिन्दी के छन्दः शास्त्र के विकास का है। हिन्दी के शब्दों का, उसके काव्यरूपों और छन्दों का एवं अन्तर्गर्भित रसों के इतिहास का कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, रोचक, विस्तृत और आवश्यक है।

किन्तु 'वर्णानामर्थसंघानां रसानां छन्दसामपि' के चतुः सूत्री कार्यक्रम* में सबसे महत्त्पूर्ण विभाग वह है जो भावों या अर्थों से सम्बन्ध रखता है। 'अर्थसंधानाम्' कहकर महाकवि ने उसी की ओर संकेत किया है। शब्द स्थूल और बाह्य है, अर्थ सूक्ष्म और आन्तरिक है। अर्थ अमृत और अनन्त है। वह विचारों के रूप में प्रकट होता है। अर्थ की शक्ति से ही शब्द को शक्ति प्राप्त होती है। शब्द तो अर्थों के प्रतीक मात्र हैं। अर्थसङ्घ या अर्थों के समूह प्रत्येक साहित्य की सच्ची सम्पत्ति हैं। जीवन का प्रत्येक क्षेत्र अर्थों या विचारों से ही सञ्चालित होता है। अर्थों का साक्षात्कार ही दर्शन है। जिस युग में जिस विचार का प्रादुर्भाव होता है वही उस युग का दर्शन है। विचारों का साक्षात्कार करनेवाले मनीषियों को प्राचीन काल में 'साक्षात् कृतधर्मा' ऋषि कहते थे। उन्हें ही मध्ययुग में सन्त कहने लगे। साक्षात्कार के बिना

---

* वर्णानाम् भाषा और व्याकरण। अर्थसंघानाम् दार्शनिक विचार या भाव। रसानाम् काव्य के रस, गुण, अलंकार आदि। छन्दसाम्—काव्य के विविध रूप और छन्द।

कोई ऋषि या सन्त नहीं हो सकता। जिसने शब्द के पीछे भरे हुए अर्थ को स्वयं देखा है उसे ही सन्त कहते हैं। अर्थ सुन लेने मात्र से कोई सन्त नहीं हो सकता, पण्डित भले ही हो जाय। हिन्दी के मध्ययुगीन साहित्य को जो शक्ति है वह इसी कारण कि उसके निर्माता सन्त थे। उन्होंने अपने हृदय में उन अर्थों का साक्षात्कार किया था। उन-उन विचारों से वे स्वयं जूझे थे। वही उनकी साधना थी। उन विचारों के पीछे उनके जीवन का सत्य था। उनकी आत्माहुति से ही उन विचारों की व्याख्या समाज के लिये बोधगम्य बन सकी थी। इस प्रकार हिन्दी साहित्य के पिछले एक सहस्र वर्षों के इतिहास का जब हम ध्यान करते हैं तो उस साहित्य की अर्थसिद्धि के प्रति मन श्रद्धा भर जाता है। विचारों का यह कैसा अद्भुत कैलास हमारे समक्ष उपस्थित है? अनेक महात्माओं के, ध्यानी योगियों के, भक्त सन्तों के, नीतिमान् गृहस्थों के, जो व्यापक अनुभव और राशीभूत विचार हैं वे ही तो हिन्दी साहित्य के रूप में एवं और भी प्रादेशिक साहित्यों के रूप में आज मूर्तिमन्त हैं। साहित्य के अधिदेवता के तृतीय नेत्र की शक्ति से युग-युग में इन अर्थों का दर्शन हुआ है। ज्ञान, कर्म, उपासना, योग, भक्ति वेदान्त के अनर्घ्य तत्त्वों से सम्बन्धित कितने ही दार्शनिक दृष्टिकोण हिन्दी साहित्य में उपलब्ध होते हैं।

वेदों के देववाद, उपनिषदों के आत्मवाद, दर्शनों के प्रमाणवाद, पुराणों के बहुदेवतात्मैक्यवाद, भागवतों के समन्वयात्मक विभूतिवाद, शैवों के साधनात्मक योगवाद, तान्त्रिकों के पिण्डब्रह्माण्डैक्यवाद, वेदान्तियों के ब्रह्मात्मैक्यवाद एवं भक्तों के प्रपत्तिवाद—ऐसे ही अनेकानेक दार्शनिक दृष्टिकोण इस देश में फूले-फले हैं। न केवल सिद्धान्त पक्ष में बल्कि व्यवहार क्षेत्र में भी इन मतों ने समाज के जीवन को आन्दोलित किया है। विचारों की प्रत्येक धारा अपने पीछे साहित्य के पद-चिह्न छोड़ती हुई चलती है। इन विचारों के उद्गम और विकास, उत्थान और ह्रास एवं उनके पारस्परिक आदान-प्रदान और प्रभावों का विश्लेषण साहित्य में उपनिबद्ध अर्थों की समग्र जानकारी के लिये आवश्यक है। साहित्य को उसके आचार्यों ने 'कान्ता संमित-तयोपदेशयुजे' कहा है। इसका अभिप्राय यही है कि साहित्य के क्षेत्र में दार्शनिक तत्त्वों को अभिव्यक्त करने की जो पद्धति है उसमें उन

प्रतीकों की सृष्टि की जाती है जो सरस होते हैं, जो इस प्रकार मन को आकर्षक प्रतीत होते हैं जैसे पुरुष को स्त्री के भाव। 'कामिहिं नार पियारि जिमि लोभहिं प्रिय जिमि दाम।' कवि की यह उक्ति जीवन के सत्य से निकली है। साहित्यिक वर्णनों के पीछे जो दार्शनिक अर्थ हैं वे स्थायी मूल्य रखते हैं, किन्तु सौन्दर्य शास्त्र की परिपाटी से उनकी अभिव्यक्ति यही सच्ची कला है। यही साहित्य का सौन्दर्य है।

पहिली ही बार हिन्दी साहित्य के लिये दार्शनिक पृष्ठभूमि का इस प्रकार का क्रमबद्ध विवेचन इन पृष्ठों में किया गया है। प्रत्येक युग में दर्शन और साहित्य रथ के दो पहियों की भाँति सहयुक्त रहते हैं। समाज का सच्चा दर्पण साहित्य है, जिसमें आगे आनेवाले लोग भी उसके तत्कालीन स्वरूप का दर्शन पा सकते हैं। पहले अध्याय में लेखक ने संक्षेप में किन्तु क्रमबद्ध विवेचन से यह बताया है कि साहित्य के पीछे तत्त्वज्ञान और धर्म साधना के कौन-कौन से प्रमुख सूत्र किस-किस युग में रहे हैं। लेखक ने स्पष्ट शैली में अपना अभिमत प्रकट किया है।

बौद्ध धर्म शीर्षक दूसरे अध्याय का भी हिन्दी साहित्य के लिये विशेष महत्त्व है क्योंकि एक तो वेदान्त की पूर्वपीठिका को ठीक प्रकार अवगत करने के लिये बौद्ध दर्शन के शून्यवाद और विज्ञानवाद को समझना अत्यन्त आवश्यक है दूसरे महासुख की खोज में सहजयान के रूप में बौद्ध धर्म और दर्शन का जो पर्यवसान हुआ, जिसे एक ओर हम वज्रयान के गुह्य समाज में व्याप्त देखते हैं और दूसरी ओर जिसके मन्थन से सिद्धों के दर्शन और साहित्य का जन्म हुआ उसका भी हिन्दी साहित्य पर गहरा प्रभाव पड़ा। गुह्य समाज में दीक्षित प्रत्येक साधक मुद्रा साधना करता था। 'मुद्रिता योषित्' वह स्त्री होती थी जो साधक की मनः समाधि को परखने की कसौटी थी। वह साधक के लिये अगम्या थी, पर उस अग्नि के समान थी जिसके सान्निध्य में आकर भी साधक अपने घृत रूपी मन को पिघलने न देता था। इसी 'मुद्रिता योषित्' की संज्ञा मुद्रा थी। मुद्रा के सान्निध्य में साधना का जो आसन बन्धी रूप निष्पन्न हुआ उसी से मध्यकालीन देव मन्दिरों में उत्कीर्ण युगनद्ध मूर्तियों के आसन अथवा

ग्रन्थों की व्याख्या होती है। वैष्णव परम्परा में जो भागवत, पञ्चरात्र या सात्वतों का प्राचीन धर्म और दर्शन है उसमें कहीं भी राधा और माधव के उद्दाम विलास की चर्चा नहीं है। भक्तकवि जयदेव में अकस्मात् वह कैसे प्रकट हो गई, इस जटिल प्रश्न का समाधान सहजयान के धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्तों में ही मिलता है। सहजयान की 'मुद्रा' जिसे प्रज्ञा भी कहते थे मानों ज्यों की त्यों राधा के रूप में साकार हो उठी। दोनों में इतना अन्तर अवश्य है कि जहाँ मुद्रा या प्रज्ञा व्यक्ति के विलास का क्षेत्र थी वहाँ राधा अध्यात्म धरातल पर नारायण रूपी माधव के विलास की सङ्गिनी बन जाती है। मुद्रा साधना की रहः केलियों में जो नग्नता थी जयदेव ने आंशिक रूप में उस मैल का प्रक्षालन किया। दोनों परम्पराओं का पारस्परिक सम्बन्ध तो स्पष्ट ही समझा जा सकता है। इस दशा में और भी अनुसंधान करने की आवश्यकता है।

'वेदान्त दर्शन' शीर्षक तीसरा अध्याय हिन्दी के मध्यकालीन भक्त साहित्य को समझने के लिये उपयोगी है। शङ्कर, रामानुज, मध्व, निम्बार्क और वल्लभ के दार्शनिक दृष्टिकोण भक्ति के साथ मिलकर लोक के लिए अति प्रभावपूर्ण और उपकारी हुए। उनके पीछे साहित्य की धाराएँ प्रवर्त्तित हुई। वस्तुतः वेदान्त संयुत भक्ति अथवा भक्ति संयुत वेदान्त का दृष्टिकोण ही मध्ययुगीन भारत का राष्ट्रगत धार्मिक दृष्टिकोण बन गया। भक्ति को जिस चैतन्य अमृत तत्त्व की आवश्यकता थी वह उसे वेदान्त से प्राप्त हुआ और वेदान्त को जिस एकनिष्ठ आराधना की आवश्यकता थी वह उसे भक्ति से मिल गया। ऊँच-नीच सबके लिए भक्ति धर्म का द्वार उन्मुक्त कर देना भागवतों की प्राचीन परम्परा थी। दो सहस्र वर्ष पूर्व मथुरा से जिस भागवत दृष्टिकोण का प्रचार हुआ था उसमें यवन, शक, पह्लव सबके लिये स्वागत का भाव था। भागवत धर्म का सबसे महत्त्वपूर्ण वरदान वह समन्वयात्मक दृष्टिकोण था जिसके कारण भागवत धर्म के क्षेत्र में न केवल विभिन्न जातियों का सङ्गम हुआ किन्तु यक्ष, नाग, मातृका आदि की प्राचीन पूजा पद्धतियाँ भी महाविष्णु की पूजा के साथ समन्वित हुईं। जितने देवता हैं वे सब एक ही चैतन्य तत्त्व की पृथक्-पृथक् विभूतियाँ हैं. यही भागवतों का विभूतियोग था जिसके प्रादुर्भाव का फल समाज-

के लिए बहुत हितकारी हुआ। पेड़ों में पीपल, जलचरों में मगरमच्छ, नदियों में गङ्गा, पर्वतों में मेरु—ये सब एक ही महती शक्ति की आत्म विभूतियाँ हैं। गीता के दशम् अध्याय का यही लक्ष्य अर्थ है। इस दृष्टिकोण से इस देश का समस्त साहित्य प्रभावित हुआ और अन्ततोगत्वा यही समन्वय प्रधान दृष्टिकोण यहाँ का राष्ट्रीय दृष्टिकोण बन गया।

'भक्ति का विकास' नामक अध्याय में भागवत धर्म के इतिहास से सम्बन्धित कुछ तथ्यों का परिगणन किया गया है। न केवल मथुरा बल्कि अन्यत्र भी भक्ति धर्म के जो अंकुर प्रस्फुटित हुए, विशेषतः दक्षिण भारत में शैव और वैष्णव सन्तों द्वारा भक्ति का जो विकास हुआ, उस ओर भी लेखक ने ध्यान दिया है। शङ्कर के अनन्तर रामानुज के विशिष्टाद्वैत ने भारतीय साहित्य पर सबसे अधिक प्रभाव डाला। साथ ही बल्लभ के शुद्धाद्वैत तथा चैतन्य के अचिन्त्य-भेदाभेद ने भी प्रादेशिक भाषाओं को प्रभावित किया। लेखक ने इन सब दृष्टिकोणों का सुन्दर विवेचन किया है। उधर महाराष्ट्र में एक प्रकार का भक्ति संयुत दृष्टिकोण प्रचलित हो रहा था जिसमें एक ओर निर्गुण प्रभाव भी अवशिष्ट था और दूसरी ओर साहित्यिक सन्त वैष्णव मत के अनुसार अपनी परिभाषाओं को सँजो रहे थे। ज्ञानदेव, नामदेव, एकनाथ आदि सन्तों की कृतियाँ इसी दृष्टिकोण की सूचक हैं। लेखक ने ठीक ही कहा है कि इस मत की विचारधारा इस बात का प्रतीक है कि किस प्रकार भारतीय धर्मसाधना में बौद्धों के मध्ययुगीन मतवाद को वैष्णवों ने अपने अनुकूल बनाकर एक में मिला लिया।'

बल्लभाचार्य की दार्शनिक वाणी का श्रेष्ठ साहित्यिक परिपाक सूर की साधना में हुआ। सूर ने नाथपन्थ, वेदान्त, शांकर वेदान्त, वैष्णव सहजयान के प्रभावों को समेटते हुए एवं कबीर आदि निर्गुणी सन्तों के दृष्टिकोण को भी समझते हुए वल्लभाचार्य के प्रभाव से उन सबको एक नये ही रसपूर्ण तत्त्वों में ढाल दिया। वल्लभ की दृष्टि में निर्गुण का कथन जिसमें आनन्द तत्त्व की अनुभूति का अभाव हो, अनुभव विहीन साधक के घिघियाने के समान है। सूर ने पुरुषोत्तम कृष्ण के रूप में सच्चिदानन्द ज्योति की कल्पना की। जहाँ-जहाँ यह ज्योति रमती है वहीं रस या आनन्द बसता है।

जीवन की सरसता चैतन्य के साथ है। चैतन्य विहीन जड़ वस्तु नीरस है। कृष्ण का सान्निध्य अमृत रस की साक्षात् अनुभूति है। उनका वियोग भी सरस है। सूर को इसी के रसपूर्ण चित्रण में सर्वाधिक सफलता मिली है। सूर का भ्रमरगीत विश्व काव्य की अनुपम कृति है। उसका मर्म यही है कि यद्यपि कृष्ण का स्थूल शरीर गोपियों की दृष्टि से ओझल हो गया तथापि चैतन्य तत्त्व अपने संपूर्ण आनन्द की अभिव्यक्ति लेकर उनके हृदय में भर गया। उस रस से उन्हें किसी प्रकार वञ्चित नहीं किया जा सकता। कृष्ण के सर्वात्मना स्मरण से गोपियों का हृदय और भी गहराई से उस रस में डूब गया। विरह की जो व्याकुलता सूर में है वह जयदेव और विद्यापति में कहाँ है? सूर का व्रज एक पवित्र धाम है जिसके प्रभाव की दिव्य रश्मियाँ प्रत्येक वाचक के मन का पवित्र संस्कार करती हैं।

भक्ति द्वारा तुलसी ने अनेक दार्शनिक मतों के समन्वय का जो दृष्टिकोण अपनाया उसका प्रभावपूर्ण सौन्दर्य विलक्षण था। वह व्यक्ति विशेष के लिए आकर्षण की वस्तु न रहकर समाज के लिए परम कल्याणकारी तत्त्व बन गया। वेदमत, पुराणमत, आगममत, स्मार्त्त मत इन सबकी दार्शनिक और धार्मिक परम्पराओं को तुलसी ने स्वीकार किया, किन्तु सबको भक्ति के सुधा-जल से सींच कर ग्राह्य बनाया। तुलसी के दार्शनिक दृष्टिकोण के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि वे अद्वैतवादी थे या विशिष्टाद्वैतवादी। लेखक का यह कथन समीचीन है कि गोस्वामीजी को शङ्कर और रामानुज के दार्शनिक मतभेदों में रुचि न थी। उनकी निजी विशेषता यह थी कि उन्होंने मायावाद का भक्ति के साथ समन्वय किया। माया रामरूप ब्रह्म की शक्ति है। सगुण और निर्गुण दोनों ही रूप सत्य हैं। तुलसी किसी आचार्य का सर्वांश में अनुगमन नहीं करते। उन्होंने सगुण और निर्गुण के समन्वय को एवं ज्ञान और भक्ति के समन्वय को अपनी अद्भुत मौलिकता से प्रतिपादित किया है। तुलसी का दर्शन एकांगी नहीं। वह शङ्कर और रामानुज के श्रेष्ठ तत्त्वों को मान्य करके उन्हें अपने भक्ति प्रधान मौलिक दृष्टिकोण से प्रस्तुत करता है। वस्तुतः रामायण दर्शन के पृथक् विस्तृत विवेचन की अभी भी आवश्यकता बनी है जिसमें मध्यकालीन समस्त भारतीय दर्शनों के साथ उसकी

तुलना अपेक्षित है।

हिन्दी साहित्य पर बौद्धों के सहजयान सम्प्रदाय का अति-व्यापक प्रभाव पड़ा था इसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। बौद्ध तान्त्रिक मत नामक अध्याय में लेखक ने स्पष्ट शैली में इस मत का विवेचन किया है। प्रवृत्ति, अद्वय, युगनद्ध, समरस, महासुख, मुद्रा, शून्य आदि पारिभाषिक शब्दावली की स्पष्ट व्याख्या की गई है। खेद है कि सिद्ध साहित्य के दोहे और चर्यापद अभी तक सुसंपादित होकर हिन्दी जगत् के सामने नहीं आ सके हैं। यह साहित्य, विशेषतः सरहपा के दोहे जो राहुलजी को तिब्बत से ताड़पत्र की प्रतियों में मिले हैं, दशवीं शती से प्राचीन हैं। इस साहित्य की भाषा अपभ्रंश है। उसे जिस प्रकार प्राचीन बङ्गला माना गया है, वैसे ही प्राचीन हिन्दी का रूप भी कहा जा सकता है, क्योंकि इन दोनों भाषाओं के प्राचीन रूप का उद्गम अपभ्रंश से ही हुआ। बौद्ध सहजयान ने परवर्त्ती साहित्य को दूर तक प्रभावित किया। वह प्रभाव जयदेव, विद्यापति, चण्डीदास आदि की वैष्णव काव्यधारा में सुरक्षित है। उसमें जो विलास का ऐसा उद्दाम वर्णन मिलता है उसकी व्याख्या इसी 'पृष्ठभूमि' में सम्भव है। वैष्णव कवियों ने साधक की मुद्रासाधना को राधा और कृष्ण की अलौकिक लीला के रूप से परिष्कृत किया। पुरुष और स्त्री की युगनद्ध मुद्रा का ही आध्यात्मिक नामान्तर कृष्ण और राधा की रास-केलि है। लेखक का यह कथन सत्य है कि भागवत पुराण में गोपी विशेष से कृष्ण के प्रेम के मूल में राधा की खोज व्यर्थ है। वस्तुतः राधा का विकास सहजयान की परम्परा से हुआ। केवल नाम भेद था। शाक्तों के कौल सम्प्रदाय का भी मध्य-कालीन समाज में कम प्रचार न था। यद्यपि कौलों ने दार्शनिक मत-वाद को भी सामने रखा किन्तु उनकी वीभत्स कामाचार प्रधान साधना पद्धति से जनता परित्रस्त हो गई। समाज में उनकी घोर प्रतिक्रिया हुई। जनता को जिसे आचार प्रधान नैतिक धर्म की आवश्यकता थी उसका सूत्रपात तो नाथ सम्प्रदाय के गोरख आदि योगियों ने कर दिया था। वे ब्रह्मचर्य और आत्मसंयम को सबसे अधिक महत्त्व देते थे। पर नीति प्रधान आचार का लोक ग्राह्य आदर्श वैष्णव कवियों ने ही अपने अवतारों की लीलाओं में प्रस्तुत किया। राजशेखर ने

जिस नग्न कौल धर्म का संकेत किया है* वह लोक के लिये अति भयंकर पन्थ था। नवीं शती से बारहवीं शती तक बौद्ध, शाक्त और शैवों के इस निम्न धार्मिक स्तर से समाज का उत्थान किस प्रकार हुआ और इस बड़े अजगर से उसका पिण्ड कैसे छूटा इसकी कहानी अभी पूरी तरह समझी या कही नहीं जा सकी है।

शैवों के विभिन्न सम्प्रदाय, काश्मीर शैव दर्शन एवं नाथ पंथ आदि के जो अनेक सम्प्रदाय और मतवाद थे, जिनके घने जङ्गल में भूली हुई जनता को सच्चा मार्गदर्शन मिलना कठिन हो रहा था, उनके दोषों को पचाकर गुणों को प्रकट करने के लिए जिस तेजस्वी व्यक्तित्व की आवश्यकता थी, देश के सौभाग्य से वह कबीर के रूप में प्रकट हुआ। उत्तर भारत की जनता के लोक मानस को स्वच्छ करने में कबीर ने जो साका किया उसका सच्चा मूल्याङ्कन कठिन है। जायसी, सूर, तुलसी इन सबने उस अमृत जल का पान किया जिसे कबीर अपनी शब्द निर्मली से बहुत कुछ स्वच्छ और पेय बना चुके थे। सब प्रकार का निर्मलीकरण कबीर की महती साधना थी। मूँड़ मुड़ाकर कपड़ा रँगाने वाले एवं धूनी जलाकर काम भस्म करने वाले जोगियों की जैसी मिट्टी कबीर ने कूटी है वैसी और किसी से सम्भव न हुई। क्या गृहस्थ, क्या संन्यासी, जिसके जीवन में जो पाखण्ड था उसी के विरुद्ध कबीर ने खड्ग हस्त प्रहार किया। कबीर के साहित्य में सब प्रकार के पाखण्ड की होली जलाई गई है। तो भी कबीर केवल होली जलाकर उसकी राख मलने वाले ही न थे। उन्होंने योग, सहज साधना, निर्गुण साधना, प्रेम साधना और भक्ति इन सबके सात्त्विक अंशों को स्वीकार करके जीवन के निर्माण पक्ष पर भी बहुत बल दिया है। कबीर ने जिस संयम प्रधान मार्ग का सृजन किया था, सूर और तुलसी ने अपने इष्ट देवता के देव मन्दिरों की सिद्ध यात्रा के लिए उसी से आगे प्रस्थान किया।

---

* भैरवानन्द की उक्ति :—

रंडा चंडा दिक्खिदा धम्मदारा मज्जं मंसं पिज्जए खज्जए अ।
भिक्खा भोज्जं चम्मखंडं च सेज्जा कोलो धम्मो कस्स नो होइ रम्मो।

—कर्पूर मंजरी

इसी युग में भारतीय विचारधारा के साथ आत्मानुभव पर आश्रित सूफी विचारधारा का भी सम्मिलन हो रहा था। उसने हिन्दी के प्राचीन साहित्य में एक विशेष धारा को जन्म दिया। सूफी विचार-धारा किस प्रकार भारतीय रँग में रंग गई इसका पूर्ण परिचय जायसी से प्राप्त होता है। अपने से पूर्वगत योग, कुण्डली साधन, षट्चक्र, निर्गुण भक्ति आदि समस्त तत्त्वों को लेकर उन्हें प्रेम साधना के अन्तर्गत सजाकर जायसी ने एक नये ही दर्शन को जन्म दिया जिसे उन्होंने प्रेमपंथ कहा है। उनकी पद्मावत प्रेम कथा है। इस पद्धति में स्त्री और पुरुष के प्राचीन प्रतीकों को अपनाते हुए उनमें नया अध्यात्म अर्थ लाने का प्रयत्न किया गया है। आत्मानुभव में ही उसकी सफलता दिखाई गई है। यह प्रेम संयम से उत्कट बनता है, विलास से नहीं। जायसी का प्रेम विश्व की चैतन्य अमृत ज्योति के लिए जीव की ऐसी आकुलता है जो तत्त्व की प्राप्ति के बिना किसी प्रकार शान्त नहीं होती। इस पुस्तक में जायसी के प्रतिबिम्बवाद का विवेचन बहुत ही सुन्दर हुआ है। यह स्मरण रखना चाहिए कि पद्मावत के रूपक की कुञ्जी 'तन चित उर मन राजा कीन्हा' इत्यादि छन्द पद्मावत की किसी भी प्राचीन प्रति में नहीं है। वह जायसी कृत नहीं है। पद्मावत की कई हस्तलिखित प्रतियाँ देखी हैं जो सूफी सम्प्रदाय के अनुयायियों ने अपने पढ़ने के लिये लिखी थीं। वैसे ही किसी श्रद्धालु कवि ने यह दोहा बनाकर पद्मावत के अन्त में किसी समय जोड़ दिया।

श्री विश्वम्भरनाथ उपाध्याय का यह अध्ययन स्वागत के योग्य है। लेखक ने कठिन विषय लेकर उपलब्ध प्रमाण सामग्री का सपरिश्रम अध्ययन और विश्लेषण किया है एवं स्पष्ट सरल शैली में तथ्यों का निरूपण करते हुए अपने निष्कर्षों को रखा है।

काशी विश्वविद्यालय
६-३-५५

—वासुदेवशरण

प्राक्कथन

'हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि' पुस्तक पढ़ गया हूँ। इसमें प्राचीन काल के वैदिक धर्म से लेकर मध्ययुगीन वैष्णव, शैव, शाक्त तथा सिद्ध, नाथ और सूफी सम्प्रदाय तक का विवरण दिया गया है। आरम्भ के तीन अध्याय हिन्दी साहित्य के उद्गम और विकास के पूर्व की स्थिति का परिचय कराते हैं अतएव वे प्रत्यक्ष रूप से हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि की सीमा में नहीं आते, परन्तु भारतीय धर्म और दर्शन की मध्ययुगीन धारा के मूलस्रोत अतिशय प्राचीन हैं, उनका उल्लेख किये बिना किसी भी भारतीय धार्मिक या दार्शनिक सम्प्रदाय का विवरण अधूरा ही रहेगा। इस पुस्तक में लेखक की दूसरी विशेषता यह है कि वह विभिन्न सम्प्रदायों की दार्शनिक उपपत्तियों का परिचय कराता हुआ उन सामाजिक स्थितियों का भी निरूपण करता है जिनमें वे परिवर्तन हुये थे। विभिन्न सम्प्रदायों का एक-दूसरे पर किस प्रकार प्रभाव पड़ा, कितनी बातों में समानता है और कितना अन्तर है, इन प्रश्नों का उत्तर भी पुस्तक में दिया गया है। हिन्दी के कतिपय प्रमुख कवियों—सूर, तुलसी, कबीर और जायसी के दार्शनिक विश्वासों और विचारों पर स्वतन्त्र लेख भी दिये गये हैं। पुस्तक के विवेचन का क्रम सैद्धान्तिक न होकर व्यावहारिक और सर्वसामान्य है। इससे पण्डितों और विशेषज्ञों का काम भले ही न चले, हिन्दी के सामान्य पाठकों के लिए पुस्तक की उपयोगिता विशेष रूप से बढ़ गई है। दर्शन को स्वतन्त्र विषय मानकर उसके विकास-क्रम की विवेचना करने में लेखक को उतनी दिलचस्पी नहीं है जितनी भारतीय समाज और संस्कृति की विकास-धारा में विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों का योग और महत्त्व प्रदर्शित करने में है।

यह पुस्तक की नवीनता और विशेषता है पर यहीं उसकी सीमा रेखा और उसका निर्दिष्ट प्रयोजन भी है। इस सीमा और प्रयोजन के भीतर पुस्तक की उपादेयता असंदिग्ध है और इसके लिए लेखक का परिश्रम सार्थक और अभिनन्दनीय है। विश्वविद्यालयों में साहित्यिक इतिहास के साथ सम-सामयिक सांस्कृतिक और सामाजिक विकास का ज्ञान अपेक्षित है, कुछ स्थानों पर तो इसका नियमित रूप से अध्ययन भी होता है और यह पाठ्यक्रम का एक अङ्ग ही है। प्रस्तुत पुस्तक सांस्कृतिक विकास के दार्शनिक पक्ष को स्पष्ट करने में पूरी तरह सहायक होगी। मेरा विश्वास है कि विश्वविद्यालयों में तथा अन्यत्र भी साहित्य के उच्च श्रेणी के विद्यार्थियों द्वारा पुस्तक का अधिकाधिक उपयोग होगा। मैं विवेक और परिश्रम पूर्वक प्रणीत इस पुस्तक के लिये लेखक को हार्दिक साधुवाद देता हूँ।

सागर विश्वविद्यालय] —नन्ददुलारे वाजपेयी

दो शब्द

प्रस्तुत पुस्तक 'हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि' मध्यकालीन हिन्दी काव्य में प्राप्त दार्शनिक धारणाओं का विवेचन प्रस्तुत करती है। हिन्दी साहित्य एक सहस्राब्दी से भी अधिक प्राचीन है, इतनी दीर्घ अवधि में धार्मिक एवं दार्शनिक विकास के अनेक सोपान मिलते हैं, फिर हिन्दी के प्रारम्भिक युग तक शतशः दार्शनिक धारणायें विकास के अनेक स्तरों को पार करती हुई, सर्वथा नवीन रूपों में, हिन्दी साहित्य में प्रतिबिम्बित होने के लिए प्रस्तुत हो चुकी थीं। अतः सिद्ध-साहित्य से भी पूर्व, वेदों से लेकर बौद्ध-दर्शन तक विकास की एक संक्षिप्त रूप-रेखा प्रस्तुत करने की आवश्यकता थी, इस पुस्तक में मैंने यही प्रयत्न किया है।

किन्तु साथ ही वैदिक युग में तथा उसके पश्चात् जो दार्शनिक धारणायें और विश्वास हमें मिलते हैं उनका स्रोत आर्येतर चिन्तन के गर्भ में खोजा जा सकता है, परन्तु यदि मैं ऐसा प्रयत्न इसी पुस्तक में करता तो पुस्तक का कलेवर बहुत बढ़ जाता, अतः उस पर फिर कभी विचार करूँगा।

मैंने उन्हीं दार्शनिक सम्प्रदायों पर विस्तार से विचार किया है जिन्होंने हमारे मध्यकालीन काव्य को अधिक प्रभावित किया है, परन्तु 'प्रामाण्यवाद' पर विचार नहीं किया गया, वह अनावश्यक भी था। मेरा उद्देश्य तो निश्चित दार्शनिक धारणाओं का विश्लेषण कर, काव्य में उनके प्रतिबिम्बित एवम् अभिव्यक्त रूपों की पहचान करना रहा है। 'तुलसी', 'कबीर', 'सूर' तथा 'जायसी' के दार्शनिक विचार-विकास पर किञ्चित् विस्तार से विचार किया गया है।

यह पुस्तक केवल मध्यकालीन काव्य की दार्शनिक समस्याओं पर प्रकाश डालती है, इसमें सिद्ध, नाथ, सन्त, वैष्णव तथा सूफी काव्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है, आधुनिक काव्य के व्यक्तित्व-निर्माण में 'दर्शन' का भी महत्वपूर्ण हाथ रहा है, उसे स्पष्ट करने के लिए एक अलग पुस्तक की आवश्यकता होगी अतः इस पुस्तक को 'हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठ भूमि' का 'प्रथम भाग' समझना चाहिये।

साहित्य की तरह 'दर्शन' भी सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित होता है, मैंने दार्शनिक आन्दोलनों को द्वन्द्वात्मक दृष्टि से ही देखा है।

—विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

———

विषय-सूची

कतिपय सहायक ग्रन्थ

संस्कृत

१—ऋग्वेद संहिता
२—उपनिषद्—कठोपनिषद्
केनोपनिषद्
मुण्डकोपनिषद्
प्रश्नोपनिषद्
छान्दोग्य
बृहदारण्यक
श्वेताश्वेतर
माण्डूक्य
३—गीता—
४—भागवत—
५—श्रीभाष्य—
६—अणुभाष्य—
७—अध्यात्म रामायण—
८—पातञ्जल योग-सूत्र—
९—शतपथ ब्राह्मण—
१०—अर्थशास्त्र—कौटिल्य
११—मनुस्मृति—
१२—वेदान्तसार—सदानन्द
१३—सांख्यकारिका—ईश्वरकृष्ण
१४—तर्कभाषा—
१५—माध्यमिक कारिका—(कतिपय प्राप्त अंश)

हिन्दी

१—जातक—
२—शिशुपाल वध—माघ
३—गाथा सप्तशती—हाल
४—मध्यकालीन धर्म-साधना—पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी
५—कबीर— ,, ,,
६—बुद्धचर्या—राहुल
७—भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास—डा० देवराज
८—भारतीय दर्शन—सतीशचन्द्र चट्टोपाध्याय
९—तर्क रहस्य दीपिका—आचार्य विश्वेश्वर
१०—योरोपीय दर्शन—म० पं० रामावतार शर्मा
११—हिन्दुत्व—श्रीरामदास गौड़
१२—वैष्णवधर्म—पं० परशुराम चतुर्वेदी
१३—हिन्दी काव्य-धारा—राहुल
१४—नाथ सम्प्रदाय—पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी
१५—गोरखनाथ और उनका युग—डा० रांगेय राघव
१६—लोई का ताना— ,, ,,
१७—कबीर की विचारधारा—डा० त्रिगुणायत
१८—सूफी काव्य संग्रह—पं० परशुराम चतुर्वेदी
१९—तसव्वुफ और सूफीमत—चन्द्रवली पाण्डेय
२०—'जायसी'—श्री जयदेव कुलश्रेष्ठ
२१—जायसी ग्रन्थावली—पं० रामचन्द्र शुक्ल
२२—अष्टछाप और बल्लभ सम्प्रदाय—डा० दीनदयाल गुप्त
२३—भारतीय दर्शन—बलदेव उपाध्याय
२४—बौद्ध दर्शन— ,, ,,
२५—दर्शन-दिग्दर्शन—राहुल

अंग्रेजी

1. Vedic index of names and subjects, Vol. 1—Macdonell and Keith
2. Cambridge History, Vol. 1

3. Sanskrit Drama—Keith
4. Outline of Indian Philosophy—M. Hiriyanna
5. Vedant Sutra—George Thibaut
6. A History of Indian Philosophy—Das Gupta
7 Yogacara Idealism-Dr. Ashok Kumar M.A., Ph.D.
8. India's Past—Macdonell
9. Vaishnavism and Shaivism and other minor cults—Bhandarkar
10. Religious Sects in India among Hindus—Pai
11. The obscure religious cults—S. D. Gupta
12. Yuganaddha—Herbert. V. Gaenther
13. A History of Indian Literature—Winternitze
14. Encyclopaedia of Britanica—
15. History of Philosophy, Eastern and Western—
16. The Mystics of Islam—
17. Hindu Civilization—R. K. Mukerji
18. Some Aspects of Vayu Puran—Prof. Dikshtar

हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि

साहित्य और दर्शन

दार्शनिक प्रवृत्ति के नीचे सत्य की खोज अन्तर्निहित है। परन्तु यह सत्य की खोज दार्शनिक के अनजाने ही, एक ऐतिहासिक क्रम में रहा करती है। दार्शनिक आगे के युग की कल्पना नहीं कर पाता यदि करता भी है तो अपने वर्तमान के आधार पर। उसके सम्मुख वर्तमान रहता है, अतीत के मधुर और कटु अनुभव रहते हैं, इन्हीं के आधार पर वह सोचता है बड़े-बड़े प्रश्नों पर, जगत क्या है, जीव क्या है, इस प्रपञ्च का निर्मायक कौन है, मृत्यु के पश्चात् शरीर कहाँ चला जाता है, आदि-आदि प्रश्न उसके मस्तिष्क का मन्थन करते हैं, मनुष्य के सम्मुख सृष्टि के अद्भुत प्रसार ने, जीवन के जटिल विधान तथा इसकी नश्वरता ने ऐसे ही अनेक प्रश्न उत्पन्न किये हैं, इन प्रश्नों के उत्तर मनुष्य ने कभी 'भावना' के आधार पर और कभी कोरी बुद्धि के आधार पर दिये हैं जिनके नीचे अन्ध विश्वास, भय की भावना, उससे अधिक सोचने की असमर्थता, वैज्ञानिक चिन्तन का अभाव आदि तत्व रहे हैं। जिन परिस्थितियों से 'दार्शनिक' गुजरता रहा है

उन परिस्थितियों ने और मुख्यतः आर्थिक परिस्थितियों ने उसकी विचारधारा को शासित किया है, किन्तु 'दर्शन' और 'कविता' आदि में सीधे आर्थिक सङ्घर्ष व्यञ्जित नहीं होते, स्थूल आर्थिक सङ्घर्ष तथा सामाजिक समस्याएँ, वक्र रूप में व्यञ्जित हो पाती हैं अतः उनका समझना दुःसाध्य हो जाता है।

भारत का दार्शनिक इतिहास भी ऐसा ही रहा है, परन्तु उस इतिहास के साथ हमें समझना कुछ और है, हमारा विषय है 'साहित्य और दर्शन'। 'दर्शन' तो जगत को बुद्धि द्वारा समझने का प्रयत्न है और 'साहित्य' भावना द्वारा। 'दर्शन' समस्याओं का हल खोजता है, 'साहित्य' मानवीय हृदय पर पड़े हुये प्रभावों को व्यञ्जित करता है, और समस्याओं के हल करने का भी प्रयत्न करता है, परन्तु एक भिन्न पद्धति से। 'दर्शन' जो चिन्तन करके निश्चित कर देता है उस 'निश्चय' को साहित्यकार जनता के हृदय में उतारने का प्रयत्न करता है, 'दर्शन' तर्क-वितर्क का आश्रय लेता है, साहित्य उसे भावना का विषय बनाता है अतः उसमें 'आनन्द का सञ्चार' हो जाता है क्यों कि आनन्द तो भावना में है, बुद्धि का आनन्द भी एक विशेष आनन्द होता-है परन्तु वह साधारणीकृत नहीं हो पाता। हम एक कविता पढ़ कर जितने लोगों को मन्त्र-मुग्ध कर सकते हैं, जीव व ब्रह्म पर व्याख्यान देकर नहीं कर सकते। अतः यह मान लिया जाता है कि साहित्य का उद्देश्य तो 'आनन्द' देना ही है, कुछ समझाना नहीं, कुछ बतलाना नहीं, कुछ रहस्योद्घाटन नहीं, समस्याओं का कुछ हल निकालना नही। संक्षेप में उसका सम्बन्ध क्रियात्मक जीवन से नहीं भावनात्मक जीवन से है। और भावना का संबंध जगत से सर्वथा स्वतन्त्र और निरपेक्ष होता है अतः साहित्य जीवन-निरपेक्ष वस्तु है। परन्तु जैसा हमने देखा कि साहित्य की पद्धति 'आनन्दमय' अवश्य है क्योंकि वह मनुष्य के भाव (emotion) को स्पर्श करता है, परन्तु वह लक्ष्यहीन नहीं हो सकता, संसार की कोई क्रिया लक्ष्य-हीन नहीं हो सकती, उस लक्ष्य को पूर्णकर वह वस्तु अन्य वस्तु में परिवर्तित हो जाती है और फिर एक नये लक्ष्य की पूर्ति होने लगती है।

तो इस 'लक्ष्य' को निर्धारित करने में 'दर्शन' बहुत सहायता करता है, कवि, दार्शनिक को अपना पथ प्रदर्शक अनजाने में ही मानता

आया है, आज तक का इतिहास कम से कम यही है। जो कवि स्वयं दार्शनिक रहे हैं वे अपनी दार्शनिक धारणाओं के लिये उनके प्रवर्तक या प्रचारक किसी बड़े दार्शनिक पर निर्भर रहे हैं यथा श्री हर्ष, शंकराचार्य पर। अतः कविता और दर्शन का अटूट सम्बन्ध चला आ रहा है।

'दर्शन' में धारणाओं को निश्चित करने की शक्ति है। वह जीव, जगत, ब्रह्म, जीवन और मृत्यु आदि पर अपना विचार व्यक्त कर विरत हो जाता है। साहित्यिक उन धारणाओं को पाठकों के जीवन में प्रवेश कराने के लिये विकल हो उठता है। 'दर्शन' तत्वों का निर्णय करता है, साहित्यिक उनका जीवन में 'प्रयोग' करता है। एक यदि बुद्धि का 'प्रयास' है (विलास भी कह सकते हैं) तो दूसरा हृदय का 'उच्छ्वास'। परन्तु यह उच्छ्वास बुद्धि विहीनता का प्रतीक नहीं, केवल साहित्यिक की 'पद्धति' भिन्न है—यही बात उक्त वाक्य बतलाता है।

साहित्य 'दर्शन' की पूर्णता है। 'दर्शन' बुद्धि के आधार पर जो बात निश्चित करते हुये घबड़ाता है, शङ्का करता है, साहित्यिक आगे बढ़ कर अपनी भावना से उसमें निश्चितता ला देता है। साहित्यिकों के ऐसे प्रयत्न अनेक मिलेंगे। 'भक्ति' की वकालत करते करते दार्शनिक थक गये किन्तु 'तुलसी' ने मनुष्य के मन को पकड़ लिया। उनका तर्क देखिये—'ज्ञान' पुरुष है, 'भक्ति' स्त्री, पुरुष (ज्ञान) पर स्त्री (माया) का जादू चल सकता है परन्तु स्त्री (भक्ति) पर स्त्री (माया) का प्रभाव नहीं पड़ सकता। भक्ति भगवान् की पट्टमहिषी है और माया नर्तकी है, अतः भक्ति पर भगवान का विशेष अनुग्रह है।

> मोहै न नारि, नारि के रूपा, पन्नगारि यह चरित अनूपा।
> पुनि रघुबीरहिं भगति पियारी, माया खलु नर्तकी बेचारी॥
> भगतहिं सानुकूल रघुराया, तातैं तिहि डरपत अति माया।

स्पष्ट है कि यह तर्क एक भावुक कवि का है, दार्शनिक का नहीं।

'तसुव्वुफ' जिस परमतत्व की व्याख्या नहीं कर सका, जायसी ने अपने मधुर संकेतों द्वारा उसे सहज ही हृदयंगम् बना दिया। 'अखरावट' को पढ़कर 'तस्सुव्वुफ' चाहे समझ में न आये परन्तु 'पद्मावत' को पढ़कर वह समझ में आता है और इससे भी बड़ी बात

यह है कि बिना 'तसुव्वुफ' को जाने हुये भी, उसके द्वारा निर्धारित ब्रह्म के स्वरूप में पाठक विश्वास करने लगता है। रहस्यवाद में आत्मा व ब्रह्म का द्वन्द्व व मिलन यदि दार्शनिक पद्धति पर वर्णित होता तो मीरा और महादेवी का, कबीर और रवीन्द्र का, कोई नाम भी नहीं जान पाता। 'दर्शन' के द्वारा निश्चित ब्रह्म के अज्ञेय स्वरूप के साथ, 'आत्मा' के मिलन के लिये, स्त्री व पुरुष का सम्बन्ध लेकर चलने वाले रहस्यवादी कवियों ने दार्शनिक का कार्य पूर्ण कर दिया, उसे सफल कर दिया। चाहे 'रहस्यवाद' की गुत्थियों को पाठक न भी समझता हो परन्तु फिर भी जीवन के माध्यम से व्यक्त होने के कारण मीरा व महादेवी के गीत इतने प्रिय हो गये हैं कि आत्मा व ब्रह्म के अविश्वासी भी उनकी ओर आकर्षित होते हैं क्योंकि उनमें 'शून्य भित्ति पर चित्र' नहीं बनाये गये हैं जो एक दार्शनिक का कार्य है अपितु एक विरहिणी अपने एक-एक आँसू का इतिहास कहने बैठती है और हम भीग उठते हैं, क्योंकि हमारे भीतर भी एक धड़कता हुआ हृदय है। तर्क, तर्क को उत्पन्न करता है और आवेश, आवेश को। तर्क को भीतर छुपा कर जब आवेश आता है तो 'तर्क' और भी मनोहर और मार्मिक हो जाता है। साहित्य का तर्क ऐसा ही होता है। साहित्य अपने मखमली म्यान में विचार की तेज कटार छिपाये रखता है जो अज्ञान के आवरण को चीर कर रख देती है। अतः साहित्य दर्शन की पूर्णता भी है।

'दर्शन' सोचना सिखाता है, साहित्य 'कहना', और न केवल कहना बल्कि उसे 'अपना बनाना' भी सिखाता है। इसलिये साहित्य को समष्टि का अधिक ध्यान रहता है। व्यक्तिगत साधना भी सामूहिक साधना में बदल देने वाला अस्त्र 'साहित्य' ही है। इसीलिये 'साहित्य को प्रचार का अस्त्र' कहा गया है।

भारतीय साहित्य का प्रथम रूप वैदिक-मन्त्रों में प्राप्त होता है। स्थूल-जीवन में प्रकृति के जो अङ्ग सहायता पहुँचाते थे, वैदिक कवियों ने उन्हें अपने हृदय की वाणी द्वारा सर्वप्रथम वेदों में अर्चित किया। जो 'वस्तुयें' भय का सञ्चार करती थीं उन्हें भी साहित्य ने अपनाया, उनसे अपनी रक्षा की प्रार्थनायें कीं। ऋग्वेद ऐसी ही प्रार्थनाओं का संग्रह है। अनार्य शत्रुओं को पराजित करने के लिये इन्द्र की, वन्य-

पशुओं को भगाने, भोजन पकाने, यज्ञ की आहुतियों को स्वर्ग तक पहुँचाने के लिये अग्नि की, पशुओं की रक्षा करने के लिये पूषन् व रुद्र की, मृत्यु पर विजय प्राप्त करने तथा मृत्यु के बाद सुख प्राप्त करने के लिये यम की, जुये में विनाश से बचने के लिये अक्ष की, आनन्द-प्राप्ति के लिये सोम की, औषधि के लिये अश्विन की, तथा वाणी के लिये आम्भृणी की प्रार्थनायें की गईं। तब दर्शन व साहित्य आदिम जीवन के साथ संयुक्त थे, ये अभी अलग-अलग अपना व्यक्तित्व न रखते थे, विभिन्न ज्ञान-विज्ञान की अलग-अलग शाखायें स्थापित न हो पाई थीं, मनुष्य प्रकृति से सङ्घर्ष कर रहा था परन्तु वह साधन-हीनता में आत्म-समर्पण के मार्ग पर चला। प्रकृति कहीं रुष्ट न हो जाये इसका उसे ध्यान था। वह प्रकृति का पूजक था। उसे वश में लाने के प्रयत्नों में एक यह भी प्रयत्न था। तब वैज्ञानिक साधनों का विकास नहीं हो पाया था, तब भेदों में अभेद की चर्चा नहीं हो पाई थी, तब जीवन अनेक विशृङ्खल तत्वों में बँटा हुआ था। वैदिक कवि इतना हृदयहीन न था कि प्रकृति के द्वारा प्रदत्त अनेक सुविधाओं को प्राप्त करने पर भी कृतघ्न रहता। मनुष्य कृतघ्न कभी नहीं रहा। प्रकृति ने जो दिया उसके बदले में कवि यज्ञ करता और यज्ञ में वचन की दरिद्रता न दिखा कर अपने उस स्वाभाविक सरल आनन्द को व्यक्त करता रहा जो उसे प्रकृति की उपस्थिति में प्राप्त होता था।

सौन्दर्य भी वस्तु की अपनी उपयोगिता होती है। वैदिक कवि इसे जानता था। उषा के सौन्दर्य को उसने पहचाना था और उषा वस्तुतः उपयोगिता भी रखती थी। प्रकाश का किरीट पहन कर, किरणों की वल्गा हाथ में लेकर, सूर्य के रथ पर उषा नित्य ही आकाश पर उदित होती थी। वैदिक कवि विभोर हो उठता था।

तो उस प्राचीन युग में कविता व दर्शन जीवन की उपयोगिता के प्रक्षेपण मात्र थे। कवि के हृदय में प्रकृति की उपयोगिता का ध्यान था अतः कविता फूट पड़ती थी।

तब 'कवि' घृणा व प्रेम को प्रत्यक्ष पद्धति पर व्यक्त करता था। शम्बर पिप्रु, पानिस, दास आदि जातियों या अनार्यों के प्रतिनिधियों के नाश की प्रार्थना करके आत्म विश्वास बटोरता था।

प्रेम का कारण भय तथा कृतज्ञता थी। भय से ही प्रेम नहीं होता, कृत उपकारों को अनुभव करने वाली वृत्ति से भी प्रेम होता है और वस्तुतः वह प्रेम स्थायी भी होता है। वैदिक युग में दोनों वृत्तियाँ साथ-साथ कार्य कर रहीं थीं, 'दर्शन' व 'साहित्य' इसी वृत्ति के क्रोड़ में पल रहे थे, व्यक्त हो रहे थे। अभी सोचने की शक्ति का विकास न हो पाया था पर हृदय तो मनुष्य को पूर्ण विकसित रूप में ही मिला है, वह घृणा व प्रेम करना तब भी जानता था और अब भी जानता है। केवल प्रेम के विषयों में परिवर्तन व विकास होता आया है। पहले वह प्रकृति की वस्तुओं को देवता मानकर उनसे प्रेम या घृणा करता था, अब उनके बदले मनुष्य किन्हीं अन्य वस्तुओं से घृणा करता है। उसके प्रेम करने या घृणा करने में कोई अन्तर नहीं आया, हाँ 'डिग्री' में अन्तर अवश्य आया है। वन्य जातियों में प्रेम की जो तीव्रता व उच्च भावावेग मिलता है वह विकसित मनुष्य जाति में कम हो जाता है, बुद्धि के विकास में 'रागतत्व' में कुछ कमी अवश्य आ जाती है। आज के युग की यही प्रवृत्ति है।

तो वैदिक युग में दर्शन व साहित्य साथ-साथ ही विकसित हो रहे थे। अन्धविश्वास ने प्रकृति की शक्तियों को देवों के रूप में बदल दिया था (दर्शन), भय ने प्रार्थना करने की प्रेरणा दी (साहित्य), कृतज्ञता ने भी प्रार्थना करने के लिये विवश किया (साहित्य), तो वैदिक युग में दर्शन था 'अन्धविश्वास' और साहित्य था भय व कृतज्ञता जन्य प्रार्थनायें, प्रक्रिया थी, यज्ञ करना तथा यज्ञ में देवों का आवाहन करना, उपयोगिता थी, भौतिक जीवन में सबल, स्वस्थ, विजयी और पुष्ट होना।

अभी एक ही व्यक्ति दार्शनिक व कवि था, वही ऋषि यज्ञ करता, वही देवताओं के रूप में सोम, मेघ, द्यावा-पृथ्वी आदि में देवत्व की कल्पनायें करता और वही प्रार्थनायें करता।

चिन्तन का विकास—किन्तु वैदिक कवि को अनेक देवों की उपासना करते समय यह कल्पना सहज ही प्राप्त होगई कि इतने भिन्न-भिन्न देवों में कोई एक देवता ही मुख्य होगा या एक ही देवता के ये अनेक देवता भिन्न-भिन्न रूप होंगे। यह बुद्धि सङ्गत भी था, दर्शन

प्रारम्भ हुआ। कहा गया—"एकं सत् विप्रा वहुधा वदन्ति" अर्थात् एक ही सत् वस्तु है उसी को विद्वान् अनेक रूपों से कहते हैं। यह बात नहीं है कि निश्चित् रूप से ऋग्वेद के अन्तिम भाग में ही यह विचार आया हो, यह विचार तो पहले भी आ सकता था और उसके प्रमाण भी हैं, परन्तु मुख्यता विभिन्न रूपों की उपासना की ही रही है। एकतावादी विचार भी कभी-कभी प्रकट होते रहे किन्तु अन्त में प्रायः सब इसी दिशा में सोचने लगे—जब एक ही सत् वस्तु अनेक रूपों में प्रकट हो रही है तो वह वस्तु कैसी होगी। इतनी विराट सृष्टि को बनाने वाली शक्ति अज्ञेय ही होनी चाहिये अतः नासदीय सूक्त व पुरुष सूक्त में यह 'अज्ञयवाद' सर्वप्रथम प्रकट हुआ। इस समय तक उस एक शक्ति की कल्पना को आधार मिल रहा था, किन्तु इसके साथ सामाजिक तत्व भी थे, कवि-दार्शनिक उन्हें भी देख रहा था। जब तक आर्य ऋषि पञ्जाब में अपने कबीलों के साथ था तब तक वह नवागत आर्यों व आदिवासियों के युद्धों को देखा करता था। यमुना के किनारे 'सुदास' द्वारा अनार्यों के विनाश को देख कर उसने प्रफुल्लित होकर गीत गाये थे। इन पराजितों में अजा, शिगरस आदि जातियाँ थीं। जब तक ऋषि ब्रह्मावर्त (सिन्धु नदी से लेकर सरस्वती नदी के बीच का प्रदेश) में रहा तब तक वह इन्हीं युद्धों को देखता रहा। किन्तु ब्रह्मर्षि देश (सरस्वती नदी से यमुना और गङ्गा तक का भाग) में आने पर जब आर्य निश्चित रूप से विजयी होकर बस गये, कृषि व्यवस्थित रूप से होने लगी, भरत कबीला शासक बन गया और ऋषि यज्ञ-याग में ऋत्विक बने, तब तक ऋग्वेद का पर्याप्त भाग लिखा जा चुका था। अतः दासों से जो बल-पूर्वक श्रम (Forced labour) लिया जाता था उसकी कृषि के लिए आवश्यकता थी, साथ ही धनी दासों से वैवाहिक सम्बन्ध भी हो रहे थे। अतः दास-प्रथा के उस युग में ऋषि ने सर्वप्रथम 'पुरुष सूक्त' में शूद्र शब्द का उल्लेख कर उसे विराट का पद स्वीकार कर लिया। इस प्रकार साहित्य में एक ओर अज्ञेयवाद की स्थापना हुई और दूसरी ओर उसी 'अज्ञेय' के साथ सामाजिक समस्याओं का सम्बन्ध भी जोड़ दिया गया। साहित्य व दर्शन अब भी साथ ही साथ विकसित हो रहे थे। नासदीय सूक्त में शुद्ध अज्ञेयवाद मूलतः दार्शनिक भित्ति के

रूप में आया और पुरुष सूक्त का विराट, सृष्टि तथा समाज के विकास के रूप में।

नासदीय सूक्त—यह (ऋक्० ८। अ० ७। व० १७) इस प्रकार प्रारम्भ होता है—

नासदासीनो सदासीत्तदानीं, नासीद्रजोनो व्योमा ऽपरोयत्।
किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम्॥

अर्थात् जब यह आर्य सृष्टि नहीं थी, तब एक सर्व शक्तिमान् परमेश्वर, और दूसरा जगत का कारण अर्थात् जगत बनाने की सामग्री विराजमान थी।* उस समय आकाश नहीं था, उस समय त्रिगुण नहीं थे, परमाणु नहीं थे, विराट नहीं था, वर्तमान उस परम तत्व को नहीं ढँक सकता, उससे अधिक अथाह भी नहीं हो सकता, यथा कुहरे का जाल पृथ्वी को नहीं ढँक सकता, अर्थात् वह तत्व अनन्त और अज्ञेय है। इसी सूक्त के अन्त में ऋषि कहता है—

"सचमुच कौन जानता है और कौन कह सकता है कि यह सब कहाँ से उपजा, इस विश्व की सृष्टि कहाँ से आयी, देवताओं की उत्पत्ति पीछे की है, जिससे इस विश्व को सृष्टि आरम्भ हुई। उसने यह सब रचा है, या नहीं रचा है, परम-व्योम में जिसकी आँखें इस विश्व का निरीक्षण कर रही हैं वस्तुतः वही जानता है या शायद वह भी नहीं जानता।"

अज्ञेयवाद की पुष्टि अंतिम पंक्ति से कितनी स्पष्ट है—

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव, यदि वा दधे यदि वा न,
यो अस्याध्यक्षः परमेव्योमन्त्सो, अङ्गवेद यदि वा न वेद॥

"वेद यदि वा न वेद"=(वह) "जानता है या नहीं जानता" यह अन्तिम पंक्ति ही 'अज्ञेयवाद' की पुष्टि करती है अर्थात् अनेक देवताओं के परे शायद कोई ऐसी शक्ति है जिसको जाना नहीं जा सकता। यह अद्भुत सृष्टि तथा परम आश्चर्य जनक इसके स्रष्टा का

---

* यह अर्थ महर्षि दयानन्द सरस्वती के आधार पर होने से त्रैत-परक (ईश्वर-जीव व जगत को अलग अलग मानना) सा प्रतीत होता है परन्तु वस्तुतः उस समय द्वैत या त्रैत की भावना नहीं थी।

यह प्रथम वर्णन है। आगे का 'ब्रह्मवाद' इसी पर आधारित है। कर्म-काण्ड के विरुद्ध इसी 'ब्रह्मवाद' की स्थापना उपनिषदों में हुई जिसमें एक ही 'तत्व' की सिद्धि की गई।

पुरुष सूक्त ऋग्वेद व यजुर्वेद दोनों में पाया जाता है। प्रथम में १६ तथा दूसरे में २२ मन्त्र हैं। यजुर्वेद के अधिक ६ मन्त्रों में ऋग्वेद के विराट वर्णन का जो स्तर है वह गिर जाता है, ब्रह्म की उपासना पर ऋषि जोर देने लगता है। इससे भी विकास स्पष्ट है—

सहस्रशीप पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
सभूमिं सर्वतः स्पृत्वाऽत्यतिष्ठ दशाङ्गलम्॥

"पुरुष उसको कहते हैं जो इस सब जगत में पूर्ण हो रहा है, सहस्र नाम है सम्पूर्ण जगत का और अख्यात भी उसी का नाम है। जिसके बीच में सब जगत के असंख्यात शिर, आँख, और पग ठहर रहे हैं उसको सहस्रशीर्षा, सहस्राक्ष और सहस्रपात भी कहते हैं क्योंकि वह अनन्त है जैसे आकाश के बीच में सब पदार्थ रहते हैं और आकाश सबसे अलग रहता है अर्थात् किसी के साथ नहीं रहता इसी प्रकार परमेश्वर को भी जानो, वह पुरुष सब जगत से पूर्ण होके पृथ्वी को तथा सब लोकों को धारण कर रहा है। अंगुलि का अर्थ है = पाँच स्थूल + पाँच सूक्ष्म भूत या पञ्च प्राण—मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार और जीव। जो इन सबमें व्यापक होकर भी इनके चारों ओर भी परिपूर्ण हो रहा है वही पुरुष है अर्थात् पुरुष विश्व में व्यापक होकर भी उससे १० अंगुल बड़ा है।"

ततो विराड जायत...... फिर विराट उत्पन्न हुआ और उस विराट के मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, उरू से वैश्य और पदों से शूद्र पैदा हुये।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहू राजन्यः कृतः।
उरू तदस्य यद्वैश्यः, पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥

इस प्रकार अज्ञेयवाद के साथ समाज का सम्बन्ध स्थापित कर दिया गया। आगे दर्शन व साहित्य के विकास की कहानी नासदीय सूक्त व पुरुषसूक्त के इस अज्ञेयवाद की ही कहानी है।

वेदों का बहुदेवतावाद पीछे छूट जाता है, आगे केवल विष्णु, रुद्र, व देवी-देवताओं का रूप वैष्णवों, शैवों व शाक्तों में मान्य हो जाता है और उपनिषद् के युग में उक्त 'अज्ञेयवाद' का ही विकास होता है। साथ ही आगे चलकर साहित्य का विकास होता है, सामाजिक समस्याओं का हल निकलता है, वर्गों व वर्णों में द्वन्द्व चलते हैं जो विभिन्न दार्शनिकों द्वारा भिन्न-भिन्न रूपों से समझाये जाते हैं। वैदिक युग में आर्य-अनार्य सङ्घर्ष था। दास प्रथा का आगे चलकर विकास हुआ और ब्राह्मण-युग में वर्ण व वर्ग स्पष्ट होते गये।

ब्राह्मण युग के पूर्व के युग में 'पौरोहित्य' परम्परागत न था, ब्राह्मण व क्षत्रिय दोनों उसके लिये लड़ते थे जो वशिष्ठ व विश्वामित्र के संघर्ष से स्पष्ट है। अनार्यों से युद्ध करने के लिये केन्द्रीय सत्ता की आवश्यकता का अनुभव हुआ, युद्ध के लिये स्थायी सेना का प्रबन्ध करना पड़ा। अब सारा कबीला दौड़ कर नहीं लड़ सकता था क्योंकि खेती व धर्म के काम में बाधा पड़ती थी। पहले ही व्यक्तिगत रूप से यज्ञ होते थे परन्तु अब क्रिया का विस्तार होने से अपने आप सारा कार्य असम्भव हो गया अतः स्थायी पुरोहितों का रखना आवश्यक था, अतः 'पुरोहित वर्ग' स्थायी और अलग होता गया। समाज का भेद बढ़ा और जो इसे न मानता था उसे ब्राह्मण नीच कहते थे यथा 'ब्रह्मावर्त' के आर्यों को 'ब्रह्मर्षि' देश के आर्य अर्द्ध सभ्य समझने लगे थे। यद्यपि ऋगवेद में शासक वर्ग के कुछ लक्षण थे पर अभी तक सब युद्ध में भाग लेते थे, युद्ध के स्थायी प्रबन्ध के लिये तथा कबीले की देख रेख के लिये शासक वर्ग अलग हो गया, ब्राह्मण व क्षत्रिय इस प्रकार अपना अलग अलग वर्ग बना बैठे। अब भी पशु-पालन मुख्य था परन्तु कृषि में विजेता आर्य स्वयं अनार्यों के साथ कार्य करते थे आगे सारा कार्य शूद्र ही करने लगे और आर्यों का कार्य केवल धर्म शासन तथा राज्य शासन रह गया। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के भेद यज्ञवाद पर आधारित रहे, ब्राह्मण-युग का विकास हुआ। कुरु व पाञ्चाल इस सभ्यता की उन्नति में होड़ लगाने लगे। भरत लोगों को प्रमुखता प्राप्त होती गई। आगे 'पुरु' वंश का अभ्युदय हुआ। कुरु, पाञ्चालों व पुरु राजाओं में विस्तृत अश्वमेध यज्ञों का प्रचार हुआ जिनमें राजा की शक्ति की परीक्षा होने लगी, क्षत्रिय अब स्थायी युद्ध सेनाओं में भाग

लेने के कारण शूद्रों के साथ खेती न कर सकते थे। वे अब शासक हो गये, ब्राह्मण भी उनके संकेत पर चला और कृषि व पशुचारण का कार्य वैश्य व शूद्रों पर ही रह गया, अर्थात् वैश्य शूद्रों से काम लेते, वैश्यों के द्वारा उपार्जित धन शासकों-ब्राह्मणों के यज्ञों तथा क्षत्रियों के राज्य प्रबन्ध व विलास में व्यय होता।❀

पाञ्चालों में अनेक अश्वमेध यज्ञ हुये, किन्तु प्रवाहण जैवलि नामक पाञ्चाल राजा ने सोचा कि क्या इन क्रियाओं में लीन रहना ही सर्वस्व है, उसने विद्रोह किया और क्रिया-काण्ड के विरुद्ध 'ज्ञान-वाद' का प्रचार किया। अनेक ब्राह्मणों ने उससे 'आत्मवाद' की शिक्षा ली।

इस समय कर्मकाण्ड के विरुद्ध केवल क्षत्रियों में ही जागृति न थी अपितु कुछ समझदार ब्राह्मणों ने भी इसके विरुद्ध आन्दोलन किया, इनमें आरुणि व याज्ञवल्क्य मुख्य थे। याज्ञवल्क्य ने सुदूर पूर्व के राज्यों—कोशल व विदेह में ज्ञानवाद का प्रचार किया। विदेह के

❀ वैश्यों के अलग वर्ग बन जाने का प्रमाण यह है कि क्षत्रियों व ब्राह्मणों के पेशे कभी कभी परस्पर बदल भी जाते थे, परन्तु एक भी वैश्य ब्राह्मण नहीं हो सकता था। वर्णों के परस्पर सम्बन्ध को एतरेय ब्राह्मण में इस प्रकार देखा जा सकता है, जिसमें एक परिच्छेद का भाव इस प्रकार है:—

''ब्राह्मण—The Brahman is a "Receiver of gifts, a drinker of soma, a seeker of food, and liable to removal at will"

"वैश्य—"He is tributary to another, to be lived on by an other, and to be oppressed at will"

शूद्र—' The servant of another, to be expelled at will and to slain at will'

इससे स्पष्ट है कि समाज में क्षत्रिय की प्रभुता स्थापित हो गई थी, और अन्य तीन वर्ण उसके आश्रित होते जा रहे थे, कभी-कभी विद्रोह भी होता था। 'ब्राह्मण' धर्म का शासन करते हुये भी क्षत्रियों का मुँह ताकते थे, वैश्य व शूद्र धन उपार्जित करते थे, जिसमें वैश्य अपने उपभोग में भी लाता था परन्तु 'शूद्र' केवल जीने भर को ही पाता था।

राजा जनक ने उसी से ज्ञानवाद की दीक्षा ली थी। जनक के दरबार का शास्त्रार्थ बहुत प्रसिद्ध है। उपनिषदों के तत्वों का विकास इसी समय हुआ। यद्यपि उपनिषदें इसके बहुत बाद में निर्मित हुईं। याज्ञवल्क्य व प्रवाहण जैवलि ने नासदीय व पुरुष सूक्तों के अज्ञेय ब्रह्म को समझने का प्रयत्न किया, जिस एक को जानने से ही सब कुछ जाना जा सकता है वह तत्व कौन-सा है, यही उस युग के विचारकों का प्रश्न था। आरुणि ने श्वेतकेतु को भी यही समझाया था। स्थूल यज्ञ-याग के विरुद्ध सूक्ष्म ब्रह्म का यह आन्दोलन था। क्षत्रियों के हृदय में स्वार्थी ब्राह्मणों के विरुद्ध जो विद्रोह उत्पन्न हुआ था, याज्ञवल्क्य के ब्रह्मवाद ने उसकी कटुता कम करदी। ब्राह्मण हवा के रुख को पहचानता था उसने समझ लिया था कि क्षत्रिय समाज पर जो अब समाज का अधिपति था, प्रभाव कोरे कर्मकाण्ड से स्थिर न रह सकता था, अतः ब्राह्मणों ने क्षत्रियों के द्वारा जागृत चेतना को आगे बढ़ाया और आरुणि, याज्ञवल्क्य, श्वेतकेतु आदि ने पुनः यश पाया। इस युग के साहित्य में एक ओर तो यज्ञों का वर्णन है जिनमें १६, १७ से भी अधिक पुरोहित भाग लेते थे, केवल धान्य व दूध की ही नहीं पशु की भी बलि दी जाती थी। यज्ञ कभी-कभी वर्षों तक चलते थे। राजसू, महाव्रत, वाचपेय, अश्वमेध आदि बड़े-बड़े यज्ञ थे। इनका विस्तृत वर्णन ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलता है। दूसरी ओर विश्व की एकता पर विचार हुआ। ब्रह्म का निराकारत्व, निर्लेपत्व, अद्वैतत्व प्रसिद्ध हुआ, उसकी सर्वज्ञता व सर्वव्यापकता पर भी विचार हुआ। उपनिषद्-युग में आत्मा व ब्रह्म की एकता समाज के विभिन्न स्तरों की भी प्रतीक है। कहा जाता है कि भारत में अमेरिका जैसी दास प्रथा न थी, परन्तु आदिवासियों की दशा इससे बहुत अच्छी भी न थी। परन्तु सबके साथ एकसा बर्ताव न था जैसा कि अन्य देशों में मिलता है। धनी शूद्रों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध भी होते थे। तपोवनों में दास-कन्यायें रक्खी जाती थीं और ऋषियों के उनसे प्रेम सम्बन्ध भी जब तब हो जाते थे। दास कन्या 'जाबाला' से 'सत्यकाम जाबाल' जैसे दार्शनिक ऋषि की उत्पत्ति हुई थी। अतः धनी शूद्रों से आर्यों के सम्बन्ध बुरे न थे परन्तु कमकर शूद्र अब धीरे-धीरे 'सर्फ' (कृषक) में परिवर्तित हो रहे थे।

शूद्रों को इसी अर्थ में दास (slave) कहा जा सकता है कि उन्हें आर्य अनुशासन मानना पड़ता था, अतः आदि निवासियों को छोड़ कर अन्य लोग कृषकों (सर्फ) की अवस्था में आ रहे थे। और उस वर्ग को जो धन उत्पन्न करता था, जो वर्ग व्यापार करता था उसे स्वीकार न करना अपने लिए ही हानिकर था अतः ब्राह्मण व क्षत्रिय वर्ग ने विश्व की जिस एकत्व को खोजा था वह सूत्र की तरह सारे ब्रह्माण्ड को पिरो लेता है ऐसा माना गया, जैसे मिट्टी से अनेक घड़े बनते हैं, सोने से आभूषण, उसी प्रकार 'ब्रह्म' ही सबका मूल कारण है। शूद्रों में भी वही है, ब्राह्मणों व क्षत्रियों में भी। वस्तु की अनेकता सच्ची नहीं है, एक ही तत्व विभिन्न रूप धारण कर रहा है। नाम और रूप सच्चे नहीं हैं, सच्चा तो एक ही परमतत्व ब्रह्म है। ब्रह्म और आत्मा में अन्तर नहीं है। 'आत्मवाद' की यह घोषणा ऐतिहासिक प्रगति को आगे बढ़ाने का साधन थी। इसने एक ओर तो व्यर्थ के आचारवाद का खण्डन किया और दूसरी ओर अस्पृश्य पशुवत् जीवन व्यतीत करने वाले श्रमिक वर्ग को भी मानसिक समानता दे दी। व्यावहारिक समानता तो ब्राह्मण व क्षत्रियों में से एक भी नहीं दे सकता था क्योंकि इससे उसके प्रभुत्व पर प्रहार होता। अतः प्राणीमात्र को एक ही 'सत्ता' की अभिव्यक्ति बताना इतिहास को पीछे ले जाना न था इससे समाप्त प्राय 'दासप्रथा' के स्थान पर कृषि-प्रथा (S rfdoom) को स्वीकार किया गया था। और यह एक अगला क़दम था, अतः प्रारम्भिक उपनिषद युग में 'आत्मवाद' एक महान विचारधारा के रूप में देखा जाना चाहिये। किन्तु आगे जब यह ज्ञानियों के दम्भ को प्रश्रय देता गया और यज्ञ में पशु हिंसा समाप्त न हुई, आत्मवादी चिल्लाते ही रहे और यज्ञवादी अपना कार्य करते ही रहे क्योंकि यह ब्राह्मणों की जीविका का प्रश्न था। पशुओं के 'जी' से उन्हें अपनी 'जीविका' प्रिय थी अतः यज्ञ चलते रहे। एक विशेष बौद्धिक वर्ग में आत्मवाद पलता रहा। अतः बौद्ध व जैन धर्मों के रूप में प्रतिक्रिया होना आवश्यक था। इसके साथ ब्राह्मण व प्रारम्भिक उपनिषदों के युग में कई सिद्धान्त आये। यथा—कर्मवाद, और आवागमन के सिद्धान्त। इन दोनों की भी आवश्यकता थी, शूद्र से कहा—"तू इसलिये ऐसा है क्योंकि तुझे तेरे पूर्व जन्म के कर्मों के

अनुसार ऐसा होना ही चाहिये था।" यदि यह बात न कही जाती तो विद्रोह फैलता। 'आवागमन' में अन्धविश्वास भी था और उससे 'कर्मवाद' की भी पुष्टि होती थी क्योंकि जब आवागमन ही न होता तो पूर्व-जन्मकृत कर्मों का दण्ड कैसे मिलता? इस प्रकार आत्मवाद, कर्मवाद व आवागमनवाद बुद्ध के आने के पूर्व तक भारतीय क्षितिज पर उदित हो चुके थे। इसमें 'आत्मवाद' को छोड़ कर शेष दो को बुद्ध व महावीर ने चुपचाप स्वीकार कर लिया था क्योंकि 'आत्मवाद' व 'वेद' को मानने से ब्राह्मणों का गौरव स्वीकार करना पड़ता और यह बात पूर्व के क्षत्रिय चाहते न थे परन्तु गणों में कम-कर जातियों को अपना काम करते रहने के लिये कर्मवाद व आवागमन की स्वीकृति आवश्यक थी। श्रमिक वर्ग के सन्तोष के लिए विश्व में 'कर्मवाद' से बढ़कर कोई औषधि नहीं रही, शायद बुद्ध और महावीर दोनों यह बात जानते थे।

इस प्रकार उपनिषद् काल में—बृहदारण्यक व छान्दोग्य दोनों ने कर्मवाद व आवागमनवाद को स्वीकृति दी है। उसके बीज तो ब्राह्मण काल में भी सुरक्षित थे। अन्धविश्वास और सामाजिक जीवन में अनुकूलता प्राप्ति, उक्त सिद्धान्तों की स्वीकृति में ये दो ही कारण थे।

गार्बे (Garbe) तथा डैसन (Deussen) यह मानते हैं कि 'आत्मवाद' ब्राह्मणों के विरुद्ध क्षत्रियों का विद्रोह था। महापण्डित राहुल ने भी 'दर्शन-दिग्दर्शन' में इसी सिद्धान्त का समर्थन किया है परन्तु कीथ, लूम फील्ड आदि विद्वान् इसका खण्डन करते हैं, परन्तु था यह सिद्धान्त शासक वर्ग का ही। यह निश्चित है कि इसमें दोनों ने भाग लिया था जैसा कि हमने ऊपर दिखाया है। वैदिक यज्ञों में बहु-देवता सम्बन्धी जो पवित्रता थी, वह नष्ट हो गई थी, पुरोहितों को घोर आत्म विश्वास हो गया था कि वह किसी को भी नष्ट कर सकता है, किसी को भी चक्रवर्ती बना सकता है, किसी को भी पुत्र-लाभ करा सकता है। इस प्रवृति से विद्रोह कर ब्राह्मण व क्षत्रिय वर्ग ने 'एकात्मवाद' का प्रचार किया जिसका सामाजिक कारण हम ऊपर दिखा चुके हैं। दार्शनिक दृष्टि से 'एकात्मवाद' एक उच्चकोटि की कल्पना और महान प्रतिभा पर आधारित सिद्धान्त था। इसीलिए इतिहास इसके अन्वेषकों को उच्च आत्मा (Higher Sprits) कहता है। इनके

सम्मुख ब्राह्मण-काल के कर्मकाण्डी ब्राह्मणों की मेधा निम्न-कोटि की प्रतीत होती है।

आत्मवादी प्रायः परिव्राजक थे, कुछ तपस्वी थे।* कर्मकाण्डी ब्राह्मण गृहस्थ थे। और यज्ञ करने से ही इहलोक व परलोक में सुख की कल्पना की मूर्ति मानी जाती थी, दूसरी ओर कठोर तपस्या का जीवन ही सर्वस्व था। एक ओर तपस्या थी, दूसरी ओर विलास। कहीं परम सूक्ष्म ब्रह्म व आत्मा का ऊहापोह था, कहीं कठोर साधनाओं का अभ्यास।

बुद्ध के समय ६३ दार्शनिक सम्प्रदाय थे। जैन साहित्य में भी इनकी चर्चा आती है। ईसा पूर्व ६०० के आस-पास चिन्तन का रूप अनेक सम्प्रदायों में विभक्त हो रहा था। जैनियों व बौद्धों ने ब्राह्मण-वादी चिन्तन से कुछ तत्त्व ग्रहण कर लिये, कुछ अस्वीकृत कर दिये। यथा सन्यास धर्म के सारे नियमों को प्रायः स्वीकार कर लिया। आवागमन व कर्मवाद को भी माना। जैनियों ने आत्मा को भी माना परन्तु 'ईश्वर' को न बौद्धों ने माना न जैनियों ने। जन्म से ब्राह्मण होने की भावना पर बुद्ध व महावीर ने प्रहार अवश्य किया परन्तु वे इस भावना के प्रचारक मात्र थे, अन्वेषक न थे क्योंकि हम पहले ही सत्यकाम जाबाल की कथा में देख चुके हैं कि तब भी ब्राह्मण जन्म से नहीं माना जाता था। अतः बुद्ध व महावीर सुधारक के रूप में ही स्वीकृत होने चाहिये। वे 'ब्राह्मणवाद' के पर्याप्त निकट थे—

"When he (महावीर) and his great rival Buddha state that a man is not merely born of Brahman, but becomes a Brahman through his mysterious actions, they seem not even to here to be real innovators, for we are reminded of the legend of Satya Kam Jabal and other similar instances that seem to prove that birth was not always regarded as the true keynote of sanctity in orthodox circles. Jainism

---

* Macdonell and Keith—Vedic index of names and Subjects Volume I.

or Buddhism is to be viewed in close connexion with the Brahman institutions existing at the time of its rise"❀

जैन धर्म का मुख्य सिद्धान्त 'स्यातवाद' है, कहा गया है कि शङ्कर के अद्वैत मत पर 'समयसार' नामक पुस्तक में उपदेशित विचारों का प्रभाव पड़ा है परन्तु 'समयसार' का सिद्धान्त विशुद्ध अद्वैतमत प्रतीत होता है, उसके ऊपर उपनिषद् दर्शन का ही प्रभाव है 'परम-तत्व' के निर्णय के लिये भाषा पंगु बन जाती है यह बात तो उपनिषद् में ही कही गई है। अतः शङ्कर के 'अनिर्वचनीयतावाद' पर 'समयसार' आदि का प्रभाव नहीं खोजा जा सकता। बौद्धों का प्रभाव उस पर अवश्य है।

'आत्मा की अनेकता' भी जैन धर्म में मानी गई है तथा कठोर आचारों की स्वीकृति भी। जैन-धर्म अपने कठोर आचारवाद पर ही जीवित रहा। धर्म को सरल करने की प्रवृत्ति बौद्धों को ले डूबी। ब्राह्मणों ने धर्म को सरल किया परन्तु उन्होंने सन्तुलन रक्खा अतः आगे उसी का विकास हुआ और फिर इसके अन्य ऐतिहासिक कारण भी थे।

बुद्ध ने जैनियों की (Self torture) अपने को कष्ट देने की प्रवृत्ति स्वीकृत न की, न आत्मा व ईश्वर के बौद्धिक झगड़ों को स्वीकार किया, वे समाज के दुःख को मिटाना चाहते थे अतः उन्होंने मध्यममार्ग खोजा, जीवन को सँभालना व्यर्थ के वाद-विवाद से अधिक श्रेयस्कर था। जैनियों की तरह उन्होंने अहिंसा का उपदेश दिया पर इस विषय में वे भी 'मध्यम् पथ' पर ही रहे, उन्होंने समाज के भेदभावों को मिटाने का प्रयत्न किया, और कठिन भिक्षु जीवन बिताने की आज्ञा दी, दुःख से त्रस्त मानवता को शरण देने का आश्वासन दिया।

जैनियों व बौद्धों के समय भारत में अनेक छोटी-छोटी निरंकुश राज्य सत्तायें थीं, साथ ही अनेक 'गणतन्त्र' थे। इनमें कुछ गणतन्त्रों के मुख्य प्रतिनिधि और राजा में केवल अन्तर यह था कि राजा परिषद् को सलाह मानने के लिये बाध्य नहीं था पर गणतन्त्र

❀ Cambridge History Volu I.

का अधिपति स्वच्छन्द हो कर भी 'परिषद्' से परामर्श कर लेता था। कभी-कभी राजा अपने विवेक से 'कार्य' कर डालता था उसकी पुष्टि गणतन्त्रों की परिषदें करती रहती थीं। वंश की मर्यादा का इनमें पूरा-ध्यान था। स्पष्ट है कि श्रमिक और उपभोगी वर्ग यहाँ भी थे। गण-पति प्रायः क्षत्रिय थे जो अपने को किसी से कम न समझते थे परन्तु फिर भी निरंकुश राजाओं जैसे अधिकार प्राप्त न थे। इनमें कुछ दुर्बल थे कुछ शक्तिमान। इन गणतन्त्रों में ही बौद्ध व जैनधर्मों का प्रचार अधिक हुआ है। इनमें शाक्य, बुलिस, कोल्य, मल्ल, मौर्य, विदेह, लिच्छिवी तथा अन्य छोटे-छोटे गणतंत्र थे। गणतंत्र का अध्यक्ष 'रोमन कौंसल' की तरह था, कुछ तो राजा कहलाते भी थे। शुद्धोदन तथा 'बुद्ध' का चचेरा भाई दोनों 'राजा' कहलाते थे। रक्त की शुद्धता पर इन 'शाक्यों' को इतना अधिक गर्व था कि प्रसेनजित का विवाह इन लोगों ने छल कर के एक शूद्र कन्या से करा दिया था। प्रसेन के पुत्र विरुद्धक ने इसका बदला शाक्यों के 'क़त्लेआम' से लिया था। अतः 'बुद्ध' की बढ़ती हुई प्रसिद्धता 'राज्यवर्ग' की प्रसिद्धता समझी गई। ब्राह्मणों को चुनौती देकर 'धर्म चक्र' का प्रवर्तन करना अति साहस का काम था पर उसे पूर्व के क्षत्रियों ने किया।

प्रचार चला और श्रावस्ती, चम्पा, राज्यगृह, कौशाम्बी, बनारस, कुशीनारा, साकेत के सेठों तथा समृद्ध लोगों ने इस में सर्वप्रथम भाग लिया, श्रमिक वर्ग भी इसमें सम्मिलित हुआ।

व्यापारियों व मजदूरों के अलावा इसमें कृषक भी सम्मिलित हुये। भारतवर्ष में उपज के साधन नहीं बदले। दार्शनिक धारणायें बदलती रहीं। दास प्रथा के बाद, आर्थिक व्यवस्था के स्थिर हो जाने का परिणाम यह हुआ कि यहाँ कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन समाज में न हो सका। जो 'दर्शन' क्रान्तिकारी बनकर आये भी वे समझौते की पद्धति अपनाकर चले, कुछ समय तक प्रभाव डाल कर समाप्त हो गये। उपनिषद् काल के बाद बुद्ध के युग तक एक ही कृषि व्यवस्था रही। दास अब निश्चित रूप से कृषक बन गये। 'घरूदास' भले ही जीवित रहे। बौद्ध युग में क्षत्रिय व वैश्य सभी खेती करने लगे थे। क्षत्रिय कुलपुत्र किसान बनते थे। शाक्यसिंह, शुद्धोदन एक दिन स्वयं हल चलाते थे। राजा की अपनी अलग भूमि रहती थी, जिन पर मजदूर

काम करते थे। उच्चवर्ण के सामान्य लोग मजदूरों के साथ स्वयं काम करते थे। गाँवों में भी आर्थिक ढाँचा किसानों के भूमि सम्बन्धी अधिकार (Peasant Proprietorship) पर था। गणतन्त्रों में किसान बेगार में पकड़े जाते थे। उनसे उपज का ¼ अंश कड़ाई से वसूल किया जाता था। बड़े-बड़े काफिले ले जाने वाले सेठों से गणतन्त्र के चुने हुये राजाओं की गहरी मित्रता होती थी। अनाथ-पिंडक ने जैत्रवन-विहार को सोने के सिक्कों से पाट कर उसे 'बुद्ध' को दे दिया था।[१] ये श्रेष्ठी दासों से भी गये बीते 'मजदूरों' से काम लेते थे। दासों की लड़कियाँ तक बिकती थीं। एक दास कहता है "कभी-कभी मेरी स्त्री इतनी नम्र हो जाती है जैसे सौ सिक्कों में खरीदी गई दास पुत्री"।[२] इन्हें 'समुद्री व्यापार' में अपने श्रेष्ठियों की अर्थ वृद्धि करने के लिये प्राणों की बाजी लगानी पड़ती थी। दस्तकारों की चीजों की कीमत राजा सर्वदा कम देता था।

ऐसे समाज में बौद्धमत का प्रचार हुआ था। इस सामन्ती परिस्थिति में यह असम्भव था कि समाज के भेद-भाव व्यवहारिक रूप से मिट जाते, क्योंकि तब भोगी और श्रमिक वर्ग दोनों को एक स्तर पर आना पड़ता, जो असम्भव था। अतः बौद्धों ने इस समाज के दुःखों को वैयक्तिक साधना द्वारा मिटाना निश्चित किया, यही सम्भव भी था। उन्होंने 'कर्मवाद' को स्वीकार कर लिया और विशेष बात यह है कि 'आत्मा' को न मानते हुये भी। बौद्ध दर्शन को सबसे बड़ी कठिनाई उसी स्थल पर होती है जहाँ वह एक ओर तो आत्मा की सत्ता को अस्वीकृत करता है और दूसरी ओर कर्मवाद को भी सिद्ध करता है। वस्तुतः यह बुद्धि की कठिनाई न थी, यह ऐतिहासिक सीमा थी जिससे आगे बढ़ने का साहस बुद्ध में नहीं था। 'कर्मवाद', को मान लेने से गणतन्त्रों का 'श्रमिक वर्ग' अपने में संतुष्ट रहा और 'उच्च वर्ग' इतनी सुविधा देने के लिये विवश हुआ कि संघ में सब एक हैं। संघ के बाहर भेदभाव, जाति पाँति बराबर बनी रही। स्वयं बुद्ध के समय में भी 'संघ-शासन' समाज के शासन को चुनौती देकर

[१] जातक १—९२

[२] Cambridge History. Vol. I, Chapter VIII.

अलग हो गया। उसने साम्य का उपदेश दिया परन्तु 'समाज' अविचिलित रहा।[1] उसके संगठन पर कोई विशेष प्रभाव न पड़ सका। उपज के साधन अपरिवर्तित रहे। अतः आगे चलकर 'संघशासन' में जैसे ही शिथिलता आई उसे बिखरते देर न लगी।

बुद्ध के सिद्धांतों में मुख्य प्रतीत्य समुत्पाद का सिद्धान्त था, जिसका अर्थ है प्रत्येक वस्तु किसी न किसी हेतु पर निर्भर होती है। एक वस्तु स्वयं नष्ट होकर भी अन्य वस्तु के अस्तित्व का कारण बन जाती है, और वह वस्तु किसी अन्य वस्तु का। इसी प्रकार कार्य-कारण प्रवाह चल रहा है। अन्य शिक्षाओं में चार आर्य सत्य मुख्य थे—दुःख है, दुःख का हेतु है, दुःख का निरोध है और दुःख निरोध का मार्ग है, ये ही आर्य सत्य हैं। बुद्ध ने जनता के दुःखों को सर्व प्रथम स्वीकार किया। मृत्यु व वृद्धावस्था से बचने का मार्ग निकाला। परन्तु उनका 'हल' वैयक्तिक दृष्टिकोण पर आधारित था। अतः मनुष्य विभिन्न भ्रान्तियों में उसी प्रकार उलझता गया जैसे वह बुद्ध के पूर्व उलझ रहा था।

बुद्ध ने पाँच उपादान स्कन्ध (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार व विज्ञान) बतलाये थे। आगे ये भी स्वीकृत हुये। व्यवहारिक रूप से बुद्ध ने आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग का उपदेश दिया था—

(१) सम्यक् दृष्टि (२) सम्यक् सङ्कल्प (३) सम्यक् वचन (४) सम्यक् कर्म (५) सम्यक् जीविका (६) सम्यक् प्रयत्न (७) सम्यक् स्मृति (८) सम्यक् समाधि। दार्शनिक दृष्टि से बुद्ध के सिद्धान्त हैं—(१) प्रतीत्य समुत्पाद (२) क्षणिकवाद। प्रतीत्य समुत्पाद पर हम विस्तार से विचार करेंगे, यहाँ हमने संक्षेप में उसे बताया है। क्षणिकवाद का अर्थ है संसार की प्रत्येक वस्तु एक क्षण स्थित रहने वाली है, दूसरे क्षण में उसका विनाश हो जाता है। आगे चल कर इसका विकास महायानी सम्प्रदाय में हुआ।

---

[1] बुद्ध ने 'संघ शासन' में कर्जदारों का प्रवेश वर्जित कर रक्खा था। इससे स्पष्ट है कि उन्होंने समस्याओं का यथार्थ रूप नहीं सोचा। सेठों की बौद्ध धर्म में सबसे अधिक प्रतिष्टा थी, ब्राह्मणों ने राजाओं को और बौद्धों ने सेठों और राजाओं दोनों को पकड़ा।

बुद्ध 'प्रतीत्य समुत्पाद' को धर्म कहते थे और सबसे अधिक जोर इसी पर देते थे। प्रत्येक उत्पाद (उत्पन्न वस्तु) का कोई न कोई प्रत्यय (कारण) अवश्य है, यही उसका अर्थ था। आगे के दार्शनिकों ने इसकी विभिन्न व्याख्यायें की हैं।

बुद्ध ने १० बातों के उत्तर देने से इन्कार कर दिया था, वे इन पर वाद-विवाद व्यर्थ समझते थे।

लोक— १—क्या लोक नित्य है ?
२—क्या लोक अनित्य है ?
३—क्या लोक अन्तवान है ?
४—क्या लोक अनन्त है ?

जीव व शरीर—५—क्या जीव व शरीर एक हैं ?
६—क्या जीव दूसरा और शरीर दूसरा है ?

निर्वाण— ७—क्या मरने के वाद 'तथागत' मुक्त होते हैं ?
८—क्या मरने के वाद तथागत मुक्त नहीं होते ?
९—क्या मरने के वाद तथागत होते भी हैं, नहीं भी होते हैं ?
१०—क्या मरने के वाद तथागत न होते हैं न नहीं होते हैं ?

इन दस बातों के पूछने पर बुद्ध मौन रह जाते थे। इस 'मौन' में विभिन्न अर्थ लगाये गये। सामान्य अर्थ यह था ऐसे प्रश्नों के ऊपर विवाद करना व्यर्थ है। अष्टाङ्गिक मार्ग से जीवन को संभालने का प्रयत्न करना चाहिये। परन्तु आगे के दार्शनिकों ने बुद्ध के 'मौन' का अर्थ यह लगाया कि वे संसार की वस्तु सत्ता तथा निर्वाण की अवस्था दोनों को अनिर्वचनीय मानते थे। 'नागार्जुन' ने कहा कि किसी भी वस्तु की परिभाषा नहीं की जा सकती। निर्वाण की अवस्था का वर्णन नहीं किया जा सकता। भावात्मक पदार्थों को न सत् कहा जा सकता है, न असत्, न सत् न असत्, न इनसे परे। अतः चतुःकोटियों से परे रहने के कारण वस्तु को शून्य कहना चाहिए। यही शून्यवाद था।

शून्यवादी ने यह भी कहा कि वस्तु सत्ता किसी स्थिर सत्ता (आत्मा, परमात्मा) से शून्य है। विना किसी स्थिर तत्व के यह

जगत कार्य-कारण प्रवाह के रूप में चल रहा है। दूसरे अर्थ में वस्तु सत्ता क्षणिक है, "सभी वस्तुयें क्षण के बाद नष्ट हो जाती हैं और उनके बाद नई वस्तु या घटना क्षण भर के लिए आती है।" इस प्रकार शून्य-वाद की व्याख्या प्रतीत्य समुत्पाद के साथ सम्बद्ध करदी गई। कहा गया कि यह मत न आत्मवादी है न चार्वाक की तरह भौतिकवादी बल्कि बीच का माध्यमिक मार्ग है; जिसमें कार्य-कारण प्रवाह या 'विच्छिन्न प्रवाह' माना जाता है। आगे 'शून्य' का अर्थ विलक्षण न रह कर सत्ता का अभाव मान लिया गया।

विज्ञानवादियों ने बुद्ध के बतलाये हुए 'चित्त' को तो माना परन्तु क्षणिकवाद या प्रतीत्य समुत्पाद से उन्होंने यह अर्थ निकाल लिया कि बाहर की वस्तुयें वस्तुतः हैं नहीं, केवल मन में स्थित विज्ञान ही बाहर दिखाई पड़ते हैं।

सर्वास्तिवादियों तथा वैभाषिकों ने किसी न किसी रूप में वस्तु सत्ता स्वीकार की।

इस प्रकार महायानियों की धारणायें बुद्ध की धारणाओं से क्रमशः अपना अलग विकास पाती गई और उनसे आगे का दार्शनिक विकास सम्भव हो सका।

'हीनयानी' गौतम बुद्ध के बताये मार्ग पर ही रहे, उन्होंने 'क्षणिक-वाद' व निर्वाण की कल्पना में विशेष अन्तर न आने दिया। वे स्थिर रहने के कारण 'स्थविर' रहे।

महायानियों के दार्शनिक सम्प्रदायों का विकास प्रथम शताब्दी से शङ्कराचार्य के समय तक चरम उत्कर्ष को पहुँच चुका था। अतः शाङ्कर वेदान्त की पृष्ठभूमि में हम शून्यवाद तथा विज्ञानवाद का विचार आगे चल कर करेंगे जिन्होंने शङ्कर को प्रभावित किया था। बुद्ध ने जिस बौद्धिकता को रोक कर साधना पर ध्यान देने के लिये कहा था वह साधना तो नागार्जुन ने ही विकृत कर दी थी। उन्होंने तन्त्र का प्रवर्तन किया। अतः घोर बौद्धिकता के ऊहापोह में बौद्ध धर्म फँस गया। शङ्कर ने उन्हीं की तलवार से उन्हीं को मारा और पुनः ब्राह्मणवादी वेद-मूलकता प्रमाणित की।

बौद्ध व जैन धर्म-साधना के साथ शैव व शाक्त मतों का

विकास भी होता गया। विशेषतः ईसा के बाद उनका व्यक्तित्व साफ दिखाई पड़ने लगा। इनके दुहरे रूप सम्मुख आये—एक रूप तो बौद्ध तांत्रिकों के साथ कदम मिलाकर चल रहा था, जिसमें गुह्य साधनायें थीं। दूसरा रूप निगम-आगम मूलक था जिसमें शैव व शाक्त धारणाओं में पवित्रता अवशेष थी। शिव व शक्ति ने पुराणकाल में विष्णु के साथ ही प्रसिद्धता पा ली थी। महाभारत से जो अवतारवाद प्रारंभ हुआ उसने पुराणों में उक्त देवताओं को जन-प्रिय बना दिया। अतः देश में शैव, शाक्त व वैष्णवों का नवोत्थान हुआ। बुद्ध धर्म के समानान्तर यह ब्राह्मणवादी चेतना थी।

ब्राह्मण धर्म ने वेदों के 'रुद्र' को भारत के मूल निवासियों के देवता 'पशुपति' से मिला दिया। लिङ्ग-पूजा तथा सर्प-पूजा को भी स्वीकार कर लिया और आगे चल कर 'रुद्र' के भयङ्कर रूप को उपनिषद् काल में स्थापित 'ब्रह्म' का सृष्टि संहारक रूप देकर अपना लिया। कालान्तर में शक्ति उपासना शैवमत से सम्पृक्त होती गई। महाभारत काल में शिव, विष्णु से भी बड़े माने गये। स्वयं कृष्ण ने उनकी स्तुति की है तथा कृष्ण ने अर्जुन को देवी की स्तुति करने के लिए प्रेरित किया है। तीसरी ओर छांदोग्य उपनिषद में कथित घोर अङ्गरिस के शिष्य कृष्ण को वासुदेव-कृष्ण मान लिया गया था और 'आङ्गरिस' की शिक्षायें 'गीता' के रूप में प्रवर्तित हो चुकीं थीं। पाँचरात्रों के वासुदेव व वृष्णि वंशी कृष्ण में कोई अन्तर नहीं रहा। आगे चलकर शायद 'आभीरों' के 'गोपाल' का भी सम्बन्ध उनसे जुड़ गया और इस प्रकार भगवान कृष्ण (विष्णु-ब्रह्म) की प्रेमलीलाओं का गायन श्रीमद्भागवत में हुआ। ब्रह्मवैवर्त, हरिवंस आदि पुराणों ने विष्णु (कृष्ण) को, देवी भागवत, शिवपुराण तथा तन्त्रों ने 'शिव' व शक्ति की उपासना का प्रचार किया। ईसा पूर्व से ही यह परम्परा विकसित हो चुकी थी और १२ वीं शताब्दी तक पुराणों का निर्माण होता रहा।

किन्तु धार्मिक साहित्य में बौद्धों व जैनियों के समानान्तर जिस साकार उपासना का मार्ग प्रशस्त हो रहा था उसके आदि स्रोत दो ही थे—वाल्मीकि की रामायण व महाभारत। महाभारत इतिहास था, अतः उसमें अनेक प्रवृत्तियों के दर्शन होते हैं और वह एक समय में

निर्मित भी नहीं हुआ है। वह एक वृहत् विश्वकोप है जिसका अन्तिम रूप शायद बौद्ध-धर्म के पूर्ण प्रचार हो जाने के पश्चात् तक निश्चित होता रहा, क्योंकि बौद्ध धर्म सम्बन्धी उल्लेख उसमें बराबर मिलते हैं। किन्तु महाभारत में एक विशेप प्रवृत्ति यह है कि यहाँ 'कृष्ण' को 'विष्णु' का अवतार मानने वाले एक ओर हैं और उन्हें एक सामान्य 'वीर-क्षत्रिय' के रूप में स्वीकृत करने वाले दूसरी ओर। महाभारत में कौरवों व पाण्डवों का तो युद्ध है ही किन्तु उसमें 'विष्णु' का कृष्ण के रूप में अपना संघर्ष भी है, जो सारे देवताओं के ऊपर अधिष्ठाता बनने की चिन्ता में है, जो अनेक अनार्य राजाओं का नाश करता है, अपने को भगवान न मानने वाले दुर्योधन के विरुद्ध कुचक्र रचता है, युद्ध में निःशस्त्र रहने की प्रतिज्ञा की रक्षा करने में असमर्थ हो जाने पर भी विजेता द्वारा 'भक्त-प्रण-पालक' के रूप में अभिनन्दित होता है, जो 'अर्जुन' को विराट का दर्शन कराता है। ऐसा है वह महाभारत का कृष्ण जो ईश्वर बनने की चिन्ता में है और समाज के एक विशाल भाग ने उसे स्वीकार भी कर लिया है। महाभारत 'विष्णु' के उत्कर्ष की कहानी कुछ इसी प्रकार कहता है।

वाल्मीकि की रामायण में राम एक 'वीर-नृपति' के रूप में चित्रित हुये हैं। कहा यह जाता है कि 'रामायण' महाभारत के बाद ईसा से २०० वर्ष बाद बनी होगी। उसका वाल्मीकि द्वारा रचित अंश इस समय तक परिवर्धित और विकसित हो चुका था। अब तक आते-आते राम भी विष्णु बन गये थे। भूलना न होगा कि हमारा साहित्य यहीं से प्रारम्भ होता है। 'मा निपाद प्रतिष्ठात्वं' की पवित्र वाणी की गुंजार वाल्मीकि के मुख से सर्वप्रथम होती है और साहित्य का सृजन होता है। हमने देखा है कि वैदिक मन्त्रों में कविता के तत्व हैं। ब्राह्मण काल में खोजने से यत्र-तत्र कवित्व दुर्लभ नहीं है, तथापि कहा यही जाता है कि क्रौञ्च पक्षियों की क्रीड़ा के समय एक का वध निषाद के हाथों देख कर मुनि का हृदय करुणार्द्र हो गया और वाणी फूट निकली। इसका तात्पर्य यही है कि यद्यपि कविता इसके पूर्व भी थी। जन परम्परा में कविता का कितना विकास हो चुका होगा यह तो सहज ही अनुमान किया जा सकता है। लोक-गीतों का प्रारम्भ तो वैदिक युग से भी बहुत पहले हो चुका होगा क्योंकि वेद के

मन्त्र तो साहित्यिक छन्दस् में लिखे गये हैं परन्तु ललित साहित्य में सृजन का जो दृष्टिकोण रहा करता है वह निश्चित रूप से वाल्मीकि से प्रारम्भ होता है। इस समय साहित्य ने 'दर्शन' से क्या लिया? हमें इस बात का हर्ष होना चाहिये कि संस्कृत साहित्य के प्रथम महाकाव्य पर दार्शनिक धारणाओं का शास्त्रीय प्रभाव कम पड़ा है। क्योंकि उस समय तक षड् दर्शनों का विकास हो ही रहा था। अपने आधुनिक रूप में 'रामायण' पर वैष्णव दर्शन का स्पष्ट प्रभाव है। इसका प्रमाण है जैनियों व बौद्धों के साहित्य में प्राप्त रामकथाओं का रूप। वाल्मीकि रामायण तथा जातक कहानियों में प्राप्त दशरथ व राम की कथाओं तथा स्वयंभू की रामायण को साथ-साथ पढ़ने पर स्पष्ट प्रतीत हो जायगा कि वाल्मीकि रामायण (अपने आधुनिक रूप में प्राप्त) बौद्ध और जैन धर्मों के समानान्तर चलने वाले ब्राह्मण-वादी धार्मिक आन्दोलन के प्रचार का अस्त्र थी। यहीं से साहित्य ने दार्शनिक व धार्मिक धारणाओं के प्रचार के लिये प्रचलित लौकिक आख्यान लेकर अपना कार्य आरम्भ कर दिया था। अशोक के बाद 'शुङ्ग वंश' में बहुत से लोग इस रामायण को लिखा हुआ मानते हैं। कुछ इसके पूर्व इसकी सत्ता स्वीकार करते हैं। जब कालिदास का समय ही ५७ ईसा पूर्व सिद्ध किया जा सकता है तो वाल्मीकि को इसके पूर्व ही मानना पड़ेगा। जो हो, यह निश्चित है कि भास, शूद्रक तथा कालिदास इन कवियों पर वाल्मीकि की रामायण तथा वैष्णवीय चेतना का प्रभाव है। शूद्रक ने भी कृष्ण का नाम लिया है। कविता तो निश्चित रूप से जनता द्वारा पहले से ही व्यवहृत थी। वस्तुतः रामायण व महाभारत दोनों, वैदिक यज्ञ-विज्ञान को उतना न समझने वाले पुरोहितों तथा सूतों द्वारा वीर गीतों के रूप में गाये गये कथात्मक कविताओं के संग्रह थे। परन्तु आगे चलकर उनमें अनेक कथायें, देवताओं की उपासनायें तथा धार्मिक साधनायें भी जोड़ दी गईं। फलतः महाभारत तो एक विश्वकोष बन गया और रामायण एक अलंकृत काव्य। अतः जब हम यह कहते हैं कि रामायण से कविता प्रारम्भ हुई तब उसका यह अर्थ होता है कि अलंकृत काव्य (Ornat poetry) का प्रारम्भ वाल्मीकि से हुआ। जन-काव्य तो इसके पूर्व भी प्रचलित था। वाल्मीकि के बाद 'क्लासीकल साहित्य' पर दार्श-

निक विश्वासों का व्यापक प्रभाव पड़ा, यद्यपि संस्कृत में क्लासीकल साहित्य को 'सैक्यूलर' (स्वतन्त्र) साहित्य कहा जाता है। रामायण से पूर्व के वैदिक साहित्य तथा बाद के सारे क्लासीकल साहित्य में मुख्य अन्तर बताते हुये 'मैकडोनल' ने इस प्रकार लिखा है— While the out look of the Vedas is joyous and optimistic, that of Sanskrit litrature is tinged with melancholy and pessimism which no doubt resulted from···· ····accepted doctrine of transmigration and karma. अर्थात् मैकडोनल वैदिक साहित्य को आनन्दवादी तथा संस्कृत साहित्य को दुःखवादी मानता है। जिसका कारण है आवागमन व कर्मवाद का सिद्धान्त। स्वयं रामायण में उक्त सिद्धान्त स्वीकृत है। आगे के कवियों में भी वे दोनों सिद्धान्त स्वीकार किये गये। सारे बौद्ध व जैन साहित्य में आवागवमन स्वीकृत है। अतः सांसारिक आनन्द को हेय दृष्टि से सर्वत्र देखा गया है। बौद्ध भावनाओं के प्रचार ने दुःखवाद को और भी प्रश्रय दिया। आगे जनता के बीच विकसित बालगोपाल की उपासना तथा किशोर कृष्ण की लीलाओं में पुनः आनन्द वाद प्रस्फुटित हुआ जो संस्कृत तथा देशी भाषाओं में सुन्दर कवित्व का कारण बना। इसके अतिरिक्त धार्मिक भावना का एक बड़ा कारण है, नवीन देवताओं का आगमन। वाल्मीकि रामायण के बाद कुबेर, गणेश, लक्ष्मी, दुर्गा, त्रिदेव, राम तथा कृष्ण का वर्णन अधिक आता है। वस्तुतः बौद्धधर्म के समानान्तर आत्म-रक्षा की प्रवृत्ति में रत ब्राह्मणवाद, महायानियों की तरह अपने अवतारवाद में वैदिक पद्धति को, वेदान्त दर्शन से मिलाकर प्रचारित कर रहा था। विष्णु उपासना का वेग बढ़ रहा था। अवतारवादी भक्ति में सारे आर्य दर्शन मिलकर सामञ्जस्य प्राप्त कर रहे थे। ५०० ई० पू० से अशोक के समय तक बौद्ध प्रचार के बाद शुङ्गवंश में पुनः यह नूतन ब्राह्मणवाद संस्कृत साहित्य में प्रकट होने लगता है और वाल्मीकि रामायण के प्रथम तथा अन्तिम सर्ग, जिनमें वैष्णववाद का प्रचार है, शायद इसी काल में लिखे गये।

परन्तु ब्राह्मणवाद का सबसे अधिक प्रचार तो गुप्तकाल में होता है। चन्द्रगुप्त राजा अपने को 'परम वैष्णव' कहते थे। इस युग में कालि-

दास ने जैसे सारी वैदिक पद्धति के प्रचार का उत्तरदायित्व ले लिया हो। जैसे बौद्ध कवि अश्वघोष ने 'बुद्ध चरित' से बौद्ध धर्म का प्रचार किया, उसी प्रकार कालिदास ने 'शाकुन्तल', 'रघुवंश' तथा 'कुमार सम्भव' में ब्राह्मण-धर्म का, और इसका प्रभाव अशोक के प्रचार से कम नहीं हुआ। जनता की धमनियों में ब्राह्मणवाद को प्रविशित करा देने वाला कवि 'कालिदास' ही था। कालिदास शैव था, परन्तु शैवों में शायद तान्त्रिक शैव नहीं, वेद-मूलक शैव-मत का वह अनुयायी था। अतः उसने शाकुन्तल में ब्राह्मण तपस्वियों के आश्रम का, कुमार सम्भव में कैलाश का, तथा रघुवंश में क्षत्रियों के यज्ञों व युद्धों का, उनके द्वारा ब्राह्मणों को दिये गये दान का ऐसा वर्णन किया है कि ब्राह्मणवादी पद्धति मूर्तिमान हो उठती है। कालिदास ब्राह्मण संस्कृति का गायक कवि था। इस समय तक विश्व के सारे पदार्थों को 'शिव' की मूर्ति मानकर 'शिव' को ब्रह्म स्वीकार कर लिया गया था।* तपोवनों व आश्रमों में यज्ञ पुनः प्रचलित हो गये थे और उनके रक्षकों के रूप में 'पुष्यमित्र' तथा रघुवंश के राजाओं की स्तुति की जाती थी। इस समय अनेक अवतारों की पूजा होती थी। स्मृति, पुराण तथा अन्य बहुत सा साहित्य इसी समय लिखा गया। महाभारत व रामायण के पश्चात् भास, शूद्रक व कालिदास ने अवतारवाद को स्पष्टतः अपना लिया और अवतारों के लीलागान की परम्परा आगे के लिये चल पड़ी। स्मृतिकारों ने जिस ब्राह्मणवादी वर्ण-प्रधान व्यवस्था के लिये नियम बनाये, कवियों ने उन नियमों के पालन करने वालों के लिये आदर्श रूप अवतारों पर महाकाव्य लिखे। परन्तु इनका प्रचार साहित्यिक पद्धति पर हुआ। रामायण व महाभारत के बीच वीर-पुरुषों के यश को गा-गा कर जनता में प्रचार करने की प्रवृत्ति थी। ये जन-गायक रहे होंगे। न उनमें पुरोहित वर्ग के लोग थे न दार्शनिक सम्प्रदायों के, इसीलिये रामायण व महाभारत में कालिदास तथा उनके बाद के कवियों का निखार नहीं आ पाया। वाल्मीकि रामायण तथा महाभारत का सम्बन्ध राजदरबार से उतना न था क्योंकि गायक जनता में अपनी बात का प्रसार करना चाहते थे। कालिदास, माघ व भारवि का सम्बन्ध दर-

* देखिये अभिज्ञान शाकुन्तल की प्रथम शंकर स्तुति।

वारों से होगया जहाँ विद्वानों की समितियाँ जुड़ती थीं। फलतः कविता में दर्शन के दिग्दर्शन की प्रवृत्ति बढ़ती गई। कवि जितना बड़ा दार्शनिक होता उतना ही अधिक आदर होता। 'माघ' के शिशुपाल-वध में उनके षट्दर्शनों का ज्ञान स्पष्ट घोषित हो रहा है।* श्री हर्ष के 'नैषध' में भी काव्य व दर्शन अभिन्न हो गये हैं।

वाल्मीकि-रामायण तथा श्री हर्ष के 'नैषध' को एक साथ देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि साहित्य की प्रथम सृष्टि 'दर्शन' से स्वतन्त्र होकर ही हुई थी। उसका जनता से सीधा सम्बन्ध था, क्योंकि रामायण गाने के लिए लिखी गई थी। यह एक चरित-काव्य था। एक गीतात्मक प्रबन्ध की दृष्टि से जो आदर्श वाल्मीकि ने रक्खा आगे के कवि उसे न निभा सके। कालिदास उसी पथ पर चले, अतः वे ही सबसे अधिक सफल हुये। परन्तु आगे के कवियों में विद्वत्ता के प्रदर्शन की प्रवृत्ति बढ़ती ही गई, अतः उनमें अनेक ज्ञान-विज्ञानों की जानकारी भी एक अनपेक्षित लदाव के रूप में आने लगी। दूसरी ओर 'दर्शन' ने कवियों के दृष्टिकोण को एक विशेष दिशा में प्रसारित किया। जैसाकि हमने कालिदास के विषय में ऊपर कहा कि वह एक ब्राह्मणवादी स्कूल का कवि था अतः उसकी कविता को समझने के लिए ब्राह्मणवादी आस्तिक दर्शनों के समझने की आवश्यकता है। उस समय का ब्राह्मणवादी चिन्तन, कर्मवाद, भाग्यवाद, वर्णाश्रम धर्म, आत्मा, परमात्मा, कर्मकाण्ड (यज्ञ, व्रत, जप, तप, दान, दीक्षा आदि) की

---

* सांख्य के अनुसार पुरुष का रूप—

उदासितारं निगृहीत मानसैर्गृहीत मध्यात्मदृशा कथञ्चन
बहिर्विकारं प्रकृतेः पृथग्विदुः, पुरातनं त्वां पुरुषं पुराविदः।

सांख्य के अनुसार आत्मा व महत्तत्व (बुद्धि)—

विजयस्त्वयि सेनायाः साक्षिमात्रेऽपदिश्यताम्।
फलभाजि समीक्ष्योक्ते बुद्धेर्भोग इवात्मनि॥

शून्यवाद—

सर्वकार्य शरीरेषु मुक्त्वाऽङ्ग स्कन्ध पञ्चकम्।
सौगतानामिवात्माऽन्यो नास्ति मन्त्रो महीभृताम्।

(शिशुपाल वध)

परिधियों में घूम रहा था। अतः कालिदास के साहित्य में इन्हीं भावनाओं के मूर्त आधार प्रस्तुत किये गये हैं। संस्कृत साहित्य पर प्रायः ब्राह्मणों का अखण्ड अधिकार रहा है और यह एक सजग बौद्धिक वर्ग था। साहित्य के माध्यम से उसकी विचारधारा व्यक्त होती रही। कीथ ने इसी ब्राह्मणवादी चिन्तन का सूत्र पकड़ कर कालिदास आदि कवियों की आलोचना की है। ❀

बौद्ध व जैन दर्शनों ने भारत के पूर्वी भाग में अपना प्रभाव स्थापित कर रक्खा था। ब्राह्मणों का प्रभाव 'मध्य देश' तथा पश्चिम की ओर बराबर रहा। ब्राह्मणों का प्रभाव गुप्त काल में विस्तृत हो चुका था, उनका प्रभाव उस क्षत्रिय वर्ग पर था जो अपने को वैदिक कुलीन क्षत्रियों का उत्तराधिकारी समझते थे, और जो नहीं समझते थे यथा विदेशी शक, हूण, आभीर आदि उन्हें ब्राह्मणों ने नये वंशों की संतति बता कर उन्हें भी वैदिक पद्धति में ढाल लिया था।

'सूत्रकाल' (६०० पूर्वेसा) से लेकर गुप्त काल तक पुराणों का प्रचार युग था। 'रामायण' का निर्माण भी इसी बीच में हुआ था। बौद्ध-मत इस अवधि में बढ़ कर शान्त होता जा रहा था। गुप्तकाल के समय से ही 'महायान' बौद्ध शाखा ने बौद्ध धर्म के रूप को मंत्र, तंत्र, पूजा-पाठ, अवतार आदि में ढालने का कार्य प्रारम्भ कर दिया था। अतः हिन्दू-धर्म में उसका विलयन प्रारम्भ हो गया था। हर्षवर्धन के समय एक साथ विष्णु व बुद्ध के धार्मिक उत्सव होने लगे थे। आगे जब बौद्धमत उच्च जनता को आकर्षित न कर सका तो वह निम्न जनता को तान्त्रिक साधना, जप, पूजा आदि के बल पर आकर्षित करने का प्रयत्न करने लगा और फिर 'वामाचार' में डूबकर नष्ट हो गया।

गुप्तकाल में बौद्धमत विष्णु व शिव के सम्प्रदायों में धीरे-धीरे डूबने लगा। बौद्धों की कड़ी आलोचना होने लगी जो शङ्कराचार्य में अपनी चरम सीमा को पहुँच गई।

The Brahman priests reasserted themselves animal Sacrifices forbidden by Asoka were no longer under the royal ban and with this open expression

❀ देखिए "Sanskrit Drama"

of the older cult, the whole system of Brahmanism revived, fostered alike by the temple priests and their ritualism and by the philosophers who regarded Buddhism as both a detestable heresy and a false interpretation of life. ❀

सूत्रकाल से ही ब्राह्मणों ने सामाजिक जीवन को नियमों में बाँधना प्रारम्भ कर दिया था क्योंकि बौद्ध व जैन धर्मों का खतरा सम्मुख था, सूत्र बुद्धकाल में भी बनते रहे। इस काल में पशुबलि के स्थान पर भोजन करते समय अन्न की बलि का अधिक प्रचार हुआ। ये पशुओं व पक्षियों को भी दी जाती थीं, पशुओं पर दया का यह भाव था, यद्यपि कभी-कभी उनकी बलि भी होती थी। 'अन्न की बलि' के पीछे वैष्णव भावना स्पष्ट थी।

यही वैष्णव-शैव मतों के रूप में जीवित ब्राह्मणवाद जो स्मृतियों, पुराणों तथा बुद्धकाल में बने सूत्रों पर आधारित था, संस्कृत साहित्य की पृष्ठभूमि मे था जिसका दार्शनिक प्रवाह अनेक रूप लेता रहा जो भक्तिवाद के रूप में, प्रथम व्यवहारिक रूप से शङ्कराचार्य के यहाँ तथा ध्येय रूप में रामानुज, वल्लभ, निम्बार्क, मध्व के यहाँ मान्य हुआ। अवतारवाद रूपोपासना, नाम-जप आदि के रूप में आगे बढ़ता गया। उसने अपने गर्भ में बौद्ध धर्म को समेट लिया। नाथ व सिद्ध समानान्तर खड़े होकर ब्राह्मणों से शताब्दियों तक लड़ते रहे परन्तु कोरे व्यक्तिवाद ने, जिसमें सर्व-साधारण का ध्यान नहीं रक्खा गया था, उन्हें पीछे छोड़ दिया। उनके आगे के उत्तराधिकारी 'सन्तों' ने उनकी साधना पद्धति का वर्णन करते हुए भी वैष्णवीय भक्ति को ही ऊपर रक्खा। संस्कृत साहित्य में सहजयानी प्रभाव ने जयदेव को तथा हिन्दी में 'विद्यापति' को तथा बँगला में चण्डीदास को उत्पन्न किया। चैतन्य सम्प्रदाय पर भी उसने प्रभाव डाला। अवतारवाद राम-कृष्ण धारा के कवियों में अभिव्यक्ति पाता गया। उधर संस्कृत-साहित्य में भी अवतारवाद की उपासना हुई परन्तु बौद्धिक स्तर उसका उच्च रहा। संस्कृत का अन्तिम महाकवि श्रीहर्ष चलते-चलते शङ्कर के अद्वैत का ही सिंहनाद करता गया।

❀ Cambridge History, chapter IX, Vol. I

संस्कृत-आचार्यों को विभिन्न दर्शनों ने प्रभावित किया। साहित्य शास्त्र की प्रत्येक वस्तु को न्याय, मीमांसा, वेदान्त के प्रकाश में सुलझाया गया। अलङ्कार-शास्त्र में—तात्पर्य, व्यञ्जना आदि वृत्तियों तथा रसानुभूतियों आदि पर मीमांसकों, नैयायिकों, साँख्य दार्शनिकों तथा वेदान्तियों के वाद-विवाद होते रहे। हिन्दी में अभी इस दिशा में कार्य ही नहीं हुआ है। यह दिखाने की बहुत बड़ी आवश्यकता है कि अलङ्कार-शास्त्र (रस, रीति, गुण, अलङ्कार, वृत्ति, आदि) पर 'दर्शन' ने कहाँ तक और क्या प्रभाव डाला है। यह एक अलग विचार का विषय है।

× × × ×

भारतीय साहित्य-साधना उपर्युक्त तत्वज्ञान व धर्मसाधना को लेकर विकसित हुई। संस्कृत के कवियों के अतिरिक्त भाषा के कवियों पर भी उक्त साधना का प्रभाव पड़ा। साधनायें तथा दार्शनिक विचारधाराएँ कवियों के अपने युग की परिस्थितियों के अनुसार उनके काव्य में विकसित होती रहीं। सिद्ध साहित्य में बौद्धों को कठिन साधनात्मक जीवन के स्थान पर मानवीय जीवन के सहज भोगमय रूप को ही आदर्श माना गया। वेदों की परिपाटी पर चलने वाले चारित्रिक दृढ़ता, शास्त्रानुशीलन तथा शब्द-प्रमाण पर जोर देते आ रहे थे। उन्होंने मनुष्य के साधारण भोगमय जीवन के स्थान पर उच्च आध्यात्मिक जीवन को ही ध्येय समझा था। इसके विपरीत सिद्धों ने विद्रोह किया। वेदवादी जिस से घृणा करते थे सिद्धों ने उसी को अपनी साधना समझाने के लिए प्रतीक रूप में ग्रहण किया। पञ्चमकार, युगनद्धवस्था की साधना प्रचलित हुई, ब्राह्मण वर्णाश्रमधर्म में विश्वास करता था। सिद्ध चाण्डाली, डोम्बी, धोबिन के सहवास द्वारा ही 'अद्वय' की प्राप्ति को सम्भव मानता था। ब्राह्मण वेद-शास्त्र की आज्ञा में विश्वास करता था। सिद्ध आत्मानुभूति और उससे भी बढ़ कर सहजानुभूति में, ब्राह्मण द्वारा परमतत्व की अनुभूति 'सिद्ध' के लिए 'सहज' थी क्योंकि वह योगिनी के साथ रमण करते समय 'महासुख' को सहज ही प्राप्त कर सकता था, उसके लिये विशेष कष्टसाध्य प्रयत्न की आवश्यकता न थी। ब्राह्मण जिस यौन-पिपासा को

'राग' को नर्क का द्वार कहता था सिद्ध के लिए वही ध्येय थी। ब्राह्मण जिन व्रत, उपवास, तप, ध्यान, सदाचरण आदि धार्मिक विधानों में विश्वास करता था, सिद्ध उनका घोर खण्डन करता था। वह तो स्वयं अपने आदि स्रोत बौद्धों के कष्टमय जीवन का भी आलोचक था। यही तत्व सिद्ध साहित्य में हमें मिलते हैं। सिद्धों ने यौगिक प्रक्रिया को 'काया-साधना' के रूप में स्वीकार किया और उसकी भीतरी बातों को स्पष्ट करने के लिये इन प्रतीकों को लिया जिनके वर्णन से पवित्रतावादी, कठोर आचारवादी घृणा करते थे—"हे योगिनी! मैं तेरे बिना एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकता, मैं तेरा अधर चुम्बन करूँगा तथा (कमल का) रस पियूँगा।" ऐसी भाषा में सिद्ध अपनी काया-साधना कहने लगे। पवित्रतावादी प्रवृत्ति के (Puritan) ब्राह्मण इनसे घृणा करते तब सिद्ध इन्हें इसी प्रकार चिढ़ाते। प्रतीकों की भाषा में बोलने के कारण गूढ़ आध्यात्मिक अर्थ तो साधारण जन तथा स्वयं साधक भी आगे चल कर समझ न पाये वे डोम्बी, चाण्डाली तथा धोबिन को तलाश कर सीधी लौकिक काम क्रीड़ा करके ही अपने को साधक समझने लगे और इस प्रकार 'महासुख' के अधिकारी समझे गये। बौद्ध साधना इस प्रकार भ्रष्ट हो गई। सिद्ध साधना ने सहज मानवीय जीवन की प्रतिष्ठा तो करनी चाही परन्तु उसका रूप 'सहज' होकर भी सामाजिक न रह सका, वह गुह्य होता गया। अतः समाज के उच्च शिक्षित वर्ग ने इन साधनाओं को हेय समझा। स्वयं यौगिक साधनाओं में विश्वास रखने वालों में इसके विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई और सिद्धों की वासना-प्रियता के विरुद्ध नाथ-पन्थी साधकों का अभ्युदय हुआ।

८४ सिद्धों के साहित्य ने संध्या-भाषा के पद, रहस्यवाद, उलटबाँसियाँ हमें दीं। कबीर की उलटबाँसियों के पीछे सिद्धों की अभिव्यक्ति की ही गूँज थी। बात को विपरीत बना कर कहने का यह ढङ्ग और भी विकसित हो कर नाथपंथी साधकों में दिखाई पड़ता है। प्रायः रूपकों के द्वारा आध्यात्मिक सत्यों की अभिव्यक्ति की जाने लगी। कबीर भी सामान्य जीवन की वस्तुओं के लम्बे रूपकों द्वारा अपने 'सत्य' की व्यञ्जना करते हैं।

सहज सिद्ध-साधना में स्त्री व पुरुष दोनों की सम्मिलित क्रीड़ा

के बिना 'महासुख' की प्राप्ति असम्भव मानी गई अतः उसने समानान्तर प्रवाहमान अन्य साधनाओं को भी प्रवाहित किया। १० वीं शताब्दी के कवि जयदेव राधाकृष्ण की केलि का वर्णन उत्साह से करते हैं। चण्डीदास रामा धोबिन को वेद से भी पवित्र मानते हैं और कृष्ण को उप पत्नी राधा के विलास को वाणी देते हैं, विद्यापति भी इसी पथ पर हैं, अतः स्पष्ट है कि 'सिद्‌ध-दर्शन' को बिना विस्तार से समझे हुये हम जयदेव, चण्डीदास और विद्यापति को नहीं समझ सकते। हम इन वैष्णव कवियों का जब घोर नग्न शृङ्गार-वर्णन पढ़ कर चकित होते हैं और इनकी 'ईमानदारी' में भी अविश्वास करने लगते हैं तो यह भूल जाते हैं कि जयदेव, चण्डीदास की भक्ति-भावना का यह स्वरूप सहजसाधना से ओत-प्रोत होने के कारण ऐसा दिखाई पड़ता है। अतः प्रश्न यह नहीं है कि क्या जयदेव, चण्डीदास के भक्त थे ? वल्कि प्रश्न यह है कि उनकी भक्ति का स्वरूप क्या था ? बिना भक्ति का यह स्वरूप निर्धारित किये हम उन्हें नहीं समझ पाते और खीझ उठते हैं, और यह स्वरूप निर्धारण सिद्‌धों की सहज साधना के अनुशीलन द्वारा ही हो सकता है।

सिद्‌ध-दर्शन ने वैष्णवों को 'राधा कृष्ण केलि विलास' की देन दी। नाथों पर भी उनका प्रभाव पड़ा। तत्वज्ञान की दृष्टि से भी और अभिव्यक्ति की दृष्टि से भी। 'नाथों' में शून्य, सहज आदि शब्द बराबर मिलते हैं। पिण्ड के भीतर ब्रह्माण्ड की साधनाएँ प्रायः वही हैं जो सिद्‌धों में हैं परन्तु उन पर पातञ्जल यौगिक-प्रक्रिया का प्रभाव अधिक हो गया है। बस ! सिद्‌ध व नाथों की इन समानताओं के कारण ही चौरासी सिद्‌धों में नव नाथों के कई नाम आ जाते हैं।

तत्वज्ञान की दृष्टि से हिन्दी कविता में सर्व प्रथम, जैसा हमने ऊपर देखा, सिद्‌धों के अज्ञेयवाद का प्रचार हुआ, और उसकी प्राप्ति का उपाय योग व आत्मानुभूति ही बताई गई। वेदों, शास्त्रों तथा वाह्य धार्मिक विधानों का खण्डन कर दिया गया। सिद्‌धों के 'अज्ञेय-वाद' के पीछे नागार्जुन का 'शून्यवाद' था। हम दिखा चुके हैं कि यद्यपि गौतम बुद्‌ध ब्रह्म और आत्मा के विवादों से दूर रहते थे परन्तु ईसा की प्रथम शताब्दी के वाद बौद्‌धों में तत्वज्ञान व तर्कशास्त्र का विकास द्रुत गति से होता गया। अतः नागार्जुन ने सत्ता को कथन की

चतुर्कोटियों की सीमा में न आने के कारण उसे 'शून्य' कहा। वे चार कोटियाँ ये हैं :—

१—न यह कहा जा सकता है कि वह 'सत् है'
२— ,, ,, 'असत् है'
३— ,, ,, 'सत, असत है'
४— ,, ,, 'न सत है न असत है'

अतः जब वस्तु सत्ता को किसी प्रकार नहीं कह सकते तो वह 'शून्य' ही है। हिन्दू दार्शनिकों ने यहाँ शून्य का अर्थ अभाव लिया परन्तु सिद्धों के यहाँ शून्य का अर्थ सर्वथा 'अज्ञेय तत्व' ही लिया गया। यद्यपि बौद्ध दार्शनिक 'ब्रह्म' में विश्वास न करते थे तथापि अज्ञेय शून्य को सिद्धदर्शन में एक 'अज्ञेय सत्ता' के रूप में स्वीकृत किया गया। अतः वहाँ शून्य का अभावात्मक व भावात्मक दोनों प्रकार का वर्णन मिलता है। "सब कुछ शून्य ही है, शून्य के अतिरिक्त कुछ नहीं" यह भावात्मक वर्णन है और यह भी शून्य नहीं, वह भी शून्य नहीं, शून्य तो कुछ अन्य ही है, न वह 'है' न वह 'नहीं है', वह 'है' या 'नहीं' के बीच की वस्तु है" आदि अभावात्मक वर्णन के स्वरूप हैं। वस्तुस्थिति यह है कि गौतम बुद्ध ने मध्यम मार्ग अपनाया था। वे न तो चार्वाकों की तरह सत्ता का पूर्ण निषेध ही करते थे न ब्राह्मणों की तरह उसे भावात्मक ही मानते थे। बीच का मध्यम मार्ग अपनाने के कारण (आत्मा के न होने पर भी परलोक, कर्मवाद, आवागमनवाद की स्वीकृति, आत्मा के स्थान पर पञ्चस्कन्धों में विश्वास) आगे जब तात्विक विचार प्रारम्भ हुआ तो सत्ता के स्वरूप निर्धारण में भी यही कहा गया कि न वह सत् है, न वह असत् है। सिद्ध, नाथ, कबीर सब यही कहते हुए मिलते हैं। कबीर कहते हैं कि वह सत्ता 'है' व 'नहीं है' के बीच में है। तो सारांश यह निकला कि 'शून्य' को सर्वथा अज्ञेय बताया गया। सिद्धों में 'शून्य' के वर्णन से यही प्रतीत होता है कि जगत की अन्तिम सत्ता (ब्रह्म) का नाम ही शून्य है। इस प्रकार बौद्ध दर्शन जो अनात्मवादी था, अब्रह्मवादी था, उसमें ब्रह्म का प्रवेश शून्य के रूप में होगया और योगिनी के रूप में 'शक्ति' की भी उपासना होने लगी। आगे वैष्णवों में ब्रह्म के अवतार 'कृष्ण' के साथ योगिनी के रूप

में राधा को आदि शक्ति कह कर संयुक्त कर दिया गया।

सिद्धों व नाथ पन्थ के बीच में विकास के सोपान अवश्य रहे हैं। सिद्ध दर्शन ७ वीं शताब्दी से १० वीं शताब्दी के आस-पास तक विकसित होता रहा और नाथ पन्थ १० वीं शताब्दी से १३ वीं या १४ वीं शताब्दी तक चलता है। सिद्ध दर्शन के विकास की प्रायः ३०० वर्ष की अवधि में ही शङ्कराचार्य का प्रचार कार्य चला था।

शङ्कर ने उपनिषद् के ब्रह्म का वर्णन शून्यवाद की पद्धति पर ही किया है, उनके दार्शनिक सिद्धान्त यद्यपि उपनिषद पर आश्रित हैं परन्तु उन पर जो शङ्कर की अपनी छाप है वह शून्यवाद के क्रोड़ से ही विकसित हुई थी, विज्ञानवाद बाह्य जगत को 'स्वप्नवत्' मानता है। शङ्कर उसे मिथ्या मानते हैं, मिथ्या अर्थात् व्यावहारिक दृष्टि से सत्य भले ही हो पर पारमार्थिक दृष्टि से वह शुक्ति में रजत के भ्रम की तरह ही केवल प्रतीयमान सत्ता रखने वाला है जिसे न हम सत् कह सकते हैं न असत। स्पष्ट है कि विज्ञानवाद के स्वप्नवाद व शङ्कर के 'मिथ्यावाद' या 'मायावाद' में समीपता है। यों शङ्कर ने विज्ञानवाद के स्वप्न-सिद्धान्त का खण्डन किया है। ब्रह्म के स्वरूप निर्धारण में शून्यवाद का प्रभाव है। ब्रह्म का वर्णन शङ्कर सर्वथा अज्ञेयवाद की भूमिका पर ही करते हैं यद्यपि उपनिषद् में उसका सगुण रूप भी मिलता है, परन्तु शङ्कर ने उसे मायात्मक घोषित कर एक प्रकार के अज्ञेयवाद की ही पुष्टि की। जिसे अज्ञेयवाद न कह 'अनिर्वचनीयता-वाद' कहना चाहिए क्योंकि शङ्कर स्पष्टतः सत्ता का अस्तित्व मानते हैं, पर वह सत्ता वर्णित नहीं हो सकती—गो, गोचर, मन, वाणी के वह सर्वथा परे है।

शङ्कर की ऐतिहासिक देन ब्रह्म व जीव की एकता घोषित करना है, 'माया' के सिद्धान्त द्वारा उन्होंने यह सम्भव कर दिखाया। सिद्ध दर्शन के बाद आने वाले नाथ-पन्थ के दर्शन में शङ्कर का ब्रह्म व सिद्धों का शून्य मिल कर एक हो जाता है। दोनों में कोई अन्तर नहीं रहता। नाथ माया के सिद्धान्त को शङ्कर से ही लेते हैं और उसे भ्रान्ति उत्पन्न करने वाली 'शक्ति' मान कर 'नटिनी' आदि कह कर खूब गालियाँ सुनाते हैं। कबीर भी यही परम्परा निभाते हैं।

नाथ निश्चित रूप से एक सत्ता में विश्वास करते हैं। उसे शून्य, अक्षर अगम, अगोचर आदि कहते हैं। शङ्कर से भेद बतलाने को नाथपंथी अपने को द्वैत, अद्वैत से विलक्षण परमसत्ता के विश्वासी बतलाते हैं। पर जैसा कहा कि शङ्कर का अद्वैत स्वयं अनिर्वचनीय है, उसे सच्चिदानन्द स्वरूप आदि जब विशेषण दिये जाते हैं तो समझाने के ही लिए, अतः शङ्कर के अद्वैतवाद में तथा नाथों के द्वैताद्वैत विलक्षणवाद में तत्वतः अन्तर नहीं है। किन्तु नाथों के बहुत से पदों में बौद्ध पद्धति पर ही उस सत्ता की विलक्षणता पिष्ट पेषित होती रहती है। तो स्पष्ट होगया कि सिद्धों के शून्य व शङ्कर के अद्वैत तत्व से ही नाथों का 'द्वैताद्वैत विलक्षणवाद' विकसित हुआ जो अपने मूल में अद्वैतवाद ही है। नाथों की माया का आधार भी शङ्कर की माया ही है यद्यपि उसके विवेचन में थोड़ा अन्तर है। तत्वज्ञान की दृष्टि से नाथ जगत के मिथ्यात्व पर जोर कम देते हैं। माया को वे भ्रान्ति में डालने वाली शक्ति के रूप में ही वर्णित करते हैं।

१० वीं शताब्दी के बाद हम वेदान्ती तत्वज्ञान की विजय का प्रतिबिम्ब प्रायः सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य में देखते हैं। यद्यपि वैष्णव आचार्यों की प्रतिक्रिया शंकर के विरुद्ध बड़ी कठोर हुई थी तथापि मूलतः सारे भक्त कवि हैं वेदान्त के विश्वासी ही, यद्यपि उनमें परस्पर अन्तर है। १० वीं शताब्दी के हिन्दी साहित्य में एक ओर वैष्णव सहजिया कवि हैं—जयदेव, चण्डीदास, विद्यापति आदि।

दूसरी ओर वैष्णव कवि हैं—सूर, तुलसी आदि।

तीसरी ओर सन्त कवि हैं—नामदेव, ज्ञानेश्वर, तुकाराम, रामदास (दक्षिण में) तथा कबीर, दादू, नानक, मलूक, सुन्दर आदि (उत्तर मे)।

चौथी ओर सूफी कवि हैं—जायसी, उस्मान, कुतुबन आदि।

इन्हें वैष्णव, सूफी व सन्त कवि इन तीन वर्गों में भी बाँटा जा सकता है। यद्यपि सन्तों को भी कुछ लोग वैष्णव भक्त मानते हैं तो दो ही वर्ग रह जाते हैं (१) वैष्णव कवि, (२) सूफी कवि।

इनमें सूफी साहित्य की जहाँ तक दार्शनिक धारणाओं का सम्बन्ध है वहाँ वे फारस व भारत की दार्शनिक धारणाओं से ही

विकसित हुई हैं। इस्लाम के एकेश्वरवाद में ईश्वर व जीव का सम्बन्ध भेदवाद पर निर्भर है। उसकी साधना दास्य-भाव सम्बन्धी है। बन्दे व खुदा की एकता इस्लाम में कुफ्र मानी जाती रही है, अतः जब हम सूफियों को जीव व ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन करते पाते हैं तो स्पष्ट हो जाता है कि वेदान्त के प्रभाव ने ही सूफी दर्शन को वर्तमान रूप दिया है यद्यपि उस पर यूनानी दर्शन का भी पर्याप्त प्रभाव है। इस सम्बन्ध में दारा-शिकोह का प्रयत्न सराहनीय है। उन्होंने शङ्कर के अद्वैतवाद तथा सूफी दर्शन में केवल शब्दावली का ही अन्तर बताया है जिसे हम संक्षेप में यथा स्थान देखेंगे। अतः स्पष्ट है कि 'तसुव्वुफ' जीव ब्रह्म ऐक्य का ही सिद्धान्त है जिसमें 'प्रेममूला' पद्धति स्वीकार की गई है। आत्मा को प्रेमी तथा ब्रह्म को प्रेमास्पद स्वीकार कर लेने के कारण प्रेममूलक रहस्यवाद का विकास साहित्य के क्षेत्र में दिखाई पड़ता है।

सूफियों में अनेक सम्प्रदाय रहे हैं। कुछ पर तो शङ्कर के केवलाद्वैत का प्रभाव है जो स्पष्टतः जगत को मायात्मक घोषित करते हैं इन्हें 'वजूदिहा' कहते हैं। ये ब्रह्म को निमित्त व उपादान दोनों कारण मानते हैं परन्तु हिन्दी के 'सूफी कवि' प्रमुखतः प्रतिबिम्बवाद तथा 'सर्ववाद' की ही पुष्टि करते हैं। इसमें जगत को विशिष्टाद्वैती-पद्धति पर चिदंश स्वीकार कर, उसमें साधक अपने प्रेमपात्र का आभास देखता है। जायसी में यह 'सर्वात्मवाद' सर्वत्र मिलता है। जायसी के लिए जगत की वस्तुएँ मिथ्या नहीं हैं। वे उसी ब्रह्म के प्रतिबिम्ब रूप हैं, 'हंस में आराध्य' (पद्मावती) का हास्य है, हीरों में उसी के दन्त की आभा है। सरि, सरिता, सरोवर, समुद्र उसी की निर्मलता के प्रतिबिम्ब हैं, कमल भी उसी के नयनों के प्रतिरूप हैं।" यह पद्धति यत्र-तत्र कबीर में भी पाई जाती है परन्तु उनका स्वर अद्वैतवादी ही है, 'सर्ववाद' उसी का अङ्ग बन कर स्वयं आ जाता है। परमतत्व के स्वरूप के अतिरिक्त साधना पद्धति प्रायः विदेशी है, जिसका आदि स्रोत ईरानी-सूफी साधनाओं में है। आधुनिक सूफी सम्प्रदाय कुरान, यूनानी दर्शन तथा भारतीय वेदान्त का मिश्रित रूप है। इस पर भारतीय योगमार्ग का अप्रतिम प्रभाव पड़ा है, क्योंकि सूफी फकीर भी चमत्कार दिखा कर प्रसिद्धि पाने के सदा इच्छुक रहे हैं, ईरान में

भी और भारत में भी। (देखिये तसुव्वुफ और सूफीमत)

दूसरा वर्ग वैष्णव कवियों का है। इनमें सहजिया वैष्णव साधना में कृष्ण व राधा की लीला का विकास हम संक्षेप में दिखा चुके हैं। इन कवियों में 'लीला' वस्तुतः सहजियों की 'कामकेलि' (युगनद्ध, अद्वय साधना) का ही वैष्णव रूप है जो अपेक्षाकृत अधिक सामाजिक है क्योंकि आगे चलकर लीला में जीवन के अनेक पक्षों का समावेश होता गया है। यदि भागवत १० वीं शताब्दी के आसपास लिखी गई है तो निश्चित रूप में इसकी कामकला-केलि पर सहजिया प्रभाव खोजा जा सकता है। परन्तु भागवत में गोपी-कृष्ण-विलास शायद आभीरों की स्वतन्त्र यौन-सम्बन्धों की प्रतिध्वनि मात्र है। साथ ही रासलीला का सिद्धान्त कुछ पुराना है। प्राकृत-काव्य में भी कृष्ण के प्रेम का वर्णन मिलता है।[1] सहजिया आन्दोलन से प्रभावित जयदेव के रास के समय तथा भागवत के रास के समय में भी अन्तर है।[2] अतः यही ठीक है कि कृष्ण भक्तों में अर्थात् सूरदास, नन्द-दास आदि में भागवत की परम्परा तथा सहजिया वैष्णव परम्परा जो कि सहजिया साधना के सिद्धान्त लेकर विकसित हुई (राधाकृष्ण की प्रेमलीला) एक होकर एक नया रूप धारण कर लेती है। यह तो रही राधाकृष्ण व गोपियों की लीलाओं की बात। पर महत्व के सम्बन्ध में, सहजिया वैष्णव, जयदेव, चण्डीदास, विद्यापति आदि कवियों में कृष्ण का रूप वस्तुतः निरुपाधि ब्रह्म का ही रूप रहा है। वल्लभ को छोड़ कर कोई भी वैष्णव आचार्य ब्रह्म के सगुण रूप को निर्गुण से श्रेष्ठ नहीं ठहराता, सभी यही स्वीकार करते हैं यद्यपि ब्रह्म निर्गुण है परन्तु वह कुछ कारणों से अवतार भी लेता है और अव-तारी ब्रह्म तथा निर्गुण ब्रह्म में कोई भेद नहीं है। राम और कृष्ण इसीलिए परात्पर ब्रह्म हैं। तुलसी तो जैसे इसे सिद्ध करने के लिए सदा कटिबद्ध रहते हैं। सूर के यहाँ ऐसी कोई समस्या है नहीं क्योंकि वल्लभ ब्रह्म का मुख्य रूप सगुण बताते हैं, निर्गुण रूप तो उससे निम्नकोटि का है। इस प्रकार परमतत्व प्रायः सर्वत्र विलक्षण है, वह विष्णु के रूप में अवतरित होकर भी 'हरि विधि शम्भु नचावन हारा'

---

[1] देखिए गाथा सप्तशती'

[2] देखिए मध्यकालीन धर्म साधना—डा॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी

ही है, अतः वह तत्व 'अद्वैत' ही है। भक्ति के सभी साहित्य का वर्ण्य ब्रह्म मूलतः अद्वैत है। यह 'अद्वैततत्व' ही बौद्ध धर्म के अभावात्मक दर्शन पर भारी विजय है। षड्दर्शनों के विकास की अन्तिम सीमा १० वीं शताब्दी है। इस बीच में बौद्ध दार्शनिक धारणायें समाज के शिक्षित उच्च वर्ग में अपना महत्व खो बैठती है, अतः आगे उनकी शब्दावली तो मिलती है परन्तु उनसे सांकेतित 'सत्य' की प्रतिष्ठा बौद्ध-धर्म के अनुसार न होकर वेदान्त के अनुसार होती है। कुछ पर शंकर का प्रभाव रहता है कुछ पर रामानुज का।

नाथ पंथ में शून्य, ब्रह्म का वाचक बन जाता है, सहजावस्था जीवन्मुक्ति की प्रतीक बन जाती है। भारतीय योग मत के अनुसार समाधि में मिलने वाला आनन्द ही पतञ्जलि के पश्चात् पुनः प्रतिष्ठित हो जाता है, जो बौद्ध शब्दावली को सहसा नहीं छोड़ता।

सन्तों में इसी ब्रह्म की प्रतिष्ठा है, सन्त निश्चित रूप से एक सत्ता में विश्वास करते हैं किन्तु इस सत्ता का वर्णन शक्य नहीं है। इनमें कुछ अद्वैतवादी हैं जो जगत को मायाकृत मानते हैं यथा कबीर, और कुछ किन्हीं अंशों में सर्वात्मवादी हैं यथा सुन्दरदास। किन्तु सभी सन्त ब्रह्म के वर्णन करने में बौद्ध पद्धति को अन्त तक नहीं भूलते। सुन्दरदास चूँकि शिक्षित थे अतः उनके विवेचन विशुद्ध वेदान्त की शब्दावली व प्रतीकों को अपनाते हैं, अशिक्षित सन्तों में सिद्धों के समय से नाथ-साधकों द्वारा व्यवहृत जो शब्दावली 'अज्ञेय तत्व' को समझाने के लिए चली आ रही थी वही बराबर प्रयुक्त होती हुई मिलती है। सन्तों के सिरमौर कबीर में तो वह बराबर मिलती है। सुरति, निरति, शून्य, खसम आदि बराबर सिद्ध दर्शन के शब्द मिलते हैं। सरहपा के अनुसार सत्ता सत व असत दोनों से परे है—कबीर, दादू, नानक, पलटू, दयाल सभी यही कहते हैं—"चित्त को खसम=आकाश सम बनाओ, मन को 'अमन' बनाओ अर्थात् मन की गति के विपरीत चलो, तभी 'सहज' की प्राप्ति होगी।" कबीर में यह शब्दावली बराबर मिलती है किन्तु कुछ शब्दों के अर्थों में विकास हुआ है।❀ हठयोग में भी मनोमारण की क्रिया का विस्तार है और सन्तों में भी, इस प्रकार यह स्थापना दृढ़ होती है कि बौद्धों

❀ देखिए कबीर—पं० हजारीप्रसाद

की अभावात्मकता के स्थान पर बौद्ध सिद्धों तथा नाथों की शैली में सन्तों ने भावात्मक सत्ता का वर्णन किया है, अनुभूति के उच्च स्तरों पर सिद्धों, नाथों व संन्यासियों ने क्रमशः सहजानन्द तथा 'सोऽहमस्मि' का आनन्द अनुभव किया। था अतः जहाँ एक ओर कबीर 'तत्त्वमसि' सोऽहमस्मि का वर्णन करते हैं वहाँ दूसरी ओर सहज की रट लगाते हैं। सन्तों की दृष्टि में दोनों स्थितियों में कोई अन्तर नहीं है।

फिर भी सन्तों की धारणाओं में कुछ न कुछ अन्तर अवश्य पाया जाता है, यथा तीन बड़े सन्तों कबीर, नानक व दादू को लिया जाय तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि परमतत्व के सम्बन्ध में इनकी धारणायें प्रायः एक हैं। तीनों उसे सत्, असत् से विलक्षण मानते हैं। दादू पर कुछ सूफी प्रभाव विशेष है। साधना-पद्धति की दृष्टि से कबीर में विवेक की प्रधानता है, यद्यपि भक्ति पर भी बहुत जोर दिया गया है, परन्तु नानक व दादू में आस्था व प्रेम बहुत अधिक है। कबीर एक ही सत्य की स्थापना के लिये सारे विधि विधानों का खण्डन अनावश्यक समझते थे अतः वे क्रान्तिकारी थे, परन्तु 'नानक' समन्वयवादी थे। दादू की सामाजिक चेतना और भी कम जागृत थी। वे निष्ठा व सद्भाव द्वारा ही सुधार करना चाहते थे। कबीर की तरह सत्य को आलोचना की आँच में डालकर उन्होंने नहीं परखा।

सत्य की व्याख्या में कबीर, नानक व दादू के अतिरिक्त राघोदास (निरञ्जन सम्प्रदाय), मलूकदास, बीरू साहब, पलटू साहब (बावरी पन्थ), शिवदयाल (राधास्वामी सम्प्रदाय) आदि सब ने 'अज्ञेयत्व' को ही स्वीकृति दी है। किन्तु इन सब में जप व भक्ति का महत्व बहुत अधिक है। भक्ति के सम्बन्ध में हम उसका विकास यथा स्थान दिखायेंगे, किन्तु यहाँ इतना याद रखना आवश्यक है कि सिद्ध-दर्शन के विकास काल में उत्पन्न शङ्कराचार्य ने 'स्मार्त मत' का पुनरुद्धार किया था जिसमें साकार रूपों की गणेश, विष्णु, शिव आदि की उपासना होती थी और कीर्तन तथा जप का विशेष महत्व था। बौद्ध भिक्षुओं के संगठनों को देख कर शङ्कर ने भी मठों तथा स्मार्त-मतों की मण्डलियों का सङ्गठन किया था। सिद्धान्ततः शङ्कर इस साकारोपासना को चित्त शुद्धि के लिए अनिवार्य मानते थे और सर्वसाधारण के लिए तो वह ध्येय थी ही अतः ८ वीं शताब्दी के बाद इस

स्मार्त मत का प्रचार खूब हुआ, यद्यपि उसकी अखण्ड-धारा रामानुज के समय से, ११ वीं शताब्दी के बाद से प्रवाहित हो पाई। साथ ही दक्षिण से आड़वार सन्तों के प्रयत्न तथा पीछे से रामानुज, नामदेव तथा रामानन्द के प्रयत्न से भक्ति की धारा अप्रतिहत वेग से बहने लगी। इसमें मुख्य बात यह थी कि ईश्वर को प्रेम द्वारा प्राप्त किया जाय, उसे भावनाओं का विषय बनाया जाय। श्री परशुराम चतुर्वेदी ने दिखाया है कि १० वीं शताब्दी के बाद जो वैष्णव भक्ति का आन्दोलन चला उस पर सूफियों के प्रेम का प्रभाव था। परन्तु सूफियों के भारत में आगमन के पूर्व ही भक्ति का यहाँ विकास हो चुका था। दूसरे सूफियों के प्रेम की पीर व भक्तों के भाव में मनोवैज्ञानिक अन्तर है, जो दोनों प्रकार के साधकों को अलग कर देता है। हमारे यहाँ राधा की उपासना करने वाले भी 'राधा के गुलाम' रहे, 'राधा के यार नहीं'। जैसा कि सूफी धर्म में मिलता है। हाँ, प्रेम के क्षणों में जैसे सूफी छटपटाते थे वैसे ही छटपटाहट भक्तों में भी आ गई थी। यथा—मीरां, व चैतन्य में। चैतन्य को तो 'हाल' भेंट आ जाते थे, वल्लभ भी कृष्ण के प्रेम में बेहोश हो जाते थे परन्तु मूलतः वैष्णव भक्ति स्वतन्त्र होकर ही भारत में विकसित हुई थी। तो भक्ति में नाम का जप और रूप का ध्यान होता है, तथा इष्टदेव के कृत्यों का स्मरण होता है, सन्तों में रूप रहित ब्रह्म की आराधना के कारण रूपोपासना सम्भव न थी उनमें नाम का जप—जिसकी अन्तिम सीमा 'अजपा-जाप' में थी, प्रचलित था। 'हरिनाम' और 'सतगुरु' की सीख ये ही सन्तों के आधार हैं। इष्टदेव के कृत्यों का स्मरण भक्तों में अधिक मिलता है—प्रहलाद, निषाद, शबरी के उद्धारक तथा असुरों के संहारक भगवान की इन कथाओं को बार-बार याद करते हुये भक्त नहीं तृप्त होता, परन्तु सन्तों में इसके स्थान पर ईश्वर को प्रेम का आधार बना कर आत्मा का उसके लिए विरह जगाया जाता है और उसमें वे सूफियों की तरह ही तड़पते हैं। कबीर कहते हैं कि या तो विरही को दर्शन दो या मार डालो, यह आठ पहर का 'दाझणा' नहीं सहा जाता। ऐसी विरह-विह्वलता सन्तों में अत्यन्त मार्मिक ढङ्ग से व्यक्त होती है।

भक्ति के अतिरिक्त सन्त काया साधना व योग में भी विश्वास करते हैं अतः उनके पदों में नाथ पन्थ पर आधारित योगिक क्रियाओं

का विस्तृत और जटिल वर्णन मिलता है। इनमें कबीर पर नाथ-पन्थ का सब से अधिक प्रभाव है, जिसका विस्तृत वर्णन आगे किया गया है। तत्व दर्शन, भक्ति, योग तथा सूफियों की प्रेम की पीर ये ही तत्व सन्तों के साहित्य के पीछे हैं। इसमें इन सब का समन्वय है या कोई एक धारा है इस पर हम कुछ कह चुके हैं वस्तुतः तत्व दर्शन तो वेदान्त पर आधारित है. सिद्ध करने की पद्धति तथा शब्दावली-शून्य, सुरति आदि बौद्ध दर्शन से आगई है।

भक्ति का तत्व विशुद्ध भारतीय है पर प्रेम की पीड़ा सूफियों से आई है। 'योग' पर नाथ पन्थ का प्रभाव है परन्तु इसमें सिद्धों की गुह्य साधना भी प्रतिबिम्बित होती है। शैली निश्चित रूप से प्रायः आत्मानुभूति पर विश्वास करने वाले सिद्धों व नाथों की परम्परा में है जो वेद, आचार, शास्त्र, धर्मविधान में विश्वास नहीं करते। इस प्रकार सन्त मत की दार्शनिक पृष्ठभूमि के लिए इन सब का संक्षिप्त अध्ययन आगे प्रस्तुत किया गया है।

साकारोपासक भक्त कवियों में वेदान्त के विरुद्ध प्रतिक्रिया मिलती है पर वहीं तक जहाँ तक जगत व जीव की व्याख्या तथा ज्ञान व भक्ति की तुलना का तात्विक विवेचन चलता है। शङ्कर के विरुद्ध चार वैष्णव आचार्यों रामानुज, निम्बार्क, वल्लभ व मध्व के सिद्धान्तों की जो स्थापना हुई उन्हीं सिद्धान्तों के अनुसार प्रत्येक सम्प्रदाय के कवियों ने अपने सिद्धान्त बनाये। इनमें कुछ तात्विक ऊहापोह में नहीं पड़ते, यथा सूर, परन्तु कुछ कवि बड़े समारोह से, काव्य की पद्धति पर दर्शन का विवेचन करते हैं, यथा तुलसीदास। वस्तुतः सारे भक्त कवि लीला-गायक हैं और अपने आचार्यों के सिद्धान्तों के पूर्णतया अनुवर्ती तथा प्रचारक हैं, इस सम्बन्ध में ये कवि स्वतन्त्र चेता नहीं दिखाई पड़ते परन्तु 'तुलसी' का व्यक्तित्व हमें बहुत अधिक आकर्षित करता है। भक्त कवियों में यही एक ऐसा कवि है जो अपने समय तक के सारे विकसित दार्शनिक सिद्धान्तों की गूढ़ विवेचना कर उनमें ऐसा समन्वय प्रस्तुत करता है कि हम यही निश्चित नहीं कर पाते कि वह अन्ततः किस सिद्धान्त का परिपोषक है। उसमें वेद, शास्त्र, स्मृति, महाभारत, रामायण, पुराण आदि भारतीय ज्ञानस्रोत से जैसे सार-अंश खिंचकर स्वयं 'मानस' के जल के रूप में परिवर्तित हो गया है,

मानस की लहरों में कभी हम शङ्कर का 'मायावाद' देखते हैं तो कभी विशिष्टाद्वैत। बिहारी के 'ताफते' की तरह तुलसी का दर्शन भी बहुरङ्गी है। इतने रङ्गों को मिलाकर इतनी सङ्गति बनाये रखना तुलसी का ही कार्य था। सूर में यह विराट् दृष्टि नहीं मिलती। उनका पथ उलझनों से रहित है, उनमें सामाजिक चेतना कम नहीं है। वे नाथपन्थी साधुओं तथा शङ्कर के अनुयायियों का घोर खण्डन करते हैं और 'सर्वसाधारण-वाद' का प्रचार करते हैं, प्रेम और समर्पण को ही सारा सामाजिक महत्व देते हैं तथापि तुलसी की अन्तर्दृष्टि महान थी, तात्विक दृष्टि से शैव, वैष्णव अद्वैत, द्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि अनेक द्वन्द्व खड़े हो जाते थे परन्तु भक्ति की दृष्टि से तुलसी ने इन सारे द्वन्द्वों को बिलग कर, हिन्दू धार्मिक साधनाओं तथा दार्शनिक धारणाओं में सामञ्जस्य बैठाया। यही उनका ऐतिहासिक कार्य था। तुलसी को कहीं कोई विरोध नहीं दिखाई पड़ा। उनकी 'सियाराममय' दृष्टि इतनी अधिक परिष्कृत हो चुकी थी कि उन्होंने हिन्दुओं में आत्मबोध जगाने वाली सारी धारणाओं को समेट लिया। किन्तु सूर की तरह नाथपन्थी योगियों, सिद्धों, कापालिकों, वाममार्गियों, भूत-प्रेत उपासकों तथा यवन-निष्ठावादियों की उन्होंने कठोर आलोचना की है। इतिहास किस प्रकार अपने आप को दुहराता है यह हमें यहाँ ध्यान से देखना चाहिए। ८ वीं शताब्दी में जैसे शङ्कर ने बौद्ध साधनाओं की कड़ी आलोचना की थी और वेदवादी चिन्तन का उद्धार किया था, साथ ही व्यवहारिक दृष्टि से ही सही, उन्होंने स्मार्त मत का उद्धार कर उपासना, पूजा आदि को अपनाया था। जिस प्रकार उसके भी पूर्व गीता ने ज्ञान व योग की गहने वाली अनेक धारणाओं से—'ज्ञान कर्म समुच्चय' का भक्तिमूलक मार्ग चुन लिया था और न सांख्य का विरोध किया था न कर्मयोग का। वैदिक कर्मकाण्ड की हलकी सी निन्दा करके जैसे उसे भी अपना लिया था। उसी प्रकार 'तुलसीदास' ने १७ वीं शताब्दी में केवल उन्हीं धारणाओं को अपनाया जो वेदों के सर्वथा विपरीत नहीं पड़ती थीं या किसी न किसी रूप में वेद-उपनिषद तथा पुराणों से जिनका सामञ्जस्य बैठाया जा सकता था। बौद्ध धर्म के पतन के बाद से यवनों के आधिपत्य के प्रारम्भ काल में यह विशेष प्रवृत्ति विकसित होती आरही थी कि प्रत्येक मत अपने को

वेदमूलक सिद्ध करता था, अद्वैतवादी तथा आगमवादी (शैव, शाक्त) दोनों मतों में यही प्रवृत्ति चली आ रही थी परन्तु शैव व शाक्तों में भी जो आगमवादी थे उन्हें तो तुलसी ने अपनाया और शिव व शक्ति की उपासना को स्वीकार किया परन्तु जो शैव व शाक्त वेद के विरुद्ध थे यथा कापालिक, उनकी तुलसी ने कठोर निन्दा की। दूसरी ओर सिद्ध व नाथ सम्प्रदाय के साधक जो अपने को स्पष्टतः वेद-विरुद्ध घोषित करते थे उनकी भी कठोर से कठोर शब्दों में तुलसी ने भर्त्सना की है। तीसरी ओर निर्गुणवादी अवैदिक मतानुयायी सन्तों कबीर आदि की भी तुलसी ने निन्दा की है। अतः जब हम कहते हैं कि तुलसी समन्वयवादी थे, तो उस समन्वय का स्वरूप क्या था इसे हमें समझना होगा। तुलसी ने केवल अपने को 'वैदिक' कहलाने वाले मतों में ही समन्वय स्थापित किया है। अवैदिक मतों के वे शङ्कराचार्य से भी अधिक कठोर शत्रु थे। इसका कारण यही था कि यवनों की विजय के बाद उन्हें ब्राह्मणवादी हिन्दू समाज की रक्षा करनी थी, निगम-आगम, स्मृति पर जीवित ब्राह्मणवाद का उद्धार तुलसी के द्वारा तभी सम्भव हो सका।

तुलसी को उन ब्राह्मण सुधारकों व दार्शनिकों की उक्तियों में कहीं कोई विरोध ही नहीं दिखाई दिया जिन्होंने अपनी धारणाओं का आधार प्राचीन हिन्दू शास्त्रों को बताया था। कम से कम तुलसी के लिए वहाँ कोई विरोध नहीं। अतः उनके यहाँ द्वैत, अद्वैत विशिष्टाद्वैत सभी कुछ मिलता है परन्तु तुलसी ने अब्राह्मणवादी, अवैदिक, मतों से कभी कोई समझौता नहीं किया। क्यों, इसीलिए कि ये मत ब्राह्मणवादी व्यवस्था के शत्रु थे, वे जाति-पाँति, वर्णाश्रम धर्म, वेद-निष्ठा, बाह्य धार्मिक विधान के कठोर आलोचक थे। तुलसी भी भक्ति के नाते, जाति-पाँति को नहीं मानते पर केवल भक्ति के नाते, सामान्य व्यवहार में वे उसके प्रबल समर्थक थे अतः कोरी आत्मानुभूति के बल पर खड़े होने वाले निरक्षर सन्तों के सम्प्रदायों को देख कर उन्हें बड़ा क्रोध आता था:—

"दम्भिन निज मत कलप करि, प्रगट कीन्ह बहु पंथ।"

अब हम यह देखें कि वैदिक मतों में जो सामञ्जस्य तुलसी ने खोजा उसका स्वरूप क्या था?—इस पर आगे विचार किया गया है।

यहाँ इतना और द्रष्टव्य है कि तुलसी ने शंकर के अनिर्वचनीय ब्रह्म को ही स्वीकार किया और जगत व जीव सम्बन्ध में भी शंकर का ही सिद्धान्त उन्हें मान्य था। किन्तु तुलसी तत्ववादी आचार्य न थे भावुक भक्त थे अतः भक्ति की व्यवहारिक दृष्टि से पूर्णतया अद्वैत रह ही नहीं सकता इसीलिए तुलसी ने शंकर के सिद्धान्त को अपने ढङ्ग से प्रस्तुत किया है। वे 'माया' को शक्ति रूप में स्वीकार कर लेते हैं और उसका अवतार 'सीता' को बतलाते हैं। ब्रह्म निर्गुण निरुपाधि होने पर भी तुलसी के अनुसार जब अवतार धारण करता है तब वह 'मायाकृत' रूप नहीं होता, यथा शंकर कहते हैं, वह तो विशुद्ध ब्रह्म ही रहता है।

अतः अवतार व निर्गुण ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं है। जीव ब्रह्म-स्वरूप है सही, परन्तु माया के सकाश से उसका वर्णन द्वैत पद्धति पर भी विस्तार से किया गया है। जगत मिथ्या है परन्तु वह सिया-राममय भी है। ज्ञान, वैराग्य के ऊपर प्रायः भक्ति की प्रतिष्ठा कृष्ण-पंथ में हुई है, परन्तु तुलसी की भक्ति 'संयुत विरति-विवेक' है अतः ज्ञान व विरति शंकर के अनुसार ध्येय हैं सही पर बिना भक्ति वे व्यर्थ हैं। तुलसी का आराध्य तत्व भक्ति है 'अनपायनी भक्ति', उसी की प्राप्ति के लिए ज्ञान, विज्ञान सब का उपयोग है। शंकर के यहाँ भक्ति गौण है और ज्ञान मुख्य है पर तुलसी के यहाँ इसका उलटा है। अतः तात्विक विवेचन में तुलसी शंकर का अन्धानुकरण न कर उनके सिद्धान्तों की व्याख्या भक्ति को सम्मुख रख कर करते हैं। तुलसी-मत में शंकर के अद्वैत के साथ-साथ भक्ति को प्रधान मानने वाले रामानुज व रामानन्द के सिद्धान्त से भी ओत-प्रोत हैं। इसी सामञ्जस्य के कारण तुलसी का मत अपना अलग मत मान लिया जाता है।

ब्राह्मणवादी व्यवस्था के पुनरुद्धार के कारण 'तुलसी' को प्रतिक्रियावादी कहा जा सकता है परन्तु वे प्रमुखतः उदार-मानवता वादी कवि थे। उन्होंने भक्ति के आधार पर मानव मात्र के अधिकारों का समर्थन किया है। वैसे वे व्यवहार में उच्च वर्णों के ही समर्थक थे, उनमें कबीर जैसी क्रान्तिकारिता नहीं थी। सूर-तुलसी का यह उदार मानवतावाद उस समय की परिस्थितियों को देखते हुए स्वयं प्रगति-शील ही था।

हमने वैदिक काल से लेकर, बौद्ध-धर्म के विकास के समय तक की विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों का उल्लेख किया है, उसके बाद षड्दर्शनों के विकास तथा १० वीं शताब्दी के बाद वैष्णव भक्ति, नाथ-साधना, सन्त-साधना, सूफी-साधना के विकास के समय की विभिन्न परिस्थितियों का उल्लेख हम इन साधनाओं के विस्तृत विवेचन के समय यथास्थान करेंगे। यहाँ हम संक्षेप में वैष्णव भक्तों तथा सन्तों के सामाजिक रूप पर विचार करते हैं।

मध्यकाल के भक्त-कवियों को दो शिविरों में बाँटा जाता है—सन्त कवि और वैष्णव कवि। सन्त कवियों के आदि स्रोत ब्राह्मणवादी व्यवस्था के विद्रोही शिविरों से आये हैं—यह हम देख आये हैं। हमने देखा है कि कबीर, दादू, नानक, मलूकदास व शिवदयाल ने परम-तत्व का जो स्वरूप स्थिर किया है, उसके वर्णन की पद्धति तथा उसके पर्यायवाची नाम देने की प्रवृत्ति सिद्धों व नाथों के शिविरों से अपनाई गई है।

यह तो तत्वदर्शन की बात रही, पर सामाजिक प्रश्नों की ओर जब हम दृष्टिपात करते हैं तो स्पष्ट हो जाता है कि मध्यकाल के सन्त कवि समन्वयवादी न थे, जैसे तुलसी व सूर थे। समन्वयवाद का अर्थ है, थोड़ा-थोड़ा सबसे लेकर एक मिला-जुला मार्ग खोज लेना। सन्तों की यह प्रवृत्ति न थी, कम से कम कबीर में यह बात नहीं पाई जाती। हम यदि कबीर से सीधा प्रश्न करें कि आप कैसा समाज चाहते हैं? तो वही उत्तर नहीं मिल सकता जो तुलसी या सूर से मिलेगा। दोनों के उत्तर दो परम्पराओं पर आधारित होंगे, प्रथम सिद्धों व नाथों की परम्परा पर और दूसरा वेद-पुराण तथा स्मृतियों की परम्परा पर।

सिद्ध बौद्ध-धर्म के अन्तिम स्वरूप को उपस्थित करते हैं। यह सर्वविदित तथ्य है कि बुद्ध ब्राह्मणवादी मान्यताओं के विरुद्ध खड़े हुये थे, कम से कम वेद, ब्राह्मण, वर्णव्यवस्था का विरोध उन्होंने किया था। यह बात दूसरी है कि जाति-पाँति का विचार बौद्ध भारत में बराबर बना रहा। बौद्ध धर्म के आगे के विकास के सोपानों में भी यह प्रवृत्ति बराबर रही। सिद्ध कवि सरहपा, कण्हपा, लुहिपा आदि ने भी इस परम्परा को स्थिर रक्खा। सरहपा ने वेद, ब्राह्मण और वर्ण-व्यवस्था का घोर खण्डन किया है। सिद्धों के बाद नाथ आये, ये भी

वेद-ब्राह्मण विरोधी थे, यद्यपि ब्राह्मण दर्शनों का इन पर अप्रतिभ प्रभाव था। सिद्धों व नाथों के सम्प्रदाय में ज्ञान का अभिमान न था, अनुभूति का अभिमान था। ब्राह्मण अपने शास्त्र से शासन करता आ रहा था। नाथों ने इसे कोरी 'कथनी' कहा, कोरे ज्ञान से कुछ नहीं होता। अतः सिद्धों व नाथों ने अनुभूति का मार्ग अपनाया। वैयक्तिक-साधना के बल पर उन्होने शास्त्रीय अहम्मन्यता को ललकारा। उन्होंने शास्त्रों द्वारा स्थापित सारे विधि निषेधों को उपहास की दृष्टि से देखा। उन्होंने ब्राह्मणों को चिढ़ाने के लिए 'उलटी कथनी' प्रारम्भ की जो आपाततः लोक-प्रचलित भावनाओं के विरुद्ध पड़ती थी, पर उसका गूढ़ अर्थ समझ लेने पर साधक को आश्चर्य होता था। वेद व शास्त्र के रट्टू पण्डितों को इस चमत्कार से नीचा दिखा कर जनता में अपने प्रभाव का प्रसार कर लेने में इन साधकों को अद्भुत सफलता प्राप्त हुई। प्रायः सारे अवैदिक मत नाथों की पताका के नीचे एकत्रित हो गये जो ब्राह्मणवादी शास्त्रीयता का विरोध करते थे जो अत्यधिक गुह्य-साधनाओं में पड़ जाने से भ्रष्ट हो गये थे, यथा वाममार्गी, कौलाचारी वे अलग रहे, उन्हें नाथों ने भी आड़े हाथों लिया और ब्राह्मणों ने भी।

दक्षिण में ब्राह्मणवाद के विरुद्ध आड़वार सन्तों के वाद अनेक सन्तों ने जनवादी परम्परा स्थापित की। उस समय अनेक देवताओं की उपासना तथा कठोर जाति शासन वहाँ प्रचलित था। कन्नड़ प्रान्त में बसव ने लिङ्गायत सम्प्रदाय की स्थापना कर वेदों व ब्राह्मणों का विरोध किया था। इस वीर शैव या लिङ्गायत सम्प्रदाय के अतिरिक्त १३ वीं शताब्दी के प्रमुख सन्त 'चक्रधर' ने वेद-चातुर्वर्ण्य तथा छुआ-छूत का विरोध किया था। वेद वर्ण-व्यवस्था का प्रतिपादक है और वर्ण व्यवस्था ही सारी विषमता की मूल है। 'चक्रधर' ने तीर्थ, व्रत, देवोपासना, स्त्री को नीच समझने की प्रवृत्ति आदि का घोर विरोध किया। यद्यपि 'चक्रधर' ऊँची जाति के थे पर उन्होंने शूद्रों के हाथ का भोजन प्रारम्भ कर दिया और 'महानुभाव' पन्थ का प्रवर्तन किया, ब्राह्मण पुरोहितों ने षड्यन्त्र कर उनकी हत्या करा डाली।

'महानुभाव' पन्थ पूर्णतया जनवादी था। आगे नामदेव दर्जी ने 'वारकरी सम्प्रदाय' की नींव डाली। नामदेव जातिवाद के घोर-विरोधी थे परन्तु ज्ञानेश्वर ब्राह्मण ने पुनः समन्वयवाद खोजना प्रारम्भ किया।

उन्होंने तुलसी की तरह भक्ति के क्षेत्र में तो समता मान ली परन्तु उनका दृष्टिकोण परम्परावादी ही रहा, यद्यपि उन्हें पुरोहितों ने ब्राह्मण-समाज से निकाल दिया था। ज्ञानेश्वर गीता के "स्वधर्मे निधनं श्रेयः, परधर्मो भयावहः" के समर्थक निकले। 'एकनाथ' ने भी समता का प्रचार किया। दामाजी पन्त ने पीर-पूजा का निषेध किया, अछूतों के घर भोजन किया। सन्त तुकाराम ने दम्भियों की कड़ी आलोचना की, सभी वर्णों को समानाधिकार दिया, वारकरी पन्थ को उन्होंने सबसे अधिक गति दी।

दक्षिण के समान उत्तर में कबीर, नानक, दादू आदि ने यही कार्य किया। जैसे दक्षिण के जनवादी सन्तों का स्रोत आड़वार सन्तों की भक्ति में था उसी प्रकार कबीर आदि सन्तों का स्रोत सिद्धों व नाथों की साधना में था, जिनका प्रचार पञ्जाब, आसाम व राजपूताने में अधिक रहा। महाराष्ट्र के सन्तों में एकनाथ व रामदास ने जहाँ यवनों के विरुद्ध 'हिन्दूवाद' का प्रचार किया था वहाँ कबीर आदि ने व्यापक दृष्टि से कार्य किया। उन्होंने मूल समस्या पर आघात किया कि हिन्दू व मुसलमान दोनों भ्रम में हैं। यदि वे एकनाथ की तरह यह कहते कि कुरानवादी देश को धर्मभ्रष्ट कर रहे हैं, विद्रोह करो, तो कबीर, तुलसी की परम्परा में आ जाते। किन्तु वे जानते थे कि समस्या का हल 'हिन्दूवाद' की रक्षा के लिये मुसलमानों का विरोध करने में नहीं है क्योंकि 'हिन्दूवादी' व्यवस्था के तो सन्त लोग स्वयं शिकार थे। करोड़ों शूद्र जनों को सारे मानवीय अधिकारों से वञ्चित रख कर सवर्णों ने उन्हें विद्रोह के लिए स्वयं प्रस्तुत किया था। अतः कबीर, नानक, दादू हिन्दुत्ववादी सन्त नहीं बने। वे शेख, ब्राह्मण दोनों को जनता का दुश्मन मानते थे जिन्होंने व्यर्थ के भ्रम फैला कर, उन झूठे विश्वासों की रक्षा के लिये अपने-अपने शिविर बना रक्खे थे और उनके लिये परस्पर कलह, क़त्लेआम आदि कर्म नित्य होते थे। प्रत्येक शिविर को अपने अन्ध विश्वासमय आचारों पर अत्यधिक अभिमान था। अतः कबीर ने इसी अभिमान पर प्रहार करने के लिये सिद्धों व नाथों की जनवादी परम्परा को आगे बढ़ाया जिसमें वेद, कुरान, व्रत, तीर्थ, रोजा, रमज़ान, उपवास, पूजा का घोर खण्डन रहता था, जिसमें सरल जीवन बिताने और अनुभूति पर जोर देने का

रचनात्मक सुझाव था। कबीर का यह कार्य समन्वयात्मक न था, उन्होंने कोई नया पन्थ नहीं चलाना चाहा, वल्कि दोनों धर्मों की मूर्खता व कट्टरता का उपहास कर मनुष्यता के प्रचार में लगे रहे।

कबीर का यह जनवाद दादू, मलूक, पलटू, शिवदयाल, नानक सब ने अपनाया। यह बात दूसरी है कि हिन्दू और मुसलमान तो एक हो न सके, अनेक सम्प्रदाय और खड़े हो गये परन्तु यह तो मध्यकाल की प्रवृत्ति का दोष था, सन्तों ने अपना ऐतिहासिक कार्य पूरा किया।

वैष्णव-भक्तों ने क्या किया ?—वैष्णव-भक्ति यद्यपि आड़वार सन्तों की देन थी परन्तु उसे रामानुज ने शास्त्रानुमोदित कर दिया, अतः उसमें निम्न जनता को केवल 'शरणागति' का ही अधिकार मिल सका, व्यवहार में सवर्णता अखण्ड रही। आगे के वैष्णव भक्तों व आचार्यों में भक्ति के क्षेत्र में खान पान का भेदभाव भी कम हो गया रामानन्द ने उसे समाप्त करने का प्रयत्न किया तथापि भक्त समाज की विषमता को व्यवहार के क्षेत्र से निकालने का प्रयत्न नहीं कर सके क्योंकि भक्ति का आधार उन शास्त्रों को बनाया गया था जो वर्णाश्रमवाद के कट्टर समर्थक थे।

यह सम्भव था कि स्वतन्त्र जनवादी सन्त-ज्ञानमार्गीधारा तथा यह शास्त्रीय वैष्णव भक्तिधारा आगे चलकर समाज में उथल-पुथल करने में समर्थ हो जातीं परन्तु यवनों के आक्रमण से हिन्दू जाति उसी प्रकार 'आत्मरक्षण' में दत्तचित्त हो गई जैसे नास्तिक दर्शनों के प्रभाव के बढ़ जाने पर ईसा की प्रथम शताब्दी के आस-पास हो गई थी और जिस प्रवृत्ति के फलस्वरूप पौराणिकतावाद, वैष्णववाद तथा षड्-दर्शनों का प्रचार हुआ था। अपने विश्वासों की रक्षा के लिये अनेक प्रयत्न हुये। मुसलमानों की रक्तरञ्जित तलवार के नीचे सारे देश का शीश झुका हुआ था। ऐसे समय भक्ति भावना के द्वारा वैष्णव आचार्यों ने जातीय संस्कारों की रक्षा की। मुगल दरबारों की शान को भी मात कर देने वाले 'ठाकुर' जी के दरबार सजने लगे, और भगवान की छवि व सङ्गीत की मधुर लहरी में डूबकर वैष्णवभक्त न केवल अपने संस्कारों को बचा ले गये वल्कि बादशाहों तथा साधारण मुसलमानों तक को उसी प्रवाह में बहाने में भी वे समर्थ हो सके।

लड़कर जीतना तो असम्भव था, अयतो अपनी साधना को सरल और आकर्षक बना कर ही आत्मरक्षण सम्भव था। प्रेम के आवेश में उन्मत्त भक्तों के समाज में जाति-पाँति के बन्धन भी स्वयं ढीले हो गये। हरि-लीला गायन में पराजय की कचोट भूल गई। धर्म के सरल कर देने से, गुह्य साधनाओं की ओर से जनता का ध्यान खिचने लगा, सिद्धों को वैष्णव सहजियों ने समेट लिया। नाथ पन्थ अपनी कठोर साधनाओं के कारण अधिक क्रान्तिकारी होते हुये भी प्रभाव खोता गया और आगे चलकर शायद उन्हीं के ध्वंसावशेष सन्त मत में वैष्णवीयता का पूरा पूरा प्रवेश होगया परन्तु क्रान्तिकारिता कम न हो सकी।

कृष्ण भक्ति के साथ-साथ रामोपासना भी चली, यह मत मर्यादावाद को लेकर चला, कहना चाहिये कि कृष्णभक्ति के मधुर लीला-विधान से यह असन्तुष्ट था (तुलसी मस्तक तब नवै, धनुष बाण लेउ हाथ)। इसने भक्ति-भावना में तो कृष्णभक्तों के समान हो आवेश रक्खा। परन्तु 'मर्यादा' का पोषक होने के कारण यह समाज के सवर्णवादी विधान का मुख्य प्रचारक बना। कृष्णभक्ति में तो सारी मर्यादाओं के विरुद्ध सशास्त्र विद्रोह था, यद्यपि सारे संस्कार व पूजा-विधान द्वारा हिन्दू संस्कृति की रक्षा करली गई थी और दरबारों की ओर आकर्षित होती हुई जनता का ध्यान व्रजधाम के मन्दिरों की ओर खींच लिया गया था। मर्यादावादी तुलसी ने जहाँ जनता के आर्तनाद को वाणी दी और मुस्लिम सामन्ती शासन का विद्रूप किया, जहाँ भक्ति के नाते निषाद, शबरी आदि को भी राम से भेंटने का अधिकार दिया वहाँ उन्होंने अत्यधिक दुराग्रह से समाज के ब्राह्मणवादी विधान को ही स्वीकृत भी दी और 'नाना पुराण निगमागम' की परम्परा स्थिर रख कर वर्ण व्यवस्था का प्रचार किया। इस दिशा में दक्षिण के 'एकनाथ' व 'तुलसी' ने एक सा ही कार्य किया। दोनों ने यवनों के विरुद्ध जनता में घृणा के बीज वपन किये, दोनों ने जातीय जागृति की पताका ऊँची की। आत्मरक्षण की प्रवृत्ति का परिणाम यह हुआ कि उन्हें विषमता का समर्थन करना पड़ा। उन्होंने व्रत, पूजा, तीर्थ, देवतावाद, ब्राह्मण वेद पूजा का उपदेश दिया जबकि कबीर, नामदेव, चक्रधर आदि सन्तों ने इनका घोर खण्डन किया।

अतः वैष्णव भक्तों ने दलितों को सुविधायें देकर सन्तुष्ट करने की नीति अपनाई। जो ऐतिहासिक प्रगति आड़वार सन्तों के समय से कबीर के समय तक हो चुकी थी उसे देख कर यह असम्भव था कि दलितों को कुछ अधिकार न दिये जाते, साथ ही उनके यवन बन जाने का भी खतरा रहता था किन्तु समाज के ढाँचे को बदलने का प्रयत्न वैष्णव-भक्तों—सूर, तुलसी ने नहीं किया जिसके लिए सन्त बहुत पहले से पुकारते आ रहे थे। देश से वर्णाश्रम प्रथा न मिट सकी, ब्राह्मणों की पुनः विजय हुई। इसका कारण शायद ऐतिहासिक आवश्यकता थी। जैसे कि पहले कहा कि—यवनों से हिन्दू समाज की रक्षा के लिये यह आवश्यक था कि नियमों को और भी कठोर कर दिया जाय, अतः वही हुआ, न कुरानवादी अपने विश्वास से हिलता था, न 'नाना पुराण निगमागम वादी', इसीलिये अकबर की धार्मिक एकता का स्वप्न टूटकर बिखर गया था। कबीर, दादू, मलूक, सुन्दरदास ही ऐसे सन्त थे जिन्होंने सामान्य भक्ति के आधार पर, सरल जीवन के विश्वास पर ब्राह्मणवाद व कुरानवाद से जनता को मुक्ति दिलाने का प्रयत्न किया था, तुलसी व सूर ने नहीं। तुलसी व सूर ने भक्ति के द्वारा उदारता व सहज मानवीयता का प्रचार तो किया और वे इसमें सफल भी हुये परन्तु वे समाज की व्यवस्था को बदलने वालों के कट्टर शत्रु थे। यदि इस ओर समाज के रक्षक ढील दिखाते तो एक ओर इस्लाम का एक छत्र राज्य होता और दूसरी ओर उन शूद्रों को बराबरी का स्थान मिल जाता जो अब ब्राह्मणों को उनकी व्यर्थ की महत्ता के लिये डाटने लग गये थे किन्तु वैष्णव भक्तों और उनमें भी मुख्य तुलसी ने सन्तों की समझदारी की प्रशंसा के बदले, उनके द्वारा समता का दावा सुन कर कलियुग का रोना रोया। विराट के पैरों से उत्पन्न होने वालों को सिर पर कैसे चढ़ाया जा सकता था?

बौद्ध-धर्म

आस्तिक दर्शनों का विकास व प्रसार रक्षात्मक युद्ध का परिणाम समझा जाता है। ब्राह्मणवाद जो कि अहम्मन्यता, दम्भ और कुत्सित प्रवृत्तियों का पोषक बन रहा था, जो विचार शून्य कर्मकाण्ड को सब कुछ समझ बैठा था, जो सामाजिक सम्बन्धों में अपने को शीर्ष पर पहुँचा चुका था, अपनी ऐतिहासिक प्रगति कर चुका था, उसके विरुद्ध भेदभाव, कर्मकाण्ड आदि के विरुद्ध बौद्ध और जैन दर्शनों के रूप में प्रतिक्रिया हुई। इनमें बौद्ध दर्शन ने भारतीय चेतना को अधिक प्रभावित किया। बौद्धमत भी अनेक सम्प्रदायों में विभाजित हो गया। आगे बौद्धों के विनाश का कारण उनकी विलासिता बनी। ब्राह्मणवाद के कठिन शिकंजे में बँधी हुई जनता, एक बार मुक्त हो कर पुनः उसी बन्धन में बँधने को लालायित हो उठी। इस प्रवृत्ति के पीछे अन्य कई कारण थे जैसे बौद्ध लोगों की अराष्ट्रीयता। ब्राह्मण सङ्कीर्ण था पर राष्ट्रीयतावाद का घोर समर्थक था, बौद्धों पर अन्तर्राष्ट्रीयतावाद का प्रभाव था अतः विदेशी आक्रमणों के समय बौद्ध आक्रमणकारियों से दुरभिसन्धि करने से भी न चूकते थे। यह कारण बाह्य था, आन्तरिक कारणों में विहारों की बढ़ती हुई विलासिता थी तथा अन्य कारणों में एक प्रमुख कारण ब्राह्मणवादी दर्शनों का उदय था। शङ्कर, कुमारिल आदि ने भारत की मेधा पर अखण्ड अधिकार स्थापित कर लिया था और चूँकि ऐतिहासिक परिस्थिति अनुकूल थी अतः बौद्ध मत का भारत से उच्छेदन हो गया। यहाँ दो प्रकार की प्रतिक्रियाएँ हुई, प्रथम यह कि यहाँ बौद्धमत वाममार्ग, मंत्र-तन्त्र में उलझता गया, उनमें मूर्ति उपासना तो पहले से थी ही, धीरे धीरे हिन्दू धर्म में उसका विलयन हो गया। द्वितीय यह कि देश की चेतना पर इन अवैदिक बौद्ध

संतों ने महान प्रभाव डाला तथा स्वयं बौद्धों की प्रतिक्रिया में उठने वाली विचार-धारा बौद्ध दर्शन से प्रभावित हुये बिना न रही। अतः ८ वीं शती के बाद के काव्य-साहित्य को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम बौद्ध दर्शनों से परिचित हो जायँ ताकि उसकी प्रतिक्रिया में नवागत शाङ्कर वेदान्त और शाङ्कर वेदान्त की प्रतिक्रिया में स्थापित विभिन्न वैष्णव सम्प्रदायों के समझने के लिये एक आवश्यक पृष्ठभूमि प्रस्तुत हो जाये।

बौद्ध-सम्प्रदायों के मूल में गौतम बुद्ध का 'प्रतीत्य समुत्पाद' का सिद्धान्त था। 'प्रतीत्य समुत्पाद' से बुद्ध का तात्पर्य यह है कि विश्व कार्य-कारण की शृङ्खला का परिणाम है। प्रत्येक घटना, दूसरी घटना का परिणाम होती है। इसी प्रतीत्य समुत्पाद से बुद्ध ने 'निदान' को समझाया था कि दुःख है और दुःख का मूल कारण अविद्या है। अविद्या से संस्कार, विज्ञान आदि उत्पन्न होते हैं। निदान इस प्रकार है—

अविद्या—संस्कार, विज्ञान, नाम, रूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति, जरामरण, दुःख।

इस द्वादश निदान से स्पष्ट है कि दुःख का कारण अविद्या है। प्रतीत्य समुत्पाद की भी कई व्याख्यायें हैं। एक व्याख्या हम ऊपर कर चुके है—एक के विनाश के बाद दूसरे की उत्पत्ति। इसी नियम को बुद्ध ने प्रतीत्य समुत्पाद का नाम दिया है। हर एक 'उत्पाद' का कोई प्रत्यय है। प्रत्यय से उत्पाद का अर्थ है, बीतने से उत्पाद*। यानी एक के बीत जाने, नष्ट हो जाने पर दूसरे की उत्पत्ति। बुद्ध का प्रत्यय ऐसा हेतु है जो किसी वस्तु या घटना के उत्पन्न होने से पहले क्षण सदा लुप्त होते देखा जाता है, प्रतीत्य समुत्पाद कार्य-कारण नियम को अविच्छिन्न नहीं, विच्छिन्न प्रवाह (Discontinuons Continiuty) मानता है। (दर्शन दिग्दर्शन, राहुल सांकृत्यायन पृष्ठ ५१४)

---

* विसुद्धमग्ग १७ अध्याय के अनुसार प्रतीत्य = किसी वस्तु के उपस्थित होने पर, समुत्पाद = किसी अन्य वस्तु की उत्पत्ति। बलदेव उपाध्याय ने भी यही अर्थ किया है प्रति + इ गतौ + ल्यप् = एक वस्तु की प्राप्ति होने पर दूसरी वस्तु की उत्पत्ति—बौद्ध दर्शन, पृ. ८२

असङ्ग ने 'योगाचारभूमि' में प्रत्यीय समुत्पाद की व्याख्या की है, "प्रतीत्य—प्रतिगमन करके (एक चीज को समाप्त करके, दूसरे की उत्पत्ति, प्रतीत्य समुत्पाद है) प्रत्यय अर्थात् गतिशील अत्यय=(विनाश) के साथ उत्पत्ति, प्रतीत्य समुत्पाद है। अर्थात् प्रतीत्य समुत्पाद के अनुसार 'ख' वस्तु 'क' के नष्ट (प्रतीत्य) हो जाने के पश्चात् उत्पन्न हुई है, पर यह 'ख' भी एक क्षण स्थित रहने वाली है, इसके नष्ट हो जाने के पश्चात् 'ग' की उत्पत्ति (समुत्पाद) होती है। इसी प्रकार 'ग' के नष्ट हो जाने पर 'घ' की उत्पत्ति होती है। 'ख' की उत्पत्ति विना 'क' की उत्पत्ति के असम्भव थी, इसी प्रकार 'ग' की उत्पत्ति 'ख' पर, 'घ' की उत्पत्ति 'ग' पर निर्भर है। इस प्रकार वस्तुयें परस्पर सापेक्ष्य हैं, एक क्षण स्थित रहने वाली हैं, वे ऊपर के क्रम से नष्ट और उत्पन्न होती चलती हैं। इस प्रकार एक कार्य-कारण परम्परा का प्रवाह चलता रहता है, यही जगत है। यहाँ नित्य कुछ नहीं है, अविनाशी कुछ नहीं है, स्वतन्त्र व निरपेक्ष कुछ नहीं है, अनादिकाल से यही नाश-उत्पत्ति का प्रवाह चलता आ रहा है। जगत में कोई स्थिर तत्व नहीं है, आत्मा भी नहीं। इस प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धान्त से हम हिन्दुओं के शाश्वत-वाद तथा चार्वाकों के उच्छेदवाद (वस्तु के नष्ट हो जाने के बाद कुछ भी अवशिष्ट न रहना) दोनों से बच सकते हैं क्योंकि इसमें किसी शाश्वत, स्थिर वस्तु के विना ही इस अस्थिर, विनाशी संसार की उत्पत्ति समझाई जा सकती है। और साथ ही चार्वाकों के समान यह भी नहीं माना जाता कि मरने के बाद पुनर्जन्म नहीं होता, सब वस्तुयें यहीं नष्ट हो जाती हैं। इस प्रकार यह मध्यम मार्ग है। आत्मा या ब्रह्म की अस्वीकृति होने पर भी पुनर्जन्म रूप में जीवन-सन्तति का प्रवाह चलता है, इसीलिए यह मध्यम मार्ग है।

प्रतीत्य समुत्पाद की इस व्याख्या से स्पष्ट है कि गौतम बुद्ध आत्मवाद के विरुद्ध थे। अतः उन्हें नैरात्म्य-वादी कहा जाता है। सामान्य विश्वास यह था कि हमें जो अनुभव होते हैं, विचार और भाव जो भी हमारे मन में उत्पन्न होते हैं वे स्वयमेव यों ही अव्यवस्थित रूप से उत्पन्न होकर नष्ट नहीं होते रहते, वरन् वे एक शाश्वत तत्व अर्थात् आत्मा से सम्बन्धित रहते हैं। स्मृति, अनुभूति, विचार, आदि का द्रष्टा आत्मा ही है, अन्यथा हमारे अनुभवों में व्यवस्था न रहे।

हम गत अनुभवों को स्मरण ही नहीं कर सकते यदि हम 'आत्मा' को नहीं मानते। अतः अनुभवों की परिवर्तनशीलता या क्षणिकता व विविधता को समझने के लिये किसी एक स्थायी साक्षी सत्ता को मानना अति आवश्यक है। यह आत्मवादियों का पक्ष था। बुद्ध ने 'प्रतीत्य समुत्पाद' के सहारे इस सिद्धान्त का खण्डन कर दिया। उनके अनुसार हमारे अन्तःकरण में क्षणिक भावनायें तथा विचारधारायें प्रोद्भूत होती अवश्य हैं परन्तु वे ही सब कुछ हैं, उनके अतिरिक्त "आत्मा" नामक कोई सत्ता मान्य नहीं हो सकती. इस प्रकार बुद्ध चेतना [Consciousness] को तो मानते हैं परन्तु किसी स्थायी चेतन-सत्ता में विश्वास नहीं करते, उनकी दृष्टि से जिसे आत्मा कहा जाता है वह केवल शरीर, भावनाओं तथा विचारों का संघात मात्र है। श्रीमती राइस डेविड्स भी यही कहती हैं।❀ इस संघात को नाम रूप भी कहा गया है। नाम का अर्थ है शारीरिक अवयव और रूप का अर्थ है आन्तरिक अवयव, (वेदना, संस्कार आदि) इस संघात का दूसरा रूप पञ्च स्कन्धों के वर्णन में सुरक्षित है। 'पञ्च स्कन्ध' को ही बौद्ध धर्म में 'आत्मा' माना गया है। इनमें रूप-वेदना, विज्ञान, संस्कार और संज्ञा ये पाँच तत्व रहते हैं, इनसे अतिरिक्त 'आत्मा' कुछ नहीं। इनमें रूप से शारीरिक तथा अन्य चार से मनोवैज्ञानिक अवयव गृहीत किये गये हैं इनमें विज्ञान को Self consciou-ness वेदना को Fee-ling संज्ञा को Perception तथा संस्कार को Mental disposition कह सकते हैं। इन पाँचों का [रूप + विज्ञान + वेदना + संज्ञा + संस्कार] संघात ही आत्मा है इसके अतिरिक्त अन्य कोई यहाँ स्थायी तत्व नहीं हैं। आत्मा में विश्वास करने वालों को बुद्ध ने अंध-विश्वासी कहा। आगे 'मिलिंद प्रश्न' से यह नैरात्म्य-वाद स्पष्ट हो जाता है। नागसेन नामक बौद्ध साधु से मिनेण्डर नामक ग्रीक राजा ने 'आत्मा' के विषय में पूछा था। राजा एक रथ पर चढ़कर आया था, अतः साधु ने वही उदाहरण लिया। उसने कहा कि जिसे तुम रथ कहते हो वह न चक्र है, न जुआँ, न छत्र, न अश्व, न अन्य कोई अवयव। रथ तो चक्र, छतरी, आदि अवयवों के संघात (Aggregate) का नाम हैं। जैसे धुरी, चक्र,

❀ In his view no "King ego holding a Levee of presentation"

छतरी, जुँआ आदि के अतिरिक्त 'रथ' नामक वस्तु का अस्तित्व नहीं है उसी प्रकार मनुष्य में रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और संस्कार के अतिरिक्त किसी 'आत्मा' का अस्तित्व नहीं है। आत्मा इन्हीं तत्वों का प्रतीक मात्र है।

(The word 'Self' is only a label for the aggregate of certain physical and psychical factors.)❀

पञ्च स्कन्धों का यह संघात बुद्ध के अनुसार क्षणिक है, स्थायी नहीं, इसलिये आत्मा (पञ्चस्कन्ध) तथा स्थूल संसार क्षण-क्षण के बाद होनेवाले परिवर्तन के प्रवाह में पड़े हुये हैं। इसे दार्शनिक भाषा में 'संतान' (flux) कहा गया है। प्रत्येक वस्तु 'संतान' होने की स्थिति में है क्योंकि वह क्षण-क्षण पर परिवर्तित होकर नये रूप धारण करती जा रही है। इसके लिये 'दीपशिखा' की उपमा दी जाती है। जैसे दीप की जलती हुई ज्योति का एक प्रवाह चलता है, प्रथम ज्योति दूसरी को उत्पन्न कर एक क्षण में ही नष्ट हो जाती है, दूसरी तीसरी को उत्पन्न कर नष्ट हो जाती है। इसी प्रकार ज्योति-प्रवाह चलता रहता है। इसी को हम दीपक का जलना कहते हैं। वस्तुतः यह प्रवाह अखण्ड नहीं है, विच्छिन्न प्रवाह है क्योंकि प्रत्येक क्षण की ज्योति अलग-अलग है और वह क्षण स्थायी है परन्तु उनका अलग होना भासित नहीं होता क्योंकि वे एक प्रवाह की स्थिति में हैं। इसी प्रकार हमारे विज्ञान, वेदना, संस्कार सभी तत्व क्षण स्थायी होने पर भी प्रवाह में है। एक संस्कार उत्पन्न होता है, वह दूसरे को उत्पन्न कर स्वयं नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार परम्परा चल रही है, कोई स्थिर तत्व यहाँ नहीं है। इसी प्रकार संसार में वस्तुयें बनती और विनष्ट होती रहती हैं, उनके निर्माण व विनाश के लिये उनसे बाहर किसी बाहरी शक्ति (आत्मा या परमात्मा) की खोज व्यर्थ है। संसार कारण-कार्य परम्परा का प्रवाह मात्र है, इस प्रकार विना आत्मा परमात्मा को माने हुये बुद्ध ने जगत को समझाया था। बुद्ध निश्चित रूप से महान् प्रतिभाशाली व्यक्ति था। उन्होंने 'प्रतीत्य-समुत्पाद' को इसीलिये धर्म कहा, क्योंकि इससे विना आत्मा-परमात्मा को माने हुये ही जगत को समझाया जा सकता है कि जैसे दीपक की प्रत्येक ज्योति क्षण स्थायी होकर भी दूसरी

❀ Out line of Indian Phylosophy, Page 141

ज्योति की उत्पत्ति का कारण है उसी प्रकार प्रत्येक उत्पत्ति का कारण अवश्य है, यही कारण-कार्य शृंखला (वोथी) जगत की सच्ची व्याख्या है। जगत क्षण स्थायी वस्तुओं का अनवरत प्रवाह है। स्पष्ट है कि यह मध्यम मार्ग है इसमें न चार्वाकों की तरह कोरा अनात्मवाद है क्योंकि बुद्ध 'संघात' को मानते हैं, कर्म व आवागमन को मानते हैं न इसमें 'आत्मवाद' की स्वीकृति है क्योंकि बुद्ध जगत में क्षण भर से अधिक स्थिर रहने वाली सत्ता को नहीं मानते। "This theory of ceaseless movement of all things with no underlying canstancy is obviously a compromise between the two opposite views current at that time—one believing in being and the other in non-being" (Out line of Indian Philcsophy) इसीलिये आगे कहा गया कि सत्य को न 'है' (it is) कह सकते हैं न "नहीं है" (it is not) कह सकते हैं, सत्य तो केवल "हो रहा है" (Becoming) है। इससे स्पष्ट है कि बुद्ध ने सत्ता से इन्कार नहीं किया है केवल वे उसे एक गत्यात्मक व्याख्या देते हैं। गति या प्रवाह ही सत्य है शाश्वतता या अभाव नहीं। (There is action but not Agent। हेरेक्लिटस तथा आधुनिक समय में बर्गसाँ ने भी 'गति' को ही सत्य माना है।

गति के या प्रवाह के इस नियम के अनुसार कोई वस्तु तब तक उत्पन्न नहीं हो सकती जब तक कुछ निश्चित शर्तें पूरी नहीं हो जातीं यथा दीपक की ज्योतियाँ। एक बार दीपक की ज्योति की उत्पत्ति हो जाने पर फिर प्रवाह चल पड़ता है और तभी तक चलता रहता है जब तक उस तरह की शर्तें पूरी होती रहती हैं यथा प्रथम ज्योति उत्पत्ति तब तक नहीं हो सकती जब तक बत्ती, तेल, दीपक आदि न हो परन्तु एक बार ज्योति की उत्पत्ति हो जाने पर फिर तब तक प्रवाह चलता है जब तक ज्योति के लिये आवश्यक तत्वों में से कुछ का अभाव न हो जाये इसलिये कहाकि जगत कारण-कार्य की शृङ्खला का नाम है। अतः यह नियम शाश्वत है तथापि इसका लागू होना (Operation) कुछ शर्तों (Conditions) पर निर्भर है इसीलिये इसे 'प्रतीत्य समुत्पाद' [Dependent origination] कहते हैं (That being present, this becomes, from the arising of that, this arises)

इसके अनुसार जो वस्तु विद्यमान दिखाई पड़ रही है वह किसी अन्य वस्तु की विद्यमानता के कारण है। हमने क, ख, ग के उदाहरण देकर पीछे इसको भली भाँति स्पष्ट कर दिया है कि 'ख' की उत्पत्ति 'क' के विना तथा 'ग' की उत्पत्ति 'ख' के विना नहीं हो सकती अतः क, ख, ग, घ आदि उत्पत्ति प्राप्त वस्तुयें परस्पर सापेक्ष्य हैं, 'स्वभाववाद' और प्रतीत्य समुत्पाद में यही अन्तर है कि 'स्वभाववाद' में तो 'कार्य' कारण के भीतर विद्यमान रहता है परन्तु प्रतीत्य समुत्पाद में 'कार्य' के लिये अनेक आन्तरिक तथा बाह्य कारणों (Conditions) की आवश्यकता रहती है। स्वभाववाद के अनुसार जो होना है वह अवश्य होगा चाहे हम चाहें या न चाहें, प्रयत्न करें या न करें, किन्तु प्रतीत्य समुत्पाद में हम जिस प्रकार की दशायें (Conditions) उपस्थित कर देंगे, उसी प्रकार की उत्पत्ति का प्रवाह चल पड़ेगा। अतः बुद्ध के सिद्धान्त में मनुष्य के प्रयत्न—कर्म का महत्व स्पष्टतः बहुत अधिक है।

बुद्ध के अनुसार पूर्व जन्मों के कृत कर्मों के कारण इस जीवन का जो प्रवाह चल रहा है उसे हम अपने प्रयत्नों द्वारा विच्छिन्न कर सकते हैं जैसे दीपक में से बत्ती या तेल को हटा लेने से ज्योति की उत्पत्ति रुक जाती है उसी प्रकार इस जन्म के संस्कारों का नाश भी बुद्ध के बताये हुये प्रयत्नों से हो सकता है और निर्वाण की प्राप्ति संभव है और जीवन का ध्येय भी यही है कि दुःखपूर्ण संसार से छुटकारा मिले। सिद्धार्थ को इसी सिद्धान्त का ज्ञान होने से बुद्धत्व प्राप्त हुआ था कि दुःखों का कारण खोज कर उसका नाश कर देने से दुःखों का प्रवाह विच्छिन्न हो सकता है। चूँकि कोई 'कार्य' विना निश्चित कारणों के उत्पन्न नहीं हो सकता (प्रतीत्य समुत्पाद) अतः 'कारणों' की खोज करना ज्ञानी का काम है। अतः चार आर्य सत्यों की खोज की गई—दुःख है (कार्य) दुःखों का कारण है (कारण) दुःख का निरोध हो सकता है, दुःख के निरोध का भी मार्ग है। मनुष्य के दुःखों को दूर करने का यह सिद्धान्त पीछे सार्वभौमिक मान लिया गया और इसी के आधार पर जगत की व्याख्या की जाने लगी। और उसे नाम दिया गया 'प्रतीत्य समुत्पाद' अर्थात् जो वस्तु हम जैसी देखते हैं, उसके वैसी होने के कुछ कारण हैं, 'क' 'क्र' क्यों

है 'ख' क्यों नहीं है, इसके कारण हैं। 'क' इसलिए 'क' है क्योंकि कुछ विशिष्ट दशायें उसके पीछे हैं जिनके कारण हमें 'क' दिखाई पड़ रहा है। इस प्रकार वस्तुएँ परस्पर सापेक्ष्य हैं। यह सिद्धान्त 'प्रतीत्य समुत्पाद' के नाम से चल पड़ा।

बुद्ध 'क्षणिकवादी' थे। वे वस्तु का अस्तित्व केवल एक क्षण भर ही मानते थे। आगे चल कर वस्तु की सत्ता में ही अविश्वास किया जाने लगा और वस्तु सत्ता के विषय में नये-नये सिद्धान्त विकसित हुए।

संक्षेप में प्रारम्भिक बौद्ध-मत का सिद्धान्त पक्ष यही है। इन सिद्धान्तों की आगे कटु आलोचनाएँ हुईं यथा—यह कहा गया कि जब प्रत्येक क्षण में वस्तु बदल जाती है वह द्वितीय क्षण में वही नहीं रहती जो प्रथम क्षण में थी तो हम घट, पट आदि को पहचान कैसे लेते हैं? हम बराबर देखते हैं कि घण्टे भर लगातार देखते रहने पर भी मखमल का कपड़ा वही रहता है और मिट्टी का घड़ा उसी मिट्टी का रहता है तब हम कैसे कह सकते हैं कि क्षणिकवाद युक्ति युक्त है। बौद्ध सिद्धांत के अनुसार उत्तर होगा कि प्रथम क्षण व द्वितीय क्षण में, वस्तु का रूप मिलता-जुलता अवश्य होता है पर उसका रूप एक नहीं रहता, हम भूल से उसे एक ही मान लेते हैं। प्रथम क्षण के घट व द्वितीय क्षण के घट में अन्तर अवश्य है। दोनों घटों में कुछ समानता होने के कारण हम उस अन्तर को न पहचान कर उन्हें एक ही मान लेते हैं इस प्रकार हमारा प्रत्यक्ष भ्रमपूर्ण है। क्योंकि समानता को हम एकता मान लेते हैं। The things in the two moments of our cognition are only similar and that we mistake them to be the same, in other words, all recognition is erroneous since similarity is mistaken in it for identity. (Out lines of Indian Philosophy)

एक और प्रश्न किया जाता है कि यदि पञ्च स्कन्ध जिसे बौद्ध आत्मा मानते हैं, क्षण भर के पश्चात् परिवर्तन को प्राप्त हो जाती हैं तो पूर्व अनुभवों का स्मरण कैसे होता है? क्षणिकवादी कहेगा कि अनुभव उत्पन्न या नष्ट होते रहते हैं, प्रत्येक अनुभव आगे

के अनुभव पर अपना प्रभाव छोड़ जाता है अतः लुप्त हो जाने पर भी अनुकूल दशायें उत्पन्न होने पर अनुभव विशेष की स्मृति हो आती है चूँकि अनुभवों का भी प्रवाह चलता है।' अतः आज के अनुभव पर अनेक अनुभवों के संस्कार रह जाते हैं जो अनुकूल दशा पाकर जग जाते हैं। कोई अनुभव निरपेक्ष नहीं हो सकता। अतः सापेक्षता का सिद्धान्त यहाँ भी लागू हो जाता है और सापेक्षता ही स्मृति का कारण है। अतः मनुष्य प्रति क्षण बदल जाता है परन्तु वह पूर्णतया भिन्न भी नहीं हो जाता। (The self is not only a collective, but also a recollective entity) अतः जो जैसा करता है उसे उसके भोगने के लिये प्रस्तुत रहना पड़ता है। यदि प्रत्येक क्षण के बाद मनुष्य पूर्णतया निरपेक्ष हो जाता तो उस पर पापों का प्रभाव ही न पड़ता और निर्वाण की कोई आवश्यकता ही न रह जाती, इसीलिये बोधिसत्व को अनेक योनियों में घूमना पड़ा था।

प्रारम्भिक बौद्ध मत के सिद्धान्तों का विश्लेषण करने के बाद हम पीछे के बौद्ध सम्प्रदायों पर विचार करेंगे। बुद्ध के उपदेशों का तात्पर्य क्या है इसे लेकर हीनयान या महायान दो सम्प्रदायों का जन्म हुआ। हीनयान तो गौतम बुद्ध की परम्परा का पालन करता रहा परन्तु महायानियों ने बौद्ध सिद्धान्तों को नवीन दिशायें दीं। वस्तुतः बुद्ध विवादास्पद विषयों पर बहस न करते थे। हम 'साहित्य व दर्शन' नामक निबन्ध में उन प्रश्नों की सूची दे चुके हैं जिन को पूछने पर बुद्ध मौन रह जाते थे। उनके 'मौन' का तात्पर्य तो यही था कि मनुष्य को विवाद में न पड़कर अस्टांगिक मार्ग से जीवन को सुधारना चाहिये परन्तु पीछे महायानी दार्शनिकों ने उनके मौन के विभिन्न अर्थ लगाये। क्षणिकवाद व प्रतीत्य समुत्पाद की व्याख्याओं में भी खींचतान प्रारम्भ हुई। बुद्ध कहा करते थे कि मुझे बड़े बड़े अलौकिक अनुभव होते हैं इससे 'मौन' का अर्थ 'अवर्णनीय स्थिति' लगाया गया और इससे सत्ता का स्वरूप भी अनिर्वचनीय माना जाने लगा। बुद्ध ने वस्तु सत्ता को कम से कम क्षण स्थायी अवश्य माना था परन्तु विज्ञानवाद ने वस्तु सत्ता के अस्तित्व से ही इन्कार कर दिया और केवल 'विज्ञान' को ही सत्य माना। शून्य वादियों ने उसे भी नहीं माना, वस्तु का स्वरूप निर्धारित ही नहीं हो सकता अतः सब शून्य है यह कहा गया।

सौत्रांतिकों व वैभाषिकों ने वस्तु सत्ता को किसी न किसी रूप में अवश्य माना। इस प्रकार बौद्ध मत के महायानी पंथ में चार सम्प्रदाय प्रसिद्ध हुये, यद्यपि वे गणना में १८ हैं—

(१) शून्यवाद (२) विज्ञानवाद (३) सौत्रांतिक (४) वैभाषिक पहले हम शून्यवाद की चर्चा करते हैं। इसे माध्यमिक मत भी कहते हैं इसके प्रवर्तक थे नागार्जुन। चूँकि यह मध्यम मार्ग का अनुयायी है अतः इसे 'माध्यमिक मत' भी कहते हैं।

शून्यवाद—नागार्जुन के शून्यवाद का प्रतिपादन 'माध्यमिक-शास्त्र' में हुआ है। नागार्जुन के अनुसार भावात्मक पदार्थों की व्याख्या नहीं की जा सकती अतः सारे भावात्मक पदार्थ 'शून्य' हैं। प्रथम कारिका की व्याख्या से ही नागार्जुन का दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है।

ना स्वतो नापि परतो, न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः।
उत्पन्ना जातु विद्यन्ते, भावाः क्वचन केचन्।

चन्द्रकीर्ति ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—"भावात्मक पदार्थ न अपने से उत्पन्न होते हैं न अन्य किसी पदार्थ से, न अपने और अपने से भिद्ध पदार्थ से। अर्थात् यदि कहो कि भावपदार्थ अपने से उत्पन्न होते हैं तो यह उपयुक्त नहीं, क्योकि ऐसी दशा में उनकी उत्पत्ति व्यर्थ है। इस प्रकार कोई भी नया पदार्थ उत्पन्न नहीं हो सकता, अतिव्याप्ति दोष आ जायगा। जो पदार्थ विद्यमान हैं उनकी उत्पत्ति का अर्थ ही क्या हो सकता है? यदि यह कहो कि अपने से भिन्न भावपदार्थों से दूसरे पदार्थ उत्पन्न होते हैं तो भी यह अयुक्त होगा, क्योंकि तब किसी भी वस्तु से कोई भी वस्तु उत्पन्न हो सकती है। यदि कहो भावात्मक पदार्थ अपने से और अपने से भिन्न दोनों से उत्पन्न होते हैं तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि इसमें पहले दोनों पक्षों की तरह दोष है। यदि कहो बिना कारण ही पदार्थ उत्पन्न होते हैं तो यह भी असङ्गत है, क्योंकि कारण के बिना कार्य उत्पन्न नहीं हो सकते।"

इस प्रकार नागार्जुन भावात्मक पदार्थों की उत्पत्ति नहीं मानता। वह गति, गन्ता, गमन क्रिया, स्थिति, कारण, कार्य, उत्पत्ति, इत्यादि किसी को नहीं मानता, प्रामाण्यवाद उसकी दृष्टि में भ्रम है।

किसी भी वस्तु की हम व्याख्या नहीं कर सकते क्योंकि उस व्याख्या में विरोध उत्पन्न हो जाते हैं, अतः वस्तु का कोई स्वरूप निर्धारित नहीं हो सकता, वस्तु में कोई स्थिर धर्म नहीं है, इसी प्रकार दुःख, बन्धन, मोक्ष, तथागत, निर्वाण, पञ्चस्कन्ध आदि की भी व्याख्या नहीं हो सकती। हम उन्हें केवल एक नाम दे सकते हैं—'शून्य' अन्य कुछ भी नहीं कह सकते। किन्तु नागार्जुन अपने 'शून्य' को 'प्रतीत्य समुत्पाद' के सिद्धान्त के विरुद्ध नहीं जाने देना चाहते थे, अतः उन्होंने शून्यता के सिद्धान्त की व्याख्या का आधार 'प्रतीत्य समुत्पाद' को ही बनाया। कहा गया—

या प्रतीत्य समुत्पादा शून्यतां तां प्रचक्ष्महे॥*

अर्थात् "जो कारणों या हेतुओं से उत्पन्न हुआ है उसे हम शून्यता कहते हैं" विश्व में कोई पदार्थ ऐसा नहीं जो कारणों पर निर्भर न हो और जो कारणों पर निर्भर है वह स्वतन्त्र नहीं है, और जो स्वतन्त्र नहीं है वह परतन्त्र है और जो परतन्त्र है, वह शून्य है। इस प्रकार विश्व के किसी पदार्थ का लक्षण नहीं किया जा सकता। इसलिये वे स्वभाव शून्य हैं। डा० शर्वात्स्की ने भी शून्यता का अर्थ अनित्यता किया है। जब पदार्थ सत् नहीं हैं तब क्या वे असत् हैं, उत्तर होगा, नहीं, वस्तुयें गगन पुष्प के समान असत् भी नहीं हैं, अर्थात् भावात्मक पदार्थों को न सत् कहा जा सकता है न असत्। शंकर ने भी कहा था कि वस्तुयें सत् नहीं हैं, क्योंकि उनकी सत्ता भूत, भविष्य, वर्तमान में अबाधित नहीं है। न वे पूर्णतया असत् ही हैं, यथा शशशृंग। अतः वे अनिर्वचनीय हैं। इस प्रकार 'शून्यवाद' 'मायावाद' बहुत दूर नहीं है। आगे हिन्दी काव्य में एक ओर सिद्धों व सन्तों ने प्रकारान्तर से 'सुन्न' की पुकार लगाई तथा दूसरी ओर कबीर आदि सन्तों तथा तुलसी जैसे भक्तों ने भी संसार को 'माया' कहा, यों 'माया' के अर्थ बदलते रहते हैं जैसा कि आगे चलकर हम देखेंगे। 'शून्य' को आगे चल कर सिद्धों के यहां एक सत्ता के रूप में स्वीकार कर लिया गया। संसार के पीछे कोई अज्ञेय शक्ति है, यह मान लिया गया। स्वयं नागार्जुन के शून्यवाद में बुद्ध की समाधिगत अवस्था को, उनकी

* डा० देवराज—"भारतीय दर्शन शास्त्र का इतिहास पृष्ठ १६४"

अलौकिक अनुभूति को जब शून्य कहा जाता है तब एक प्रकार के अज्ञेयवाद की पुष्टि हो जाती है

शून्यमिति न वक्तव्यमशून्यमिति ना भवेत्।
उभयं नोभयञ्चेति, प्रज्ञप्त्यर्थं नु कथ्यते ॥

अर्थात् उसे न शून्य कहना चाहिये न अशून्य, न दोनों, न दोनों से भिन्न। लोगों के समझाने के लिये ही कुछ कहना पड़ता है।
(देखिये भारतीय दर्शन का इतिहास —डा० देवराज)

मध्यकालीन हिन्दी काव्य में इस अज्ञेयवाद का वर्णन बहुत मिलता है, जिसे हम यथा स्थान देखेंगे। हाँ तो यह 'शून्य' सत्ता का अभाव नहीं बतलाता अपितु सत्ता का एक विशेष रूप बतलाता है जिसे हम न सत् कह सकते हैं न असत्, न निरपेक्ष, न अतात्विक, केवल 'शून्य' कह सकते हैं। तो 'शून्य' का सहज प्रचलित अर्थ न लेकर हमें इसका विशेष अर्थ स्मरण रखना चाहिए। 'शून्य' का अर्थ आस्तिक दार्शनिकों ने माध्यमिक के खण्डन के लिए "सत्ता का अभाव" लिया है, परन्तु शून्य का अर्थ अभाव नहीं है जैसा कि ऊपर की व्याख्या से स्पष्ट है। प्रत्येक सम्प्रदाय ने बुद्ध के 'प्रतीत्य समुत्पाद' की व्याख्या के अनुकूल ही अपने को सिद्ध करना चाहा अतः शून्यवाद सर्व क्षणिक-वाद का ही पृष्ठ पोषक है।

हमने अभी कहा कि आस्तिक दर्शन शून्य का अर्थ 'सत्ता का अभाव' लेते हैं। वेदान्त सूत्रों में भी 'शून्य' का यही अर्थ लिया गया है। 'The third variety of Bauddha doctrine, that every thing is empty (ie, that absolutely nothing exists) is contradicted by all means of right knowledge, and therefore requires no special refutation, for this apparent world, whose existence is guaranteed by all the means of knowledge, can not be denied ❀ अर्थात् बौद्ध सिद्धान्तों का तीसरा प्रकार (सौभान्तिक व वैभाषिक, प्रथम व द्वितीय) यह है कि प्रत्येक वस्तु का अभाव है। वस्तु की सत्ता

❀ वेदान्त सूत्र २, अध्याय २, पद ३२, सूत्र पर शंकर की टीका George Thibaut-द्वारा अनूदित।

ही नहीं हैं, किन्तु शुद्ध ज्ञान से इस सिद्धान्त में विरोध आता है, अतः विशेष खण्डन की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि इस प्रत्यक्ष जगत का अस्तित्व ज्ञान तो ज्ञान के सभी साधनों से स्पष्ट रूप से हो ही रहा है फिर जगत के बाह्य पदार्थों की सत्ता से इन्कार कैसे किया जा सकता है। किन्तु यहाँ 'शङ्कर' ने शून्यवादी को अभाववादी मानकर खण्डन कर दिया है, यह ठीक है, किन्तु शून्यवादी वस्तुतः सत्य के दो रूप स्वीकार करता है—(१) साँवृतिक सत्य। (२) पारमार्थिक सत्य। बुद्ध ने सत्य के दोनों रूपों को ही प्रस्तुत किया था, उनकी शिक्षाओं में कहीं व्यावहारिकता (साँवृतिक सत्य) है कहीं पारमार्थिकता। सँवृत्ति का अर्थ है अविद्या जो 'वस्तु' को 'अवस्तु' के रूप में हमारे सम्मुख प्रस्तुत करती है। अर्थात् संवृत्ति का स्वरूप आवरण करने वाला है, अविद्या, मोह व विपर्य सब इसी के पर्याय हैं। पाण्डु रोग हो जाने पर सारी वस्तुयें पीली दिखाई पड़ती हैं। यहाँ वस्तुओं का अपना वास्तविक रूप छिप गया और वे अन्य रूप में दिखाई पड़ने लगीं यही संवृत्ति सत्य है। जगत् में जो वस्तुयें हमें दिखाई पड़ रही हैं वे भी ऐसी ही हैं। वस्तु का स्वरूप वही नहीं है जो हमें दिखाई पड़ रहा है, क्योंकि यदि वस्तु का वास्तविक रूप ही हमें दिखाई पड़ रहा है तो तत्वज्ञान की कोई आवश्यकता नहीं थी। अतः संवृति सत्य की दृष्टि से (व्यवहारिक सत्य की दृष्टि से) वस्तु-ज्ञान ठीक है परन्तु तात्विक दृष्टि से हम विश्व की किसी भावात्मक सत्ता का लक्षण नहीं बता सकते, चूँकि पारमार्थिक दृष्टि से वस्तुयें स्व-भाव-शून्य, अपने लक्षण के अभाव वाली हैं अतः हम उन्हें 'शून्य' कह सकते हैं, क्योंकि वस्तुओं का यथार्थ स्वरूप चार कोटियों में रखा जाता है—[१] वस्तु सत्य है, [२] वस्तु असत्य है। [३] वस्तु न सत्य है, न असत्य है, [४] वस्तु सत्य भी है और असत्य भी है। चूँकि इन चारों कोटियों में हम किसी भी वस्तु को नहीं रख सकते अतः 'वस्तु' को हमें 'शून्य' कहना पड़ता है। इस व्याख्या से स्पष्ट है कि नागार्जुन का अर्थ 'शून्य' से अनिर्वचनीयता ही है, वस्तु का अभाव नहीं। जगत की सत्ता व्यवहारिक अवश्य है पर पारमार्थिक दृष्टि से उसे विशेष अर्थ में 'शून्य' कहना पड़ता है। अब प्रश्न यह है कि जब वस्तु अवर्णनीय या शून्य है तो जगत् में सतत् उत्पत्ति प्रवाह कैसे चलता है ? इसके लिये नागार्जुन ने शून्य को प्रतीत्य समुत्पाद से जोड़ा।

शून्यता का अर्थ है वस्तुओं का परस्पर एक दूसरे पर निर्भर होना। "वस्तुओं का ऐसा कोई धर्म नहीं है जिसकी उत्पत्ति किसी और पर निर्भर न हो। अर्थात् परतन्त्र होने के कारण जितने धर्म हैं वे शून्य हैं। अतः शून्यता का अर्थ वस्तुओं का परावलम्बन, उनकी निरन्तर परिवर्तन शीलता तथा उनकी अवर्णनीयता"।❀ अतः ऊपर शंकर की आलोचना केवल "अभाववाद" की है जो कि शून्यवाद का पर्याय प्रायः मान लिया जाता है अन्यथा शंकर अपनी शाश्वत आत्मा की औपनिषद् आधार पर सिद्धि करने के अतिरिक्त, जगत की व्यावहारिक व पारमार्थिक सत्तायें वैसे ही मानते हैं जैसे कि 'संवृत्ति' को मानने वाले नागार्जुन। साथ ही 'शंकर' के 'आत्म स्वरूप' की अवर्णनीयता पर भी शून्यवाद का प्रभाव है। यही नहीं, जहाँ ब्रह्म का स्वरूप वर्णन होता है वहाँ की पद्धति पर भी शून्यवादियों का पर्याप्त प्रभाव है। महायानी बौद्ध दर्शनों में 'शून्यवाद' सर्वश्रेष्ठ दर्शन माना जाता है। विज्ञानवाद का महत्व भी कम नहीं है, आगे शंकर वेदान्त के निर्माण में इन दर्शनों ने बड़ी सहायता की।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि 'शून्य' के विभिन्न अर्थ हैं। 'वस्तु' का लक्षण हम कुछ न कर सकें तब उसे शून्य कहें, यह और बात है, और वस्तु की सत्ता ही न मानें यह और बात है। शून्यता से 'अनित्यता' का भी अर्थ लिया गया और सत्ता के अभाव का भी, गौतम बुद्ध अनित्यता वादी थे, अभाववादी नहीं। शून्यवाद में यह अभाववाद मान लिया गया और नागार्जुन की कारिकाओं से वह पुष्ट भी हो जाता है। स्वयं राहुल जी ने यह बात स्वीकार की है—"नागार्जुन ने क्षणिकवाद और प्रतीत्य समुत्पाद के आधार पर अपने सापेक्ष्यवाद या शून्यवाद का विकास किया।"

यह हम बतला चुके हैं विच्छिन्न प्रवाह रूप में वस्तुओं के निरन्तर विनाश और उत्पत्ति होने से प्रत्येक वस्तु की स्थिति को सापेक्ष्य तौर पर ही कह सकते है। सर्दी की सत्ता हमें गर्मी की अपेक्षा से मालूम होती है, गर्मी की सर्दी की अपेक्षा से। इस तरह सत्ता सापेक्ष्य ही सिद्ध होती है। सापेक्ष्य सत्ता से वस्तु का सर्वथा अभाव

❀ भारतीय दर्शन—सतीशचन्द्र चट्टोपाध्याय, पृष्ठ १५३

सिद्ध करना मर्यादा को पार करना है, तो भी हम जानते हैं कि नागार्जुन का सापेक्ष्यतावाद अन्त में वहाँ तक जरूर पहुँचा और इसीलिए शून्यवाद का अर्थ जहाँ क्षणिक जगत और उसका प्रत्येक अंश किसी भी स्थिर तत्व से सर्वथा शून्य है—होना चाहिये था; वहाँ क्षणिकत्व से भी उसका अर्थ शून्य—सर्वथा शून्य—मान लिया गया। "भावों में (सद्भूत पदार्थों में) एक का दूसरे में अभाव (घड़े में कपड़े का अभाव, कपड़े में घड़े का अभाव) देखा जाता है। इसलिये सारे पदार्थ अभाव (शून्य) ही हैं।" (दर्शन दिग्दर्शन पृष्ठ ६४६)

नागार्जुन का 'शून्यवाद' 'नकारात्मकतावाद' है। इस दार्शनिक ने प्रमाण-समुदाय को भी नहीं माना। लक्षण, उद्देश्य, परीक्षा जो न्याय के अन्तर्गत होती हैं वे सब अयुक्त हैं, यह माध्यमिक कारिका में विस्तार से सिद्ध किया गया है, चूँकि जगत की किसी वस्तु की हम लक्षण उद्देश्य, व परीक्षा नहीं कर सकते अतः वस्तुयें 'शून्य' हैं। प्रमाण-ज्ञान विध्वंसक होने के कारण ही माध्यमिक को घोर नास्तिक कहा गया है। The notion of causation is an illusion and since the doctrine of Buddha admits nothing that is uncaused the whole universe must be illusory. All expirence is a delusion and the world, a tissue of false things falsely re'a'e l (Out line of Indian philosophy) अर्थात् कारणवाद का सिद्धान्त एक भ्रम है और चूँकि बुद्ध कारण रहित किसी वस्तु को स्वीकार नहीं करते अतः जगत एक भ्रम मात्र है। 'शून्यवादी' ध्वंसात्मक आलोचक है, नुक्ताचीनी ही उसका दर्शन है, 'The Madhyamika is the champion of pure criticism, for him criticism itself is philosophy." (योगाचारी आदर्शवाद, डा० अशोक कुमार चटर्जी, पृष्ठ ३६३) किन्तु इस ध्वंसात्मक आलोचना के बावजूद भी शून्यवादी दर्शन अपनी व्याख्या को 'बुद्ध' के सिद्धान्त के विरुद्ध नहीं जाने देना चाहता, वह 'प्रतीत्य समुत्पाद' के साथ शून्य सिद्धान्त का सामञ्जस्य घटित करना चाहता है अतः आलोचक की दृष्टि से तो वह 'नकारात्मकतावाद' तक पहुँच जाता है और स्थापना की दृष्टि से बुद्ध के सिद्धान्त के निकट ही रहता है हम यहाँ 'शून्यवाद' पर विभिन्न मतों को एकत्र कर रहे हैं:—

सिद्धान्त	व्याख्याकार	'शून्य' की व्याख्या	विशेष
शून्यवाद	अक्षपाद (नैयायिक)	शून्य का अर्थ सत्ता का अभाव है	शून्य का सामान्य अर्थ लिया है
	बादरायण व शङ्कराचार्य वेदान्ती	शून्य का अर्थ सत्ता का अभाव है	शून्य का सामान्य अर्थ लिया है
	डा० शर्वात्स्की	शून्य का अर्थ आपेक्षिक या अनित्य तथा शून्यता का अर्थ सापेक्ष्यता या अनित्यता है	शून्यता सिद्धान्त को प्रतीत्य समुत्पाद के विरुद्ध नहीं जाने दिया
	सुजकी	शून्यता का अर्थ है कि वस्तुएं कारणों पर निर्भर होती हैं और अनित्य होती हैं	" "
	डा० दास गुप्त	वस्तुएँ सापेक्ष्य अतः अनिर्वचनीय या लक्षण के अयोग्य हैं	The void (शून्य) does not mean pure negation for that is relative to some kind of position.
	राहुल सांकृत्यायन	शून्यता का अर्थ है 'प्रतीत्य समुत्पाद', वस्तु सत्ता का सापेक्ष होना, परन्तु नागार्जुन सापेक्ष्यता को पार कर वस्तु के अभाव को शून्यता मानने लग जाते हैं	राहुलजी के अनुसार शून्य सिद्धान्त प्रतीत्य समुत्पाद की व्याख्या करता तो है पर उसका समाहार वस्तु सत्ता के अभाव-स्वीकृति में ही होता है

विनयतोष भट्टाचार्य	शून्य का अर्थ परमाथ सत्ता है	
डा० हर्बर्ट वी० गेन्थर	शून्य का अर्थ सत्ता का अभाव नहीं है, यह सत्य से अलग हो जाना भी नहीं है, शून्य का अर्थ है 'भ्रम' का अभाव	It is the emptiness of illusion and illusion does not moan the illusion of perception but the false conclusions we base upon perception.

'शून्यवादी' को माध्यमिक इसलिये कहा गया है कि यह सत्ता को न सत् मानता है, न असत् मानता है, न उसे सत् असत मानता है। अतः मध्य का मार्ग अपनाने के कारण इसका नाम माध्यमिक पड़ा। (The phenomena therefore can not be said to be either existent or non-existent, and no turth can be affirmed of either eternalism or nihilism (उच्छेदवाद) and it is for this reason that this doctrine is called middle doctrine."❋ इस मध्यम मार्ग की दृष्टि से पारमार्थिक सत्ता का स्वरूप शाश्वतवाद व उच्छेदवाद के विरुद्ध अनिर्वचनीयतावाद के अनुकूल है। वह परमतत्व 'शून्य' है। संवृतिसत्य उसे पाने की सीढ़ी है। निर्वाण की अवस्था व्यवहारिक जगत के अनुभवों से सर्वथा भिन्न है, वह कल्पनातीत है। उसका वर्णन केवल नकारात्मक ही हो सकता है, इस स्थिति में विषयी, विषय तथा कर्त्ता, कर्म की विशिष्टता नहीं रहती। बुद्धि के द्वारा ग्रहणीय सत्य है संवृतिसत्य, परमार्थसत्य बुद्धि के द्वारा ग्रहणीय नहीं है। वह सत्य 'मौन' रहकर ही बतलाया जा सकता है, (वेदान्त में भी शिष्य की जिज्ञासा का उत्तर आचार्य ने मौन रह कर ही दिया था) बुद्ध कहते थे कि मुझे अनेक अलौकिक अनुभव होते हैं। यह स्थिति कथनीय नहीं है, नागार्जुन के अनुसार—"जो अज्ञात है, जिसकी प्राप्ति नई नहीं है, जो सदैव प्राप्त है, जिसका विनाश नहीं है, जो नित्य भी नहीं है, जो निरुद्ध नहीं है, जो उत्पन्न भी नहीं है उसका नाम निर्वाण है" निर्वाण के तथा-भूत स्वरूप को जो जानते हैं वे तथागत हैं। जो स्वरूप निर्वाण का है वही तथागत का भी है, अतः 'तथागत' का भी वर्णन नहीं हो सकता है। इसका यह अर्थ हुआ कि 'तथागत' वेदान्तियों के ब्रह्म की तरह सर्वथा अलौकिक अनन्त, अपरिमेय और अनिर्वचनीय होगये। बौद्ध तन्त्रों में सिद्धों ने इन्हीं 'तथागत' को 'शून्य' कहकर एक भावात्मक सत्ता की स्वीकृति दी है और निर्वाण की अवस्था का वर्णन इसी नकारात्मक पद्धति पर किया अवश्य, परन्तु वह स्थिति 'है' इससे इन्कार नहीं किया जा सका, उसका स्वरूप चाहे जैसा हो। नेति-नेति से इस पद्धति को मिलाइये तो स्पष्ट होगा कि

❋ A History of Indian philosophy by दास गुप्ता, पृष्ठ १४३—१४४

नेति-नेति का अर्थ यह नहीं है, कि कोई सत्ता है नहीं। अपितु उसका अर्थ यही है कि उस सत्ता के विषय में जो हम कह रहे हैं, उससे वह भिन्न प्रकार की वस्तु है। अतः 'शून्यवाद' से दोनों बातें मिलीं, इसे आस्तिकदर्शनों ने अभाववाद समझा, उसकी आलोचना की परन्तु उसकी 'देन' से वे इन्कार न कर सके। उपनिषद् से परमतत्व लेकर वे उसकी सिद्धि नागार्जुन की पद्धति पर ही करने लगे। वेदान्तियों की मोक्ष अवस्था भी शून्यवादियों की निर्वाण अवस्था जैसी ही अनिर्वचनीय है। उस समय होने वाले पारमार्थिक अनुभव को कहा नहीं जा सकता। अतः यह अवाङ्मनसगोचरवाद शून्यवादियों द्वारा पहले ही प्रतिष्ठापित हो चुका था। यों उक्त सारे तत्व उपनिषद् में सुरक्षित हैं। परन्तु १—जगत की दोहरी सत्ता, २—उपनिषद् में ब्रह्म के साकारात्मक वर्णन को मायामय कहकर केवल नकारात्मक रूप गृहण करना, ३—मोक्ष की अवस्था में सत्य की अनुभूति—ये बातें शून्यवाद का शंकर पर प्रभाव स्पष्ट प्रकट करती हैं। शंकर जगत की व्यावहारिक व पारमार्थिक सत्ता मानते हैं, इस पर नागार्जुन ने विचार किया था, व्यवहारिक दृष्टि से, चाहे उतना जोर देकर नहीं।

They are all real so far as empirical purposes go, but they vanish like mist when they are subjected to philosophic investigation. They may be intelligible from a practical stand point, but they altogether fail to satisfy a philosophic criterion, being wholly of a self-discrepant nature. (Out line of Indian Philosophy.)

बौद्ध तांत्रिकों, सिद्धों, कापालिकों, अवधूतों में शून्यवाद का ही विकसित रूप है। निर्वाण व परमसत्य का वर्णन पूर्णतया शून्यवाद का ही है। अन्तर यही है कि उसमें प्रतीकात्मक यौगिक क्रियाओं का सम्बन्ध हो गया है। उस अलौकिक अनुभूति के लिए वज्रयानियों ने किन-किन लौकिक उपायों को चुना, यह हम यथा स्थान देखेंगे। कहना न होगा कि हिन्दी के मध्यकाल में शून्यवाद से प्रभावित सन्तों की धारा एक प्रबलधारा रही है। जिसने जन-चेतना

को दूर तक प्रभावित किया था और जिनका विरोध तुलसी जैसे लोक नेता को भी करना पड़ा था।

'विज्ञानवाद—महायान सम्प्रदाय का दूसरा सम्प्रदाय 'विज्ञानवाद' है, इसके समर्थकों में अश्वघोष, मैत्रेय, असंग व वसुबधु आदि हैं। ये लोग बाह्य सत् पदार्थों की शून्यता—क्षणिकता को तो मानते हैं परन्तु आंतरिक 'विज्ञान' को शून्य नहीं मानते, स्वयं संवेदन अर्थात् मानसिक जगत को तो मानना ही चाहिये और जब मानसिक जगत विज्ञान को स्वीकार कर लिया तो बाहरी वस्तुओं के मानने की आवश्यकता है ही नहीं। कोई पदार्थ ऐसा नहीं है जो बुद्धि का विषय हो, बुद्धि का अनुभव दूसरा कुछ नहीं, जो ग्रहण किया जाय और जो ग्रहण का साधन है इन दोनों का अभाव है अतः बुद्धि अपने आप प्रकाशित होती है—

नान्योऽनुभाव्यो बुद्ध्यस्ति, तस्या नानुभवोऽपरः।
ग्राह्य ग्राहक वैधुर्यात् स्वयं सैव प्रकाशते॥

इस प्रकार बुद्धि के अतिरिक्त पदार्थों की कोई सत्ता नहीं है। ज्ञान से ही इंद्रियों का बोध होता है, अतः इंद्रियाँ ज्ञान से भिन्न नहीं हैं। इसी प्रकार अन्य वस्तुओं की भी कोई सत्ता नहीं है, वस्तुयें स्वयं ज्ञान रूप है परन्तु जगत की वस्तुओं का तो प्रत्यक्ष बोध होता है, इसके लिये उत्तर है कि स्वप्न में भी तो अनेक वस्तुओं का प्रत्यक्षवत् बोध होता है अतः यह जगत् स्वप्नवत् है। यहाँ सत् केवल विज्ञान है। बाहरी पदार्थों का अस्तित्व ही नहीं है, वे गगन-पुष्प की भाँति अस्तित्व-विहीन हैं। 'पुस्तक' के रूप में जिस वस्तु का हमें बोध हो रहा है, वह रूप वस्तुतः हमारे मानसिक क्षितिज का प्रक्षेपण मात्र है। अर्थात् पुस्तक का रूप पूर्व जन्म के संस्कारों से हमारे चित्त में पहले से ही विद्यमान है अतः वही रूप बाहर पुस्तक रूप में परिणत हो जाता है। जिसे हम पुस्तक कहते हैं वस्तुतः उस पुस्तक का कोई अस्तित्व नहीं है। सारा जगत बुद्धिमय है "सर्वं बुद्धिमयं जगत"। विज्ञानवादियों का कहना है कि पदार्थ और ज्ञान दोनों को मानने की आवश्यकता नहीं है। जगत को केवल बुद्धि या ज्ञान के आधार पर समझा जा सकता है। जैसे "स्वप्न में घट, पट आदि पदार्थों का अस्तित्व नहीं होता है केवल ज्ञान ही होता है और उसी ज्ञान के आधार पर स्वप्न काल में सारे

लौकिक व्यवहारों का उपपादन हो जाता है, इसी प्रकार जागृत-काल का सारा व्यवहार भी अर्थों के विना केवल ज्ञानमात्र से चल रहा है। इसलिये ज्ञान से अतिरिक्त अर्थों का कोई अस्तित्व नहीं है, केवल ज्ञान ही एक यथार्थ वस्तु है। जगत स्वप्नवत् परिकल्पित है॥ शंकर भी केवल ज्ञान को ही सत् मानते हैं जगत को मिथ्या मानते हैं।

परन्तु 'मिथ्यात्व' का अर्थ अस्तित्व विहीनता नहीं है। शङ्कर व्यावहारिक रूप से जगत को सत्य मानते हैं, पारमार्थिक रूप से नहीं। अतः 'मिथ्या' का अर्थ सद् असद् विलक्षण हुआ। विज्ञानवादी तो वाह्य पदार्थों का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करता, केवल 'विज्ञान' को सत्य मानता है। वह कहता है कि जब हम किसी वस्तु को देखते हैं तो उस वस्तु में हम लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई, ऊँचाई देखते हैं उसमें नीला, पीला, काला, हरा रङ्ग देखते हैं, उसमें कठोरता या चिकनापन देखते हैं। इनसे अलग, 'वस्तु' क्या है, कुछ नहीं। अतः हम नीलादि रङ्गों व लम्बाई आदि को ही देखते हैं, किसी वस्तु को नहीं। मन में तथा इन्द्रियों के विज्ञानों में कहीं भी वाहरी वस्तुओं का अस्तित्व नहीं मिलता। निर्णय करने वाला तो केवल 'विज्ञान' है, वही सिद्ध है। 'जैसे-जैसे अर्थों पर विचार किया जाता है, वैसे ही वैसे वे छिन्न-भिन्न हो लुप्त होते जाते हैं, उनका भौतिक रूप सिद्ध नहीं होता'। वाहर जगत के पदार्थ अलग से प्रतीत होते हैं, यथा स्वप्न के पदार्थ चेतना के क्षितिज में होने पर भी अलग से प्रतीत होते हैं। प्रश्न यह होगा कि अलग-अलग पदार्थ दिखाई क्यों पड़ रहे हैं? उत्तर होगा—घट, पट आदि की पूर्व वासना हमारे मन में पहले से विद्यमान है। जब हम यहाँ इस जगत में घड़े को देखते हैं तो घट ज्ञान, पूर्वस्थित संस्कार को जगा देता है अतः संस्कारों की भिन्नता के कारण वस्तुओं की भिन्नता दिखाई पड़ती है। इससे स्पष्ट हुआ कि विज्ञानवादी 'विज्ञान' को सत्य मानता है। माध्यमिक किसी भी वाहरी-भीतरी तत्व का अस्तित्व नहीं मानता, इसीलिए वह शून्यवादी है। विज्ञानवादी यह मानने को प्रस्तुत नहीं है कि विज्ञान या चित्त की भी सत्ता नहीं है, क्योंकि चित्त के न माननें से किसी भी विचार का प्रतिपादन नहीं हो सकता। यदि हम चित्त को—जो कि विज्ञान के प्रवाह का ही दूसरा

॥ आचार्य विश्वेश्वर "तर्क रहस्य दीपिका" पृष्ठ २२५

नाम है, स्वीकार कर लें, तो हमें फिर किसी भी वस्तु के मानने की आवश्यकता नहीं है। धर्मकीर्ति ने कहा था कि नीले रङ्ग में तथा नीले रङ्ग के ज्ञान में अभेद है, आँख के सामने अँगुली लगा कर देखने से चन्द्रमा दो दिखाई पड़ते हैं परन्तु यह स्पष्ट भ्रम है। प्रश्न यह है कि हमें किसी वस्तु का ज्ञान क्यों होता है? उत्तर होगा ज्ञान के कारण। हमें किसी वस्तु का ज्ञान होता है, ज्ञान से पृथक किसी भी वस्तु का इसीलिए कोई अस्तित्व नहीं है। यदि बाहरी जगत को स्वीकार करें तो उसकी सत्ता समझ में नहीं आती क्योंकि वस्तु या तो एक 'अणु' से बनी होगी या कई परमाणुओं के संयोग से। यदि एक अणु से निर्मित होगी तो उसका प्रत्यक्ष हो नहीं सकता और यदि वह अनेक परमाणुओं से बनी होगी तो उस पूरी वस्तु का भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। हम सम्पूर्ण घड़े को एक साथ कभी नहीं देख सकते, उसका एक पहलू ही हम देख सकते हैं। फिर साथ ही हमें वस्तु का ज्ञान तभी हो सकता है जब कि उसकी उत्पत्ति होती हो, किन्तु वस्तु तो क्षणिकवाद के अनुसार उत्पन्न होने के प्रथम क्षण में ही नष्ट हो जाती है, अतः यह भी नहीं कह सकते कि वस्तु उत्पन्न होती है। 'वस्तु' और 'उस से भिन्न वस्तु का ज्ञान' एक ही क्षण में असंभव है। अतः वस्तुओं का अस्तित्व है नहीं, हमें उनका अस्तित्व इसीलिए प्रतीत होता है कि वह चित्त का एक प्रत्यय है। हमारे आन्तरिक विज्ञान में आलय-विज्ञान है। आलय विज्ञान का अर्थ यह है कि चित्त के भीतर अनेक ज्ञान के बीज रक्खे हुये हैं, जैसे हम आलमारी में अनेक वस्तुएँ रख देते हैं उसी प्रकार चित्त एक ऐसी आलमारी है जिसमें अनेक ज्ञानों के बीज सुरक्षित हैं, और अनुकूल अवसर पर वस्तु का संस्कार जो भीतर चित्त में विद्यमान हैं, बाहर घट, पुस्तक, वृक्ष आदि के रूप में दिखाई पड़ने लगते हैं, वस्तुतः पुस्तक, वृक्ष आदि के सूक्ष्म संस्कार भीतर हैं, बाहर नहीं। भीतर चित्त की आल्मारी में ऐसी अनेक वस्तुओं के, पूर्वजन्मों में प्राप्त अनेक संस्कार सुरक्षित हैं जिनके प्रक्षेपण Projeotion ही जगत के रूप में प्रतीत हो रहे हैं।

तब प्रश्न होता है कि यह आलय-विज्ञान स्थिर है या नश्वर? क्या विज्ञान व हिन्दुओं के 'आत्मा' में कोई अन्तर है? उत्तर होगा, अन्तर है, और वह यह है कि हिन्दुओं का आत्म-तत्व एक अविनाशी

स्थिर तत्व है जो सम्पूर्ण संस्कारों, अनुभवों, स्मृतियों आदि का साक्षी है परन्तु आलय विज्ञान नित्य नहीं, अनित्य और अस्थिर है। विज्ञान तो परिवर्तनशील चित्त-वृत्तियों का एक संग्रह है। इस प्रकार ये आलय-विज्ञानवादी दार्शनिक आगे कहते हैं कि योग और आचार से हम इस आलय विज्ञान को वश में कर सकते हैं और तब विषयों के ज्ञान को सर्वथा रोक सकते हैं। इसीलिये ये योगाचारी कहलाते हैं।

वर्कले भी प्रत्ययवादी (Subjective idealist) था वह ईश्वर, जीव और इन दोनों के प्रत्ययों के अतिरिक्त प्रत्यक्ष जगत की सत्ता में विज्ञानवादी बौद्धों के समान ही विश्वास नहीं करता था।*

विज्ञानवादियों का आधार ग्रन्थ है 'लङ्कावतार सूत्र' जिसमें कहा गया है—

> दृश्यते न विद्यते वाह्यं चित्तं चित्रं हि दृश्यते।
> देह भोग प्रतिष्ठानं, चित्तमात्रं वदाम्यहम्॥

अर्थात् बाहरी दृश्य जगत बिल्कुल विद्यमान नहीं है, चित्त ही अनेक रूपों में दिखाई पड़ रहा है। कभी वह चित्त शरीर के रूप में, कभी वस्तुओं के उपभोग के रूप में प्रतिष्ठित रहता है। अतः चित्त की ही एक मात्र सत्ता है। जैसे एक स्त्री के शरीर को वैरागी शव समझता है, विषयी रमणीय समझता है और कुत्ता उसे भक्ष्य समझता है, उसी प्रकार 'वस्तु' (चित्त) एक ही है, वह विभिन्न प्रकार से प्रतिभासित होती है। सत्ता को विज्ञानवादी माध्यमिकों के समान ही व्यावहारिक व पारमार्थिक मानते हैं। यहाँ भी परमार्थ व संवृत्ति का भेद दिखाया गया है, 'संवृत्ति' ज्ञान, पारमार्थिक ज्ञान का प्रतिविम्ब मात्र है। वेदान्तियों के समान विज्ञानवादी रज्जु में सर्प की भ्रान्ति के समान वाह्य जगत् को भ्रान्ति का परिणाम मानते हैं। रज्जु में सर्प का ज्ञान परिकल्पित सत्ता है। व्यवहारिक सत्ता के विज्ञानवादी दो भेद करते हैं—[१] परिकल्पित जिसका उदाहरण रज्जु में सर्प की भ्रान्ति है। [२] परतन्त्र सत्ता। वेदान्तियों ने इसका खण्डन करते समय कहा था कि जगत स्वप्न के समान नहीं है, जैसा विज्ञानवादी कहते हैं, क्योंकि जागृत अवस्था अखण्ड रहती है और स्वप्न का वोध होता है, परन्तु

* देखिये योरोपीय दर्शन—महामहोपाध्याय पं. रामावतार शर्मा कृत।

भ्रम की बात वे मानते हैं। प्रातिभासिक सत्ता व परिकल्पित सत्ता में कुछ भी अन्तर नहीं है।

इस सम्प्रदाय में धर्म-कीर्ति, धर्मपाल, असंग, दिङ्नाग, वसुबंधु आदि आचार्य प्रसिद्ध हैं। 'योगाचार भूमि शास्त्र' 'अभिसमयालंकार-कारिका' आदि इस सम्प्रदाय के प्रमुख ग्रन्थ हैं।

सौत्रान्तिक व वैभाषिक—ये दार्शनिक सम्प्रदाय हीनयानी सम्प्रदाय की शाखाएँ हैं। इनमें न तो माध्यमिकों की तरह सम्पूर्ण वस्तुओं की सत्ता का अभाव स्वीकार किया जाता है न विज्ञान वादियों की तरह केवल चित्त को मानकर बाह्य संसार का अपलाप किया जाता है, इनमें विज्ञान तथा जगत दोनों को सत्य माना जाता है। परन्तु इन दोनों में मौलिक अन्तर है। सौत्रान्तिक विज्ञानवादियों का खण्डन करते हैं परन्तु वे हैं उनके कुछ निकट ही, क्योंकि सौत्रान्तिक भी यह मानते हैं कि वस्तुतः जगत के पदार्थों का अनुमान ही कर सकते हैं क्योंकि उनके आकार तो मन में हैं। मन में वस्तु के आकार तो विज्ञान-वादी भी मानता है। तब सौत्रान्तिकों की नवीनता केवल यह है कि वे बाह्य पदार्थों को आकाश कुसुम के समान मिथ्या नहीं मानते, जैसा कि विज्ञानवादी मानते हैं। वे कहते हैं कि वस्तु का ज्ञान हमारे मन पर निर्भर नहीं है। घड़े का ज्ञान हमें होता है इस स्थिति में घड़ा बाहर है और ज्ञान भीतर है, यह स्पष्ट प्रतीत होता है। घड़े व कपड़े में हम अलग-अलग भेद देख सकते हैं। अतः वस्तुओं का अस्तित्व तो है पर उन्हें हम प्रत्यक्ष देख नहीं सकते, उनका अनुमान कर सकते हैं। बाहरी वस्तुओं के अनेक आकार होते हैं अतः ज्ञान के भी भिन्न-भिन्न आकार होते हैं। विभिन्न प्रकार के ज्ञानों से हम विभिन्न बाहरी वस्तुओं का अनुमान कर सकते हैं। सौत्रांतिक विषय को ज्ञान का कारण मानते हैं, यथा घट हमारे घट ज्ञान का कारण है। इसे वे आलम्बन कारण कहते हैं। चूँकि हमने पूर्व जन्म में भी या भूत काल में भी घड़े देखे हैं अतः उस पूर्ववर्ती मानसिक अवस्था से ज्ञान में चेतना आ जाती है और इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान का स्वरूप निश्चित हो जाता है। हमें प्रकाश, दूरी तथा वस्तु के आकार आदि का भी ज्ञान होना चाहिये। इन चारों प्रकार के ज्ञानों से हम वस्तु का अनुमान

कर लेते हैं. वाह्य वस्तुओं को अनुमेय सिद्ध करने के कारण ये 'वाह्यानुमेयवादी' भी कहलाते हैं ।

वैभाषिक वाह्य वस्तुओं को अनुमेय नहीं मानते वे यथार्थवादी नैयायिकों के समान वाहरी वस्तुओं का ज्ञान प्रत्यक्ष से ही सम्भव मानते हैं । सौत्रान्तिक कहेगा कि हम आग का अनुमान धुआँ देख कर करते हैं, अतः आग का अनुमान ही होगा, प्रत्यक्ष नहीं । परन्तु वैभाषिक कहेगा कि यह ठीक है परन्तु भूतकाल में आग व धुआँ दोनों का प्रत्यक्ष हम कर चुके हैं, इसीलिए धुयें को देख कर हमें आग का अनुमान हो सकता है, अतः वस्तुओं का ज्ञान प्रत्यक्ष से ही होता है । केवल मानसिक-प्रत्ययों के आधार पर हमें वाहरीं वस्तुओं का ज्ञान नहीं हो सकता । वैभाषिक सम्प्रदाय को कनिष्क का राज्याश्रय प्राप्त हुआ तथा अश्वघोष जैसे कवि और दार्शनिक इस सम्प्रदाय के सहायक वने । 'महाविभाषा' इस सम्प्रदाय का प्रमुख ग्रन्थ है । इन्हें सर्वास्तिवादी भी कहते हैं क्योंकि ये 'सर्व + अस्ति अर्थात् सव है, संसार में सव वस्तुओं की सत्ता है, इस सिद्धान्त को मानते हैं । सङ्घभद्र, वसुवन्ध आदि इसके प्रसिद्ध आचार्य हुये । सौत्रान्तिक सम्प्रदाय के प्रवर्तक कुमारलात थे, सूत्रपिटक से अधिक सम्बन्ध होने के कारण सौत्रांतिक कहलाये । यशोमित्र, धर्मत्रात, वुद्धदेव आदि अनेक आचार्य इस सम्प्रदाय में हुये, परन्तु यह वैभाषिक सम्प्रदाय जैसा गौरव न पा सका ।

संक्षेप में वौद्धमतों का यही सारांश है । इन सव में विज्ञानवादी व शून्यवादी विचारधारा ब्राह्मण दर्शनों से मिलती जुलती है । आचार्य शङ्कर व विज्ञानवादियों की व्याख्या में साम्य सा प्रतीत होता है परन्तु वे दोनों एक नहीं हैं, साम्य की प्रतीति स्वाभाविक है, 'दर्शन' कोई आकस्मिक घटना नहीं है । 'प्रतीत्य समुत्पाद' के अनुसार भी विश्व कारण कार्य श्रृङ्खला के प्रवाह का नाम है । प्रत्येक कार्य किसी न किसी कारण पर निर्भर करता है अतः शाङ्कर वेदान्त जिसने भारतीय मेधा को वौद्धों के पश्चात् सवसे अधिक प्रभावित किया; इन महायानी वौद्ध दार्शनिकों से अवश्य प्रभावित था । शंकर ने अपनी मान्यताओं को ब्रह्मसूत्र व उपनिषदों की अनुकूल व्याख्या से प्रमाणित कर दिखाया, यही उनकी प्रतिभा का प्रमाण है ।

आगे के आचार्यों ने भी वही परम्परा अपनाई। निजी मान्यताओं को, जिनका जन्म परिस्थिति सापेक्ष्य था, उपनिषदों व ब्रह्मसूत्रों की मनमानी व्याख्या का आधार मिल गया। और इस प्रकार अनेक सम्प्रदाय चले। इसीलिये कहा जाता है—

> मायावादमसच्छास्त्रं 'प्रच्छन्नं बौद्धमेव' च।
> मयैव कथितं देवि, कलौ ब्राह्मण रूपिणा॥

बौद्धदर्शन की सबसे बड़ी विशेषता है 'क्षणिकवाद' की देन। सारे बौद्ध सम्प्रदाय इसके आसपास ही घूमते हैं। योगाचार सम्प्रदाय में इसीलिये 'विज्ञान' भी क्षणिक है परन्तु शङ्कर एक 'नित्य सत्ता' मानते हैं। एक स्थिर सत्ता की पुष्टि तो उपनिषदों तथा ब्रह्मसूत्रों से हो जाती है पर जगत मिथ्या है, न वह सत् है न असत्, अनिर्वचनीय है—इसकी पुष्टि के लिये शङ्कर को खींचतान करनी पड़ी है।

यहाँ द्रष्टव्य यह है कि अज्ञेय आत्मा, ब्रह्म तथा वेदों के विरुद्ध खड़ा होने वाला बौद्ध मत किस प्रकार शून्यवाद व विज्ञानवाद के रूप में जगत की सत्ता को ही अस्वीकार करने लगा और आगे शङ्कर दर्शन के लिए प्रेरणा का साधन बना। घोर यथार्थ समस्याओं को लेकर चलने वाले 'मध्यमा प्रतिपदा' के विश्वासी गौतम बुद्ध और उनके अनुयायियों में कितना और कैसा विचार-विरोध आया, जो क्रान्तिकारी दार्शनिक प्रतिक्रिया को लेकर आगे बढ़ा वही मत घोर एकाङ्गिता, संकीर्ण बुद्धिवादिता में समाहार प्राप्त करने लगा। यह कहानी अत्यधिक रोचक व शिक्षाप्रद है। तार्किक भूल-भुलइयों से बचने के लिए जिसने आत्मा-परमात्मा के ऊहापोह से इन्कार किया, उसके अनुयायियों ने तर्क के तीखे अस्त्रों से जगत को ही अस्तित्वविहीन सिद्ध कर दिया। वस्तुतः विरोध की प्रतिक्रिया अपने पूर्वाधार को पूर्णतया विलग करके नहीं होती और उसका कारण होता है उत्पत्ति के साधनों में परिवर्तन की सापेक्ष्यता। भारत में वैचारिक क्रान्तियाँ समय-समय पर होती रहीं, पर घूम फिर कर समाज का रूप वही रहा। क्यों? क्योंकि यहाँ सहस्रों वर्षों तक एक ही कृषि-व्यवस्था रही। अतः आत्मवादी ब्राह्मणों को भी सर्फों के शोषण के लिए पुनर्जन्मवाद का सिद्धान्त मानना

पड़ा। ब्राह्मणवाद अपेक्षाकृत निरंकुश राज्यों में पनपा अतः पुनर्जन्मवाद ने राज्य प्रथा के प्रति विश्वास तथा उत्पादन करने वालों में सन्तोष का सृजन किया तथा गणतन्त्र व्यवस्था में जन्म लेने वाले क्षत्रिय दर्शनों बौद्धों व जैनों को भी पुनर्जन्मवाद को इसीलिए स्वीकार करना पड़ा कि आत्मा व परमात्मा मानने के बिना तो काम चल सकता था, भ्रातृभाव के प्रचार से भी प्रभाव बढ़ता ही था परन्तु यदि ये क्षत्रिय दार्शनिक पुनर्जन्मवाद, कर्मवाद को न मानते तो गणतन्त्रों में जनता का शोषण असम्भव हो जाता। प्रश्न यह है कि पुनर्जन्मवाद या आवागमन के सिद्धान्त सोचते समय क्या महावीर व बुद्ध ऐसे ही सोचते थे। उत्तर होगा नहीं। तुलसीदास १६ वीं शताब्दी में सुमित्रा-नन्दन पन्त की तरह सोच ही नहीं सकते थे परन्तु उनके सोचने की शैली में ब्राह्मणवादी विचारधारा तथा ब्राह्मणों का हित यदि अनायास ही रहे तो स्वाभाविक ही होगा। ठीक यही बात व बौद्ध दार्शनिकों की है। ब्राह्मणों के द्वारा बढ़ती हुई विषमता, यज्ञ हिंसा, ईश्वरवादी व आत्मवादी दम्भ तो इनके खण्डन का विषय बना परन्तु ये केवल दो एक बातों का विरोध कर स्वयं व्यक्तिपरक चिन्तन में डूबते गये और समाज को केवल थोड़ी सुविधा ही दिलाने में सफल हो सके। इस प्रगति को ऐतिहासिक दृष्टि से हम क्रान्ति अवश्य कहेंगे क्योंकि तब इतना कर लेना भी कठिन था परन्तु आज की दृष्टि से उस युग में पीड़ित समाज को यदि आत्मवाद व यज्ञवाद से छुटकारा मिला तो दासता व सन्तोष का बन्धन, भाग्यवाद, पुनर्जन्मवाद के रूप में अक्षुण्ण रहा और जिस प्रकार कभी 'आत्मवादी' दर्शन भी ऐतिहासिक विकास की प्रगति का शंख बजा चुका था और पीछे से केवल मौखिक समता का उद्घोषक मात्र रह कर व्यवहारिक क्षेत्र में शोषण, वर्गवाद का संरक्षक बन गया था, उसी प्रकार गणतन्त्रों में पलने वाले ब्राह्मण विरोधी दर्शनों ने भी पहले अनात्मवाद, अहिंसा-वाद आदि की घोषणा की परन्तु पीछे से अनेक सम्प्रदायों में विभक्त होकर, अपना सामाजिक रूप खोकर कोरी व्यक्तिपरक सङ्कीर्ण बुद्धि-वादी चिन्तनाओं के आधार पर जगत को समझने के भ्रम में अपने को ला पटका। संसार के दुःख, सुख, रोग, कलह, कपट को बौद्धों ने व्यक्ति-गत दृष्टि से देख कर उसे पूर्व जन्म के कर्मों का परिणाम कहा अतः

इसका अर्थ यह हुआ कि उन्होंने दुःखों व विपमताजन्य परिस्थितियों को शाश्वत मान लिया उसका सामाजिक आधार न खोजा, न उस समय खोजा जा सकता था।

अतः परिणाम यह हुआ कि ब्राह्मण विरोधी दार्शनिक जगत को समझने की चेष्टा करते करते उलझनों व अन्तर्विरोधों में फँसता गया क्योंकि एक ओर तो दार्शनिक दुःखों से भरे हुये जगत को देखता है, वह मानता है कि जगत में दुःख है और यह भी मानता है कि उस दुःख का कारण है। वह यह भी मानता है कि दुःख से मुक्ति का उपाय भी है। परन्तु वह अपने कारणों का जब स्वरूप निर्धारित करता है तब उस समय वह एक ऐतिहासिक विचार-क्रम में रहा करता है, उस की वैचारिक पृष्ठभूमि ऐतिहासिक सीमाओं से बँधी रहती है। यही कारण है कि बौद्ध व जैन दार्शनिक आगे चलकर निरपेक्ष्य सत्ता वाद के विरूद्ध खड़े तो हुये और उन्होंने इतिहास को आगे बढ़ाया भी, परन्तु अपनी सीमाओं के कारण वे आगे घोर व्यक्तिपरक चिन्तन में डूबते गये और संसार की व्याख्या करते समय उनके हाथों में या तो 'शून्य' रह गया या कोरा 'विज्ञान' जो स्वयं क्षणिक था। आगे चल कर शून्यवाद का अभाववादी (Negative) रूप समाप्त होता गया—और भावात्मक Positive अज्ञात सत्ता के रूप में उसे स्वीकृति मिल गई जोकि सिद्धों की वाणी में उद्घोपित होने लगा तथा उपनिषदों की स्थिर आत्मसत्ता के सिद्धान्त और इस सिद्धान्त में प्रायः कुछ भी अन्तर न रहा। कबीर का 'ब्रह्म' ऐसा ही था। निर्गुणवादी मीरा व कबीर जैसे कवि निर्गुण प्रियतम का स्थान इसीलिये 'सुन्न महल' बताते हैं। यह 'शून्य' की ऐतिहासिक यात्रा है। नागार्जुन के शून्य तथा संतों के अज्ञेयवाद में अन्तर है यह हमने पहले भी कहा है, परन्तु किस प्रकार ब्राह्मण विरोधी बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदाय इतिहास के दौर में प्राणी की मुक्ति का प्रयत्न करने में प्रयत्न करते रहे और उनका किस प्रकार ब्राह्मणधारा में समाहार होगया, यह स्पष्ट है। इस प्रकार बौद्ध दर्शन को आज तक महत्व मिलता आ रहा है, महादेवी का करुणावाद इसका प्रमाण है। उधर मध्यकाल में सारे भक्त कवि कलिकाल के दुःखों के लिए रोते हैं और कोई उपाय न पाकर भगवान की शरण खोजते हैं। ऐसा

लगता है कि दुःखवाद तब से भारत की धमनियों में समा गया है। प्रसादजी के मत से तो रामायण, रामचरितमानस तथा सारा भक्ति काल दुःखवादी परम्परा में ही है। जो स्पष्टतः अनात्मवादी दर्शनों से प्रभावित है उनके अनुसार विशुद्ध आत्मवाद तो आनन्दवाद का ही पर्याय है जिसकी धारा आगमों, तन्त्रों व सिद्धों में बहती रही है।

यहाँ तक हम ने बौद्धमत के प्रमुख सम्प्रदायों का संक्षेप में अध्ययन किया, उनकी विचारधारा का सामाजिक आधार भी खोजा। अब हम वेदान्त पर विचार करेंगे।

———

वेदान्त-दर्शन

मीमांसा के दो विभाग हैं, पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा। पूर्व मीमांसा में कर्मकाण्ड का विवेचन तथा मीमांसा दर्शन है तथा उत्तर मीमांसा में उपनिषदों द्वारा स्थापित आत्मवादी दर्शन है। अतः वेदान्त का दूसरा नाम उत्तर मीमांसा भी है। उपनिषद वैदिक साहित्य का अन्तिम भाग है। उपनिषदों में ही वेद का अन्त होता है। अतः वेदान्त का अर्थ उपनिषद का ज्ञान भी है। उपनिषद का ज्ञान क्या है, इसकी स्थापना के लिए अनेक वेदान्ती सम्प्रदाय हैं—जिनमें शङ्कर, रामानुज, मध्व, निम्बार्क व वल्लभ के सम्प्रदाय अधिक प्रसिद्ध हैं। इनमें भी शङ्कर व रामानुज का स्थान सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। शङ्कराचार्य के अद्वैत वेदान्त की इतनी अधिक प्रतिष्ठा है कि प्रायः 'वेदान्त' शब्द से शाङ्कर-वेदान्त का ही अर्थ ग्रहण कर लिया जाता है।

बौद्ध दर्शन अवैदिक दर्शन था अतः वैदिक दर्शनों का अभ्युदय बौद्ध दर्शनों के समानान्तर हुआ। वेदान्त सूत्रों का समय इस दृष्टि से शायद ४०० ईसा पूर्व है। वेदान्त सूत्र उपनिषदों की शिक्षा के मतभेद को दूर करने के लिए बादरायण द्वारा बनाये गये थे। वेदान्त सूत्रों ने उपनिषदों की शिक्षाओं में सामञ्जस्य खोज निकाला। परस्पर विरुद्ध युक्तियों के रहस्य पर प्रकाश डाला और सारी उपनिषदों से एक ही मत की पुष्टि की। प्रश्न यह है कि स्वयं बादरायण ने उपनिषदों के विषय में क्या समझा था, यह भी विवादास्पद है। आगे के व्याख्याकारों में शङ्कर व रामानुज ने वेदान्द सूत्रों के जो भाष्य लिखे उनमें भी घोर मतभेद दिखाई पड़ने लगा। शङ्कर का वेदान्त सूत्र पर भाष्य है 'शारीरिक भाष्य' तथा रामानुज का 'श्रीभाष्य' है। इनमें थिबो जैसे विद्वान् रामानुज द्वारा की गई बादरायण के सूत्रों की व्याख्या को

अधिक वैज्ञानिक मानते हैं। शाङ्कर वेदान्त पर योगवाशिष्ट तथा माण्डूक्य कारिका का अधिक प्रभाव पड़ा है और योगवाशिष्ट तथा माण्डूक्य कारिका पर बौद्ध मतों का प्रभाव स्पष्ट है। शङ्कर के गुरु गौड़पाद की माण्डूक्य कारिका के माध्यम से बौद्ध प्रभाव शाङ्कर वेदान्त में आया। शङ्कर ने इसका आधार उपनिषदों में खोजा और युक्तियों व श्रुतियों का प्रमाण देकर शाङ्कर वेदान्त का प्रतिपादन किया। प्रमुख बौद्ध-सम्प्रदायों तथा वेदान्त दर्शन में बहुत सी बातों में समानता है, इसीलिये शंकर पर बौद्ध प्रभाव स्वीकार किया जाता है। ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर भी इस अनुमान की पुष्टि होती है। बौद्ध सम्प्रदायों में शून्यवादी, विज्ञानवादी दर्शनों का प्रभाव ही विशेषतः शंकर के विचारों को प्रभावित करता हुआ जान पड़ता है। अद्वैतवादी, विज्ञानवादी तथा शून्यवादी तीनों वस्तु की अन्तिम सत्ता को विचारों के परे मानते हैं। अतीतावस्था में ही सत्ता को स्वीकृति मिलती है, चाहे उसे विज्ञान कहो या आत्मा। वस्तुओं के भीतर वही अन्तर्यामी रूप से स्थित है। 'सत्ता' का ज्ञान केवल अन्तर्चेतना से ही हो सकता है, जहाँ ज्ञान व ज्ञेय का भेद मिट जाता है।❀ कहा यह जाता है कि वादरायण के ब्रह्मसूत्रों पर कुछ वैष्णवों की व्याख्यायें बहुत पहले लिखी जा चुकी थीं। इन व्याख्याओं में सूत्रों को द्वैतपरक सिद्ध किया गया था। (देखिये A Hi tory of Indian Ph lo ophy, Vol. II दा, दास गुप्त) द्वैतपरक व्याख्यायें शंकराचार्य से अधिक वैज्ञानिक हैं परन्तु सामान्यतया शंकर को ही सर्वश्रेष्ठ व्याख्याकार माना गया है।

शंकर के गुरु थे गोविन्द और गोविन्द के गुरु थे गौड़पादाचार्य जो उपनिषदों के बाद अद्वैत वेदान्त की दृष्टि से सब से अधिक महत्वपूर्ण व्यक्ति थे।÷ इन्होंने सबसे पहले उपनिषदों में अद्वैत विचार-धारा

❀ Yogacara idealism by Dr. Ashok Kumar.

÷ गौड़पाद की देन को मैक्डोनल इस प्रकार स्वीकार करता है—
"It appears, however, to be undoubted that one of the main doctrine of the later Vedanta that of Maya..............has not yet been developed in the Vedanta-Sutra It is first met with in the Karikas of Gaudpada. (India's past page 147-48)

को पकड़ा और उसे पुनर्जीवित किया। उपनिषदों में तो अनेक प्रकार की विचार-धारायें हैं, द्वैतवादी तत्व हैं और अद्वैतवादी तत्व भी। गौड़पाद ने अद्वैतवादी तत्वों को खोजा। स्वयं शंकर ने यह स्वीकार किया है कि गौड़पाद ने वेदों से अद्वैत सिद्धान्त को खोज निकाला था। (देखिये गौड़पाद कारिका पर शंकर भाष्य) गौड़पाद का समय प्रायः ८ वीं शताब्दी माना जाता है शंकर का समय भी यही है (७८८—८२० ई०)। इसका अर्थ यह है कि गौड़पाद, नागार्जुन, असंग वसुबन्धु तथा अश्वघोष जैसे बौद्ध दार्शनिकों के बाद उत्पन्न हुये थे। सम्भवतः गौड़पाद पहले बौद्ध रहे हों और उन्होंने बौद्ध सिद्धान्तों का उपनिषद सिद्धान्तों में सामञ्जस्य खोज निकाला हो। गौड़पाद ने बौद्ध सिद्धान्तों व उपनिषद शिक्षाओं में शायद कोई विरोध नहीं देखा, उन्होंने नागार्जुन की तर्क पद्धति को भी स्वीकार किया।

शंकर का मत मुख्यतः ब्रह्मसूत्रों के भाष्य, गीता भाष्य, माण्डूक्य कारिका भाष्य तथा १० उपनिषदों के भाष्यों पर आधारित है। शंकर ने अनात्मवादी बौद्धों का घोर खण्डन किया है, पूर्व मीमांसा-वादियों के कर्मकाण्ड की भी कटु आलोचना की है और एक 'आत्मा' को ही त्रिकालाबाधित सत्ता मानकर संसार की सत्ता को मायात्मक घोषित किया है। शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्रों के भाष्य तथा उपनिषदों के भाष्यों में यह सिद्ध किया है कि अद्वैतवाद ही बादरायण तथा उपनिषदकारों का प्रतिपादित सिद्धान्त है। द्वैत का खण्डन ही उनका मुख्य उद्देश्य था। हम अत्यन्त संक्षेप में शंकर वेदान्त को पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करते हैं।

वेदान्त का अर्थ शंकर के अनुसार स्वतः सिद्ध प्रमाण स्वरूप उपनिषद है। इन उपनिषदों के अनुकूल 'शारीरिक सूत्र' आदि को भी वेदान्त कहते हैं। किसी शास्त्र के अनुशीलन के लिये चार बातों की आवश्यकता पड़ती है—अधिकारी, विषय, सम्बन्ध व प्रयोजन।

वेदान्त का अधिकारी वेद, वेदाङ्ग अर्थात् शिक्षा, कल्प, ज्योतिष व्याकरण, निरुक्त, छन्द तथा ज्योतिष का अध्ययन समाप्त कर वेदार्थ को प्राप्त कर लेता है। इस जन्म तथा जन्मान्तर में कृत उसके पापों का नाश हो जाता है। पापों का नाश काम्य व निषिद्ध कार्यों के नाश

से होता है। इनमें काम्य कर्म स्वर्ग प्राप्ति के लिये ज्योतिष्टोम यज्ञ आदि करना है और निषिद्ध कर्म ब्राह्मणवध आदि हैं। इन दोनों प्रकार के कर्मों को छोड़ देना चाहिये। निष्काम बुद्धि जाग्रत होने पर ही व्यक्ति वेदान्त पढ़ने का अधिकारी हो सकता है। प्रश्न होगा कि वेदान्त के अधिकारी के लिये कर्म आवश्यक है या नहीं, उत्तर होगा कि तैयारी के लिये नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित व उपासना चार प्रकार के कर्म अवश्य करना चाहिये।

इनमें नित्य कर्म संध्या वन्दनादि हैं। इन्हें न करने से विघ्न उत्पन्न होते हैं। पुत्र जन्म आदि से सम्बन्धित यज्ञादि कराना नैमित्तिक कर्म है। पाप क्षय के लिये चान्द्रायण व्रत आदि करना प्रायश्चित कहलाता है तथा सगुण ब्रह्म विषयक चित्त की एकाग्रता रूप शान्ति आदि शांडिल्य विद्या को उपासना कहते हैं। इन सब करणीय कर्मों का उद्देश्य केवल चित्तशुद्धि मात्र है। अधिकारी को इनके अतिरिक्त साधन चतुष्टय से भी युक्त होना चाहिये। साधन चतुष्टय में चार बातें हैं १—नित्य व अनित्य वस्तु का विचार करना, इस लोक व परलोक में फल भोगने की इच्छा न रखना, २—शम, दम, उपरति, तितीक्षा, समाधान व श्रद्धा से युक्त होना, ३—इस जगत तथा स्वर्ग के भोग अनित्य हैं ऐसी बुद्धि से युक्त होना, ४—मोक्ष की इच्छा करना। इस प्रकार साधन चतुष्टय से युक्त व्यक्ति वेदान्त पढ़ने का अधिकारी हो जाता है। इस विवेचन से स्पष्ट है कि वेदान्त ने कर्मों के स्वतन्त्र अस्तित्व को समाप्त कर दिया है। कर्म ज्ञान को प्राप्त करने का साधन मात्र है, केवल चित्त शुद्धि और पाप नाश के लिए ही कर्म का उपयोग है। मुक्ति तो ज्ञान से ही मिलती है। वेदान्त ने इस दृष्टि से उपासना में 'भक्ति' का तथा शमदमादि के विधान में 'योग' का समाहार कर दिया है किन्तु योग व भक्ति केवल प्रथम सोपान हैं। इनसे ब्रह्म विषयक जिज्ञासा जगती है। ध्येय तो ज्ञान की ही प्राप्ति है, भक्ति व योग साधन हैं। आगे यह क्रम उलट जाता है। आगे भक्त दार्शनिकों ने भक्ति को साध्य बनाया है और ज्ञान को साधन, यथा तुलसीदास ने। इसी प्रकार योगियों ने शारीरिक साधनाओं द्वारा ही मोक्ष प्राप्ति पर जोर दिया है।

यहाँ सत् व असत् की व्याख्या आवश्यक है। शङ्कर के अनुसार सत् केवल वह वस्तु है जो भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालों में विद्यमान रहे, यथा ब्रह्म। और असत् वह वस्तु है जो तीनों कालों में कहीं भी विद्यमान न हो, यथा शश-शृङ्ग या वन्ध्या-पुत्र आदि। यह दृश्यमान चराचर जगत न तो सत् है क्योंकि यह वर्तमान में तो विद्यमान है पर भविष्य में नहीं रहेगा, अतः यह सत् नहीं है। न यह असत् है क्योंकि वन्ध्या पुत्र की तरह इसे पूर्ण रूप से असत् भी नहीं कह सकते। रस्सी में सर्प की भावना होते समय हम स्पष्ट सर्पज्ञान का कुछ समय तक अनुभव करते हैं, अतः उतने समय तक तो उस अज्ञान की स्थिति रहती ही है, अतः इसे पूर्णतया असत् नहीं कह सकते। अज्ञान सत् असत् और सतासत कोटियों से भिन्न होने के कारण अनिर्वचनीय❀ है। अनिर्वचनीय इसीलिए कहा गया क्योंकि न इस जगत को हम सत् कह सकते हैं न असत्। प्रचलित कोटियों से परे होने के कारण ही इसे हम अनिर्वचनीय कहते हैं।

❀ रज्जु में सर्प या शुक्ति में रजत के भ्रम की व्याख्या विभिन्न प्रकार से हुई है—

आत्मख्यातिरसत्ख्यातिरख्याति ख्यातिरन्यथा
तथाऽनिर्वचन—ख्यातिरित्येतत्ख्याति पंचकम्
योगचारा माध्यमिकास्तथा मीमांसका अपि।
नैयायिका मायिनश्च प्रायः ख्यातीः क्रमाज्जगुः॥

शुक्ति में रजत का जो भ्रम होता है उसकी व्याख्या अनेक प्रकार से की गई है, इनमें योगाचार या विज्ञानवादी आत्म-ख्याति को मानते हैं अर्थात् 'विज्ञान' के अतिरिक्त अन्य सब पदार्थ नहीं हैं वे अन्तर्भूत विज्ञान के निक्षेप मात्र हैं। माध्यमिक की "असत ख्याति" है ये लोग सब पदार्थों को असत् मानते हैं। मीमांसक प्राभाकर शुक्ति में रजत के भ्रम को भ्रम ही नहीं मानते वे उसे यथार्थ ज्ञान मानते हैं। नैयायिक अन्यथा ख्याति मानते हैं उनके अनुसार शुक्ति-रजत स्थल में, दोष के प्रभाव से जैसे पाण्डुरोगी को वस्तुयें पीली दृष्टिगोचर होती हैं उसी प्रकार दोष के कारण बाजार में रक्खी हुई रजत की प्रतीति शुक्ति में होने लगती है। यही अन्यथा-ख्याति है। वेदान्ती अनिर्वचनीय

इसी प्रकार यह अज्ञान त्रिगुणात्मक है, ज्ञान का विरोधी भाव रूप पदार्थ है। अज्ञान के इस स्वरूप को समझ लेने पर हम विश्व की व्याख्या कर सकते हैं और जीव व ब्रह्म की एकता स्वयं स्थापित हो जाती है जोकि वेदान्त का विषय है। कैसे? इस जगत में स्थिर सत्ता अवश्य है, बौद्ध कहते थे कि स्थिर सत्ता नहीं है, वेदान्ती यह नहीं मानते वे कहते हैं कि सारे भ्रमों का आधार कोई न कोई सत्ता अवश्य है, यदि रज्जु न हो तो सर्प ज्ञान हो ही नहीं सकता। इसी प्रकार यदि ब्रह्म न हो तो विश्व का भान नहीं हो सकता। अतः विश्व में एकमात्र सत्ता 'ब्रह्म या आत्मन्' है। जगत के सारे भेद माया या अज्ञानकृत है, ब्रह्म एक है आत्मा व ब्रह्म अनन्य हैं यह भिन्नता का बोध केवल अज्ञान के कारण है, हम वस्तुतः रज्जुज्ञान को भूल गए हैं और सर्पज्ञान के भ्रम में हैं, इस प्रकार हमें विश्व का जो ज्ञान हो रहा है वह वास्तविक नहीं है वह अविद्याजन्य है। इसी कारण हम जगत में सुख दुःख की वेदनायें सह रहे हैं, भयभीत हो रहे हैं यथा सर्प-ज्ञान हो जाने पर हम डर जाते हैं यद्यपि वहाँ सर्प नहीं होता इसी प्रकार वस्तुतः दुःख न होने पर भी हम अज्ञान के कारण वेदनाओं का अनुभव करते हैं। अखण्ड आत्म सत्ता का बोध (रज्जु-ज्ञान) हो जाने पर जगत के अनुभव स्वयं ही विलीन हो जाते हैं और स्वरूप स्थिति हो जाती है। अतः जगत की सत्ता प्रतिभासिक है, पारमार्थिक नहीं, पारमार्थिक सत्ता तो केवल ब्रह्म है। इस प्रकार शंकर ने जगत को मायाकृत माना है वह केवल प्रतीत होता है जैसे रज्जु में सर्प प्रतीत होता है बौद्ध तो शंकर के अनुसार जगत की सत्ता को मानते ही नहीं यथा विज्ञानवादी बाह्य वस्तुओं

ख्याति मानते हैं. शुक्ति में रजत का जो भ्रम हमें होता है उसे 'प्रतिभासिक रजत' कहते हैं यथा स्वप्न में हम रथ आदि देखते हैं पर जागने पर वे नहीं रहते। इसी प्रकार भ्रम स्थल में हम शुक्ति में 'रजत' के दर्शन करते हैं। इस रजत दर्शन को न तो हम सत् कह सकते हैं क्योंकि भ्रमज्ञान नष्ट होने के पश्चात् हमें शुक्ति का ही ज्ञान रह जाता है, न असत् कह सकते हैं क्योंकि भ्रमज्ञान के समय हमें रजत-ज्ञान हो रहा था अतः इसे 'अनिर्वचनीय' कहते हैं। वेदान्ती की ख्याति (ज्ञान) अनिर्वचनीय कहलाती है।

का अभाव मानते हैं, केवल मन के प्रत्ययों को ही मानते हैं, शून्यवादी सारी वस्तुओं का (शंकर के अनुसार) अभाव घोषित करते हैं। शंकर दृश्यमान वस्तुओं का अभाव नहीं मानते, वे उसे न भाव कहते हैं न अभाव, बल्कि इनसे विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय कहते हैं। तब प्रश्न यह है कि ये नदी, निर्झर, पहाड़, वृक्ष, सर, सरिता, समुद्रादि क्या केवल प्रतीत हो रहे हैं या ये वस्तुतः अपनी सत्ता भी रखते हैं ? उत्तर होगा यह सारी सृष्टि मायाकृत है, इनकी सत्ता प्रतीयमान ही है। इनकी सत्ता वास्तविक नहीं है, जैसे इन्द्र-जाल के खेल में अनेकानेक वस्तुयें प्रतीत होती हैं उसी प्रकार जगत की वस्तुयें इन्द्रजाल से उत्पन्न वस्तुओं के समान ही हैं। इनकी सत्ता तभी तक है जब तक अज्ञान रहता है। अज्ञान की निवृत्ति के पश्चात् इनकी सत्ता ही नहीं रहती अतः जगत केवल अज्ञानियों के लिये ही सत् है, ज्ञानियों के लिये नहीं। वे इसके बाह्य आकर्षणों से विरत रहते हैं। इस प्रकार जगत माया या अज्ञान के कारण ही प्रतीत हो रहा है, एकमात्र सत्ता 'ब्रह्म' है। अतः यहाँ अभेद है, भेद नहीं, एकता है नानात्व नहीं, एक अखण्ड, चिन्मय, चित् स्वरूप ब्रह्म ही एक मात्र सत् है अन्य सब मायाकृत। शंकर के अनुसार ब्रह्म के दो लक्षण किये जा सकते हैं। १—स्वरूप लक्षण, २—तटस्थ लक्षण। ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" अर्थात् ब्रह्म सत्य और अनन्त ज्ञानस्वरूप है। तटस्थ लक्षण के अनुसार ब्रह्म जगत्पालक, जगत संहारक, सगुण, सर्वेश्वर आदि विशेषणों से युक्त कहा जा सकता है। यह तटस्थ लक्षण केवल व्यवहारिक दृष्टि से ही ठीक है, ये गुण केवल औपाधिक गुण अर्थात् मायाकृत हैं।

प्रश्न यह होगा कि सृष्टि इस प्रकार अज्ञान से कैसे बनती है ? तथा अनेकात्मक जगत, अनेक जीवों व एक ब्रह्म का सामञ्जस्य कैसे स्थापित हो सकता है ? इसके लिए आचार्य शङ्कर ने अज्ञान के दो रूप बतलाये हैं। (१) अज्ञान का समष्टि रूप, (२) अज्ञान का व्यष्टि रूप। वृक्षों की समष्टि को वन कहते हैं, इसी प्रकार जलों की समष्टि को जलाशय कहते हैं। यह अज्ञान का समष्टि रूप है। श्रुति में 'अजामेकाम्' कहा गया है, अर्थात् सारे ब्रह्माण्ड के मूल में एक ही समष्टि कृत अज्ञान है, यह समष्टि कृत अज्ञान उत्कृष्ट उपाधि वाला है, विशुद्ध

सत्व प्रधान है, इसी एक समष्टि कृत अज्ञान से युक्त हो जाने के कारण ब्रह्म जो निर्गुण निराकार, चैतन्य स्वरूप है वह सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सर्व-नियंता, जगत का कारण 'ईश्वर' कहलाता है। इस प्रकार ब्रह्म के समष्टि कृत अज्ञान (माया) से उपहित हो जाने से ईश्वर की उपाधि बनती है। शुद्ध चैतन्य + समष्टि कृत अज्ञान=ईश्वर। उपनिषदों में जहाँ-जहाँ ब्रह्म को 'सर्वज्ञ' आदि कहा गया है वहाँ उसकी यह उपाधि माया से युक्त हो जाने के ही कारण कही गई है, वस्तुतः उसका स्वरूप इससे परे है। तो ब्रह्म अज्ञान की समष्टि से युक्त हो जाने पर ईश्वर कहलाता है। इस ईश्वर को जगत का कारण माना जाता है, अतः इसे 'कारण शरीर' भी कहते हैं। माया या अज्ञान के कोष से आवृत्त होने के कारण यह आनन्दमय कोश कहलाता है, तथा इस अवस्था को सुषुप्ति की अवस्था कहते हैं। यह स्थूल, सूक्ष्म प्रपञ्च (जगत) का लय स्थान है। यही 'ईश्वर' व्यष्टि कृत अज्ञान के कारण अनेक रूपों में प्रतिभासित होता है। वन तो समष्टि कृत अज्ञान का परिणाम है। उसका व्यष्टि रूप 'वृक्ष' कहलाता है। इसी प्रकार यह समष्टि कृत अज्ञान से युक्त ईश्वर; व्यष्टि रूप में अनेक उपाधियों से युक्त होता है। यह व्यष्टि कृत उपाधि निकृष्ट उपाधि मानी जाती है। यह मलिन सत्व-प्रधान होती है और इस व्यष्टि कृत अज्ञान से युक्त ब्रह्म 'प्राज्ञ' कह-लाता है। अर्थात् व्यक्ति के पक्ष में ब्रह्म की उपाधि 'प्राज्ञ' होगी और सृष्टि के स्रष्टा की दृष्टि से ब्रह्म अज्ञान से युक्त होकर 'ईश्वर' कह-लायेगा। व्यष्टि पक्ष में 'प्राज्ञ' भी 'कारण शरीर' कहलाता है। इस स्थिति में आनन्दमय कोश तथा सुषुप्ति अवस्था होती है। अतः इसे स्थूल सूक्ष्म शरीर का लय स्थान भी कहते हैं। सुषुप्ति की अवस्था में आत्मा जो चैतन्य स्वरूप है सूक्ष्म अज्ञान वृत्ति से आनन्द का अनुभव करता है। समष्टि कृत तथा व्यष्टि कृत अज्ञान के कारण दी गई उपा-धियों से ईश्वर और प्राज्ञ भिन्न-नहीं हैं, एक ही हैं। केवल इनमें अन्तर उपाधि के कारण है। यथा वन और वृक्ष अभिन्न-हैं, उसी प्रकार ईश्वर व प्राज्ञ भी अभिन्न और एक हैं। जिस प्रकार वन में स्थित आकाश व वृक्ष में स्थित आकाश अभिन्न हैं, जिस प्रकार जलाशय में प्रति-बिम्बित आकाश और व्यष्टि रूप जल में प्रतिबिम्बित आकाश अभिन्न हैं; उसी प्रकार ईश्वर व प्राज्ञ भी एक और अभिन्न हैं, अन्तर केवल

कहने मात्र का ही है। जिस प्रकार वन + वन में स्थित आकाश तथा वृक्ष+वृक्ष में स्थित आकाश का आश्रय एक महाकाश है, उसी प्रकार समष्टि और व्यष्टि भूत अज्ञान, तथा उस अज्ञान से युक्त ईश्वर, प्राज्ञ चैतन्यादि का आधार एक माया से अनुपहित शुद्ध चैतन्य है। इसे 'तुरीय ब्रह्म चैतन्य' कहा जाता है।

इस प्रकार जगत में एक ही सत्ता है—'तुरीय ब्रह्म चैतन्य', जिसे हम सामान्यतः 'ब्रह्म' या चैतन्य कहते हैं। ईश्वर, प्राज्ञ आदि इसी की उपाधियाँ हैं अर्थात् यही चैतन्य माया से युक्त होने के कारण कभी ईश्वर और कभी प्राज्ञ कहलाता है। अतः आत्मायें अनेक नहीं हैं जैसा कुछ दार्शनिक व नैयायिक कहते हैं-एक ही आत्मा है, जो उपाधि भेद से अनेक नामों से पुकारा जाता है। तो जगत की स्थिति अज्ञान के कारण है। इस अज्ञान की दो शक्तियाँ हैं—(१) आवरण, (२) विक्षेप।

आवरण शक्ति वस्तु के स्वरूप को छिपा लेती है। यथा आदित्य-मण्डल पर मेघों के आच्छादन से हम उसकी प्रभा को नहीं देख पाते, और तब कहते हैं कि सूर्य नहीं है। इसी प्रकार अज्ञानी आवरण शक्ति से आवृत्त दृष्टि के कारण आत्मा को नहीं पहचान पाते। अज्ञान की इसी आवरण शक्ति के कारण आत्मा में कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुखित्व, दुःखित्व की भावनायें अनुभूत होने लगती हैं, उसी प्रकार जिस प्रकार रज्जु में सर्प की भावनायें उद्भूत हो उठती हैं। किन्तु यदि केवल आवरण शक्ति रहती, तो ब्रह्म का स्वरूप आवृत होकर ही रह जाता वह अन्यथा होकर न दिखाई पड़ता, किन्तु विक्षेप शक्ति के कारण रज्जु-रूप जिस प्रकार आवृत होकर सर्प रूप में दिखाई पड़ने लगता है, उसी प्रकार ब्रह्म का वास्तविक रूप तो छिप जाता है और वह ब्रह्म इस जगत के रूप में प्रतीत होने लगता है और तब रज्जु रूप जैसे अदृश्य हो जाता है, उसी प्रकार ब्रह्म का स्वरूप भी लुप्त हो जाता है। उसकी प्रक्रिया क्या है ?

यहाँ वेदान्त सांख्य दर्शन का ऋणी है। सांख्य 'प्रकृति' को एक अलग तत्व मानता है और उसी को सृष्टि का कारण मानता है। सांख्य के अनुसार 'प्रकृति', अव्यक्त, त्रिगुणात्मक, हेतुभूत, कार्योत्पत्ति में स्वतन्त्र, एक, निष्क्रिय तथा कारण रहित पदार्थ है। वह 'पुरुष' के लिए

त्रिगुणात्मक सृष्टि की रचना करती है। पुरुष निष्क्रिय है। सृष्टि का उद्देश्य पुरुष की मुक्ति या कैवल्य है। इस प्रकार सांख्य बुद्धि, (महत्) अहङ्कार, इन्द्रिय, शरीर आदि सबका कारण 'अव्यक्त प्रकृति' को मानता है, किन्तु वेदान्त ऐसे किसी स्वतन्त्र पदार्थ को यदि स्वीकार करता तो द्वैत भाव उत्पन्न हो जाता। अतः वह सृष्टि की प्रक्रिया में सत्व, रज, तम को तो स्वीकार करता है परन्तु उसे अज्ञान का स्वरूप बतलाता है, 'प्रकृति' का नहीं। अव्यक्त प्रकृति नामक अलग कोई सत्ता नहीं है, अतः वेदान्त सारा कार्य माया या अज्ञान से निकालता है।

तो इस अज्ञान की "विक्षेप शक्ति" जैसे "रज्जु" में सर्पादि की उद्भावना करती है, उसी प्रकार यह शक्ति ब्रह्म में आकाशादि प्रपञ्च की उद्भावना करती है। जैसे मकड़ी अपने भीतर से ही अनेक जालों की उद्भावना करती है, उसी प्रकार ब्रह्म से यह सारी सृष्टि उद्भूत होजाती है, अतः जिस प्रकार 'मकड़ी' स्वयं जाला उत्पन्न करने के कारण "निमित्त कारण" व अपने शरीर से ही जाला निकालने के कारण उपादान कारण है, उसी प्रकार निर्विशेष ब्रह्म स्वयं निमित्त कारण भी है और उपादान कारण भी। शङ्कर ब्रह्म को सजातीय, विजातीय व स्वगत भेदों से परे मानते हैं, परन्तु रामानुज स्वगत भेद मानते हैं। वे ब्रह्म के ही दो भेद कर लेते हैं—(१) चित् (२) अचित्। अचित् से जगत की कल्पना कर डालते हैं और इसलिये जगत् को ब्रह्म ही मानते हैं मायात्मक नहीं। शंकर श्रुतियों के द्वारा प्रतिपादित अखण्ड ब्रह्म के स्वगत भेद स्वीकार नहीं करते, अतः वे 'माया' की कल्पना करते हैं, और 'मकड़ी' का उदाहरण सम्मुख रख कर ब्रह्म को ही निमित्त व उपादान कारण सिद्ध कर देते हैं। आगे के विचारकों ने या तो रामानुज का मार्ग ग्रहण किया है या शङ्कर का। शंकर के अनुयायी जगत को मिथ्या घोषित करते हैं परन्तु रामानुज के अनुयायी या उनसे प्रभावित कवि जगत् के सौन्दर्य का मुग्ध होकर वर्णन करते हैं। उसे ब्रह्म रूप मानते हैं। तुलसीदास दोनों को स्वीकार करते हैं परन्तु अपने ढङ्ग से।

तो ब्रह्म व आत्मा के अभेद को दिखाने के लिये तथा जगत की सृष्टि के लिये शङ्कर ने माया की कल्पना की, इसीलिये उनका सिद्धान्त 'मायावाद' कहलाता है।

यह माया या अज्ञान अपनी विक्षेप शक्ति से ब्रह्म में आकाशादि की उद्भावना करता है। श्रुतियों में भी कहा है—

"तस्माद्वा एतस्मादात्मन् आकाशाः सम्भूतः"

अर्थात् उस आत्मा से (प्रथम) आकाश उत्पन्न हुआ। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, व जल से पृथ्वी ये पञ्च महाभूत उत्पन्न होते हैं। ये पहले सूक्ष्म भूत होते हैं और अपञ्चीकृत कहे जाते हैं। इन्हें पञ्चतन्मात्रा भी कहा गया है। इन्हीं सूक्ष्म भूतों से सूक्ष्म शरीर व स्थूल शरीर उत्पन्न होते हैं। १० इंद्रियाँ, पाँच वायु, मन तथा बुद्धि ये १७ अवयव सूक्ष्म शरीर कहलाते हैं। बुद्धि के भीतर ही चित्त व अहंकार नामक वृत्तियाँ रहती हैं। बुद्धि तथा ज्ञानेन्द्रियों को मिलाकर विज्ञानमय कोश कहते हैं। इसमें कर्तृत्व, भोक्तृत्व की भावना रहती है, अतः आत्मा की यहाँ उपाधि व्यावहारिक रूप से 'जीव' होती है।

मन और ज्ञानेन्द्रियों को मिला कर मनोमय कोश कहते हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ पञ्चमहाभूतों के सात्विक अंश से तथा कर्मेन्द्रियाँ रजस से उत्पन्न होती हैं। प्राण, पान, व्यान, उदान, समान ये पञ्च प्राण तथा कर्मेन्द्रियाँ मिलकर प्राणमय कोश बनाती हैं। इनमें विज्ञानमय कोश ज्ञान शक्ति युक्त होने से कर्त्ता है, इच्छा शक्ति युक्त मनोमय कोश कारण है, क्रिया शक्ति युक्त प्राणमय कोश कार्य है। ये तीनों कोश समष्टि रूप से 'सूक्ष्म शरीर' कहलाते हैं। समष्टि व व्यष्टि की दृष्टि से यहाँ पूर्ववत् ब्रह्म व जीव की उपाधियों में भेद पड़ता है। उक्त सूक्ष्म शरीर की समष्टि रूप उपाधि से युक्त चैतन्य, सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भ और प्राण कहलाता है। यह वस्त्र में स्थित सूत्र की तरह सब में व्याप्त रहता है। इसे 'कोश त्रय' या 'सूक्ष्म शरीर' भी कहते हैं तथा जागृत अवस्था का वासनात्मक हेतु, स्वप्न और स्थूल प्रपञ्च का लयस्थान भी कहते हैं। व्यष्टि में इसे 'तैजस' कहा जाता है। यह स्थूल शरीर की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म है। इसे स्वप्न व स्थूल शरीर का लय स्थान भी कहते हैं। सुषुप्ति अवस्था में हिरण्य गर्भ व तैजस सूक्ष्म वृत्तियों का अनुभव करते हैं।

स्थूल भूत पञ्चीकृत होते हैं। पञ्चीकृत का अर्थ है एक सूक्ष्म

महाभूत का आधा भाग लेकर उसमें शेष चारों महाभूतों के आठवें भाग को मिलाया जाय। यही पञ्चीकरण है।

$\frac{1}{2}$ सूक्ष्म आकाश + $\frac{1}{8}$ वायु + $\frac{1}{8}$ अग्नि + $\frac{1}{8}$ जल + $\frac{1}{8}$ पृथ्वी= स्थूल पञ्चीकृत आकाश।

इसी प्रकार $\frac{1}{2}$ सूक्ष्म वायु + $\frac{1}{8}$ आकाश + $\frac{1}{8}$ अग्नि + $\frac{1}{8}$ जल + $\frac{1}{8}$ स्थूल पृथ्वी= वायु।

इसी प्रकार अन्य भूतों का भी रूप पञ्चीकृत हो कर स्थूल महाभूतों में परिणत हो जाता हैं, स्थूल शरीर के कारण ये ही स्थूल महाभूत हैं। इन महाभूतों तथा उनसे उत्पन्न पञ्चतन्त्र मात्राओं का क्रम इस प्रकार है—

आकाश—शब्द
वायु——शब्द, स्पर्श
अग्नि——शब्द, स्पर्श, रूप
अप—— शब्द, स्पर्श, रूप, रस
पृथ्वी——शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध

इन्हीं स्थूल महाभूतों से भू, भुव, स्व, मह, जन, तप, व सत्य लोक उत्पन्न होते हैं। नीचे के लोक, अतल, वितल, रसातल आदि भी इन्हीं से उत्पन्न होते हैं। सम्पूर्ण लोक व चार प्रकार के—जरायुज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज प्राणी भी इन्हीं से उत्पन्न होते हैं।

स्थूल शरीर की समष्टि से युक्त चैतन्य शरीर का अभिमानी हो कर वैश्वानर तथा विराट कहलाता है। यहाँ अन्नमय कोश तथा जागृत अवस्था होती है। व्यष्टि रूप में चैतन्य की संज्ञा यहाँ 'विश्व' होती है। व्यष्टि रूप में भी अन्नमय कोश तथा जागृत अवस्था होती है। इस प्रकार एक ही शुद्ध चैतन्य उपाधि भेद से अनेकत्व को प्राप्त होता है। परन्तु जैसे वन स्थित आकाश व वृक्ष स्थित आकाश में भेद नहीं है उसी प्रकार समष्टि भूत अज्ञान स्थित वैश्वानर विराट तथा व्यष्टिभूत अज्ञान से आवृत 'विश्व' में भी कोई भेद नहीं है। इस प्रकार ब्रह्म व जीव की एकता सिद्ध हो गई, अज्ञान से सृष्टि की उत्पत्ति भी बतलाई गई। इन विभिन्न अवस्थाओं, कोशों, व उपाधियों को हम संक्षेप में पाठकों की सुविधा के लिए एकत्र कर देते हैं।

	उपाधि का कारण	उपाधि	अवस्था	कोश
कारण शरीर	समष्टि भूत अज्ञान से उपहित ब्रह्म	ईश्वर	सुषुप्ति	आनन्दमय
	व्यष्टिभूत अज्ञान से उपहित ब्रह्म	प्राज्ञ	”	”
सूक्ष्म शरीर	समष्टिभूत सूक्ष्म शरीर से उपहित ब्रह्म	सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ प्राण	स्वप्न	विज्ञानमय मनोमय प्राणमय
	व्यष्टिभूत सूक्ष्म शरीर से उपहित ब्रह्म	तेजस	”	”
स्थूल शरीर	समष्टिभूत स्थूल शरीर की समष्टि से उपहित ब्रह्म	वैश्वानर विराट	जागृत	अन्नमय
	व्यष्टिभूत स्थूल शरीर की समष्टि से उपहित ब्रह्म	विश्व	”	”

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि शुद्ध चैतन्य एक और अभिन्न है। वह मायोपाधिक होकर ही ईश्वर, प्राज्ञ, सूत्रात्मा, तैजस, वैश्वानर व विश्व आदि की उपाधियाँ पाता है। एक ही सत्ता के ये भिन्न नाम हैं। जब हम कहते हैं यह सब ब्रह्म है "सर्वं खल्विदं ब्रह्मैव" तो इस वाक्य के वाच्यार्थ में ये ऊपर कहे हुये सभी औपाधिक रूप आ जाते हैं और लक्षणा से अर्थ लेने पर केवल एक विशुद्ध चैतन्य का बोध होता है। इसके लिये जलते हुये लोहे के पिण्ड का उदाहरण दिया जाता है "लोहा जलाता है" इसका वाच्यार्थ तो यही होगा कि लोहे में दाहक शक्ति है, परन्तु लक्षणा से अर्थ अग्नि का ही होगा।

इस प्रकार वस्तु रूप ब्रह्म में हम अवस्तु रूप संसार का आरोप कर लेते हैं और तब संसार की प्रतीति होती है, अन्यथा यहाँ विशुद्ध सत्ता केवल शुद्ध चैतन्य है। भ्रम के कारण आत्मा का स्वरूप समझने में कठिनाई होती है, अत्यन्त सामान्य अज्ञानी जन तो पुत्र को ही आत्मा मानते हैं, चार्वाक दार्शनिक स्थूल शरीर को ही आत्मा मानते हैं। कुछ इन्द्रियों को, कुछ

प्राण को, कुछ मन को आत्मा मानते हैं। बौद्धों में विज्ञानवादी विज्ञान या बुद्धि को ही आत्मा मानते हैं। बुद्धि से अतिरिक्त किसी आत्मा को नहीं मानते। मीमांसकों में प्रभाकर आत्मा को नैयायिकों की तरह जड़ मानते हैं, उसे ज्ञेय नहीं मानते क्योंकि ज्ञाता स्वयं अपना ज्ञेय नहीं हो सकता। ये लोग संवित को स्वयं प्रकाश्य मानते हैं, आत्मा को नहीं, यदि आत्मा स्वयं प्रकाश्य हो तो स्वप्न व सुषुप्ति में भी प्रकाशित रहे। संवित् उत्पन्न तथा तिरोहित होती है। यह उत्पन्न होकर ज्ञेय पदार्थ तथा ज्ञाता आत्मा को प्रकाशित करती है। शंकर आत्मा को स्वयं प्रकाश्य मानते हैं, किन्तु मीमांसक ज्ञान को आत्मा का स्वाभाविक लक्षण न मान कर आकस्मिक लक्षण मानते हैं। आत्मा इनके अनुसार ज्ञेय रूप से जड़ तथा ज्ञाता रूप से चेतन है। मीमाँसकों में कुमारिल भट्ट प्रभाकर के विपरीत ज्ञान को आत्मा का पर्याय मानते हैं। जड़ आत्मा मानने पर उसका परिणाम स्वयं प्रकाश हो ही नहीं सकता, अतः आत्मा जड़ नहीं है। परन्तु कुमारिल भी आत्मा के एक भाग को जड़ ही मानते हैं। अतः कहा गया है कि कुमारिल अज्ञानोपहित चैतन्य को ही आत्मा मानते हैं। कुछ बौद्ध—शून्यवादी-शून्य को ही आत्मा मानते हैं। श्रुतियों में कहा गया है कि पहले सब असत् था अतः शून्य ही आत्मा है (असदेवेदमग्रआसीत्) शंकर के अनुसार यह सब अयथार्थ ज्ञान है। आत्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्य स्वभाव वाला चैतन्य स्वरूप है। इस आत्मा और ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं है। विश्व में एक ही तत्व है, दूसरा कुछ नहीं। एक ही सत् वस्तु है, अन्य सब माया का परिणाम है।

यहाँ तक वस्तु रूप ब्रह्म में अवस्तु रूप संसार की भ्रांति को समझाया इसे 'अध्यारोप' कहा जाता है। इसके विपरीत इस सारी सृष्टि का अपलाप कर वस्तु रूप ब्रह्म मात्र की सत्ता की प्रतिष्ठा करना 'अपवाद' कहलाता है। अपवाद न्याय से हम यह जानते हैं कि किस प्रकार स्थूल भूत सूक्ष्म भूतों में और सूक्ष्म-भूत अज्ञान में समा जाते हैं। अज्ञान या माया ब्रह्म की शक्ति है जो उसकी इच्छा से इस सारी सृष्टि को रचती है। अज्ञान व माया में यही अन्तर है। अज्ञान का सम्बन्ध द्रष्टा की बुद्धि से अधिक है, माया का सम्बन्ध ब्रह्म से। सामान्यतः दोनों का प्रयोग एक ही अर्थ में होता है।

विवर्तवाद—प्रश्न यह है कि जब सत्ता की परिभाषा यह हुई कि वह त्रिकालाबाधित है वह शुद्ध चैतन्य, निर्लेप, विकार रहित, अविनाशी अखण्ड और एक है तो इस अनेकात्मक जगत की सृष्टि कैसे हो सकती है? यदि ब्रह्म में विकार नहीं आता तो सृष्टि कैसे बनती है और यदि विकार आता है तो ब्रह्म का लक्षण अशुद्ध हो जायगा। यों ब्रह्म का कोई लक्षण नहीं हो सकता तथापि श्रुति कहती है कि वह निर्गुण और निर्लेप है। शङ्कर ने बतलाया था कि ब्रह्म तो अविकारी है, उसमें विकार नहीं आ सकता। अतः संसार ब्रह्म का विकार तो हो नहीं सकता, विवर्त हो सकता है। वस्तु में तात्विक परिवर्तन को विकार कहते हैं। यथा दूध से दही बनने के पश्चात् दूध के तत्वों में परिवर्तन हो जाता है, ब्रह्म में ऐसा कोई विकार नहीं आता। वस्तु में तात्विक परिवर्तन न होने पर भी वह जब अन्य वस्तु के रूप में प्रतीत होती है तब उसे विवर्त कहते हैं। यथा 'रज्जु' में बिना किसी तात्विक परिवर्तन के 'सर्पत्व' के दर्शन होते हैं, रज्जु का अन्यथा रूप सर्प में दिखाई पड़ता है। यहाँ सर्प रज्जु का विकार नहीं है विवर्त है इसी। प्रकार जगत ब्रह्म का विकार नहीं है, विवर्त है। अज्ञान के कारण ब्रह्म अन्य रूप में प्रतिभासित होता है। अतः जगत की सत्ता प्रातिभासिक है, पारमार्थिक अर्थात् वास्तविक नहीं। विज्ञानवादी बौद्ध तो संसार के बाह्य पदार्थों की सत्ता ही स्वीकार नहीं करते। शून्यवादी मत के अनुसार किसी पदार्थ की सत्ता सिद्ध नहीं की जा सकती, अतः सारे पदार्थ शून्य हैं। परन्तु शङ्कर संसार की व्यावहारिक सत्ता मानते हैं। हम यह नहीं कह सकते कि रज्जु में हमें सर्पत्व का भान नहीं होता, इसी प्रकार यह नहीं भी कहा जा सकता कि हमें संसार का अनुभव नहीं हो रहा है। विज्ञानवादियों के अनुसार जगत के पदार्थ स्वप्नवत् हैं परन्तु शङ्कर कहते हैं कि स्वप्न का बोध हो जाता हैं, जागृत अवस्था का बोध नहीं होता। अतः संसार स्वप्न के समान नहीं है। वह रज्जु में देखे गये सर्प के समान मिथ्या या मायामय है। मिथ्या का अर्थ अनिर्वचनीय है न कि असत्, जैसा कि शून्यवादी मानते हैं। (हम पहले ही कह चुके हैं कि शून्य का अर्थ आस्तिक दार्शनिकों ने असत् किया है।)

महावाक्य का अर्थ—'तत्त्वमसि' 'वह तू है' का क्या अर्थ है

इस पर वेदान्तियों में बड़ा विवाद है। शङ्कर के अनुसार तीन प्रकार के सम्बन्ध माने गये हैं—(१) समानाधिकरण्य सम्बन्ध, (२) विशेष्य विशेषण सम्बन्ध, (३) लक्ष्य लक्षण सम्बन्ध।

यह वही देवदत्त है, इसमें 'वह' शब्द में तत् अर्थात् भूतकाल की विशिष्टता है और 'यह' पद में एतत् काल-विशिष्टता है। इन दोनों शब्दार्थों का एक देवदत्त व्यक्ति में बोध होता है। इसी प्रकार तत्त्वमसि वाक्य में अप्रत्यक्ष चैतन्य का बोधक है 'तत्' शब्द, और वर्तमान काल का बोधक है 'त्वम्', दोनों शब्दार्थों का एक ही चैतन्यमय ब्रह्म से तात्पर्य है। यह समानाधिकरण्य सम्बन्ध हुआ।

इसी प्रकार 'यह वही देवदत्त है', इस वाक्य में सः पद का अर्थ परोक्ष व्यक्ति है और अयम् का अर्थ वर्तमान काल में दृष्टवस्तु है और इन दोनों पदों के अर्थों का परस्पर विशेष्य विशेषण सम्बन्ध है क्योंकि एक ही व्यक्ति में दोनों पदों के अर्थों का तात्पर्य अभिन्न रूप से ज्ञात होता है। इसी प्रकार तत्त्वमसि वाक्य में तत् का अर्थ परोक्ष चैतन्य तथा त्वम् का अर्थ प्रत्यक्ष चैतन्य है। इन दोनों पदों के अर्थों का परस्पर विशेष्य-विशेषण भाव सम्बन्ध है, क्योंकि दोनों पदों के अर्थों का एक वस्तु में अभिन्न रूप से तात्पर्य प्रतीत होता है। यह विशेष्य-विशेषण सम्बन्ध हुआ।

समस्या यही है कि परोक्ष व प्रत्यक्ष चैतन्य में एकता प्रतिपादित कैसे हो? 'वह तू है' में 'वह' अप्रत्यक्ष चैतन्य है और 'तू' प्रत्यक्ष चैतन्य (जीव) है। तब एकता कैसे स्थापित हो? दो प्रकार के सम्बन्धों की व्याख्या तो कर चुके अब लक्ष्य लक्षण सम्बन्ध दिखाते हैं। 'यह वही देवदत्त है', इस वाक्य में सः पद का अर्थ पूर्वकाल में देखा हुआ व्यक्ति है और अयम् का अर्थ वर्तमान काल में देखा हुआ व्यक्ति है। इनमें परोक्ष दृष्टत्व तथा प्रत्यक्ष दृष्टत्व इन दो विरुद्ध अंशों को छोड़कर एक ही व्यक्ति देवदत्त का बोध होता है। देवदत्त ही लक्ष्य है और 'सः अयम्' ये पद लक्षण हैं। इसी प्रकार तत् पद का अर्थ अप्रत्यक्ष चैतन्य और त्वम् पद का अर्थ प्रत्यक्ष चैतन्य है और परोक्षत्व तथा प्रत्यक्षत्व दोनों विरोधी अर्थों को छोड़ देने पर एक ही चैतन्य का बोध होता है, अतः शुद्ध चैतन्य ही लक्ष्य है और तत् व त्वम् पद लक्षण हैं, यही

लक्ष्य लक्षण सम्बन्ध है। विरोधी अंशों को छोड़ देने के कारण इसे 'भाग त्याग लक्षणा' कहते हैं क्यों 'तत्त्वमसि' की सिद्धि न जहल्लक्षणा से हो सकती है न अजहत् लक्षणा से। महावाक्य की सिद्धि तो विशेष लक्षणा से ही हो सकती है। सामान्य वाक्यों की तरह यथा 'नील कमल है' इस 'तत्त्वमसि' महावाक्य[1] में विशेष्य-विशेषण भाव, या समानाधिकरण्य सम्बन्ध प्रमाणित नहीं हो सकता। नील कमल में उक्त सम्बन्ध सुविधा से दिखाये जा सकते हैं। महावाक्य का तो अखण्डार्थ ही लिया जाता है इसीलिये कहा गया है—

संसर्गो वा विशिष्टो वा, वाक्यार्थो नात्र सम्मतः।
अखण्डैक रसत्वेन, वाक्यार्थो विदुषाम् मतः।

निर्गुण ब्रह्म में किसी प्रकार का सम्बन्ध स्थापित हो ही नहीं सकता। इसके अवयव नहीं होते, और सम्बन्ध या संसर्ग होने के लिये सावयवता की आवश्यकता है। ब्रह्म के बाहर भी कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिससे संसर्ग बन सके। ब्रह्म तो अखण्ड है। अतः 'यह नील कमल है' इस वाक्य की तरह 'तत्त्वमसि' में न समानाधिकरण्य सम्बन्ध बनेगा न विशेष विशेषण भाव, क्योंकि नीलत्व विशेषण है और उत्पल विशेष्य। नीलत्व और उत्पलत्व का संसर्ग बन सकता है या नीलत्व व उत्पलत्व एक ही द्रव्य में समानाधिकरण्य सम्बन्ध से रह सकते हैं परन्तु तत् व त्वम् में दोनों पदार्थ एक दूसरे के विरुद्ध हैं। तत् पद परोक्ष चैतन्य का प्रतीक है और त्वम् पद प्रत्यक्ष चैतन्य का, दोनों न एक दूसरे के विशेषण बन सकते हैं न समानाधिकरण्य सम्बन्ध से एक स्थान पर रह सकते हैं। सामान्य तथा प्रचलित लक्षणा से भी इनका अर्थ लक्षित नहीं होता। अतः महावाक्य का अखण्ड अर्थ ही लेना पड़ता है और लक्षणा में एक विशेष "भाग त्याग 'लक्षणा' का प्रयोग करना पड़ता है, तभी "तत्त्वमसि" से एक ही शुद्ध चैतन्य का बोध होता है।

प्रश्न होगा कि संसर्ग तो महावाक्य को सिद्ध कर नहीं पाते, लक्षणा कर सकती है। परन्तु यह 'भाग त्याग लक्षणा' तो सर्वथा नवीन है, अभी तक जहत् स्वार्था या अजहत् स्वार्था लक्षणाओं के नाम अवश्य सुने थे। यह नयी लक्षणा कौन है? उत्तर होगा कि 'नीलकमल' की तरह इस महावाक्य में विशेष्य विशेषण भाव

तथा समानाधिकरण्य सम्बन्ध (एक स्थान में दो वस्तुओं का रहना) स्थापित नहीं हो सकता। इसी प्रकार गङ्गायां घोष या शोणोधावति की तरह महावाक्य में जहत् स्वार्था या अजहत् स्वार्था लक्षणायें भी स्थापित नहीं हो सकतीं, क्योंकि पहले जहत् स्वार्था लक्षणा को लेने पर स्पष्ट हो जाता है कि गङ्गायांघोषः—गङ्गा में घर है, इस वाक्य में विरोध दिखाई पड़ता है परन्तु गङ्गा पद अपना स्वार्थ छोड़ कर अश्रूयमाण तीर पद को लक्षित करता है अतः गङ्गायां घोषः से गङ्गा के तीर पर गाँव है, यह अर्थ निकल आता है। परन्तु "तत्त्वमसि" में तत् व त्वम् दोनों पद पहले से ही सुनाई पड़ रहे हैं। तत् व त्वम् पद अपना पूर्ण अर्थ नहीं छोड़ते, वे कुछ भाग छोड़ देते हैं और कुछ नहीं छोड़ते। इसी प्रकार अजहत् स्वार्था लक्षणा में 'शोणो धावति' "लाल दौड़ता है" में लाल रङ्ग नहीं दौड़ सकता, ऐसी बाधा आती है। अतः लाल रङ्ग से युक्त अश्व दौड़ता है, ऐसा अर्थ लक्षित हो जाता है। यहाँ शोण पद अपना अर्थ नहीं छोड़ता। इसीलिये यह अजहत् स्वार्था है, किन्तु तत् व त्वम् पद में ऐसा नहीं होता उसमें तत् व त्वम् पद दोनों अपने विरुद्ध परोक्षत्व व प्रत्यक्षत्व को छोड़ते हैं। तो इस प्रकार अजहत् स्वार्था लक्षणा भी नहीं हो सकती। अतः कोई और लक्षणा माननी होगी और यही 'भाग त्याग लक्षणा' है। इसमें तत् व त्वम् पद के परोक्ष चैतन्य व प्रत्यक्ष चैतन्य में परोक्षत्व व प्रत्यक्षत्व को छोड़ देते हैं और "चैतन्य-मात्र" को ग्रहण कर लेते हैं। अतः भाग त्याग लक्षणा सिद्ध हुई।

इस प्रकार शंकर वेदान्ती महावाक्य की सिद्धि करते हैं और ब्रह्म व जीव में किसी प्रकार का कोई अन्तर नहीं मानते, रामानुज ब्रह्म व जीव में अन्तर स्वीकार करते हैं, यद्यपि तत्वतः दोनों को एक मानते हैं। उनकी महावाक्य की सिद्धि में भी अन्तर है, आगे के वैष्णव आचार्यों ने भी इस भाग त्याग लक्षणा और सोऽयं देवदत्तः के उदाहरणों को स्वीकार नहीं किया, उसकी अनेक व्याख्यायें की हैं।

वेदान्त में इसके पश्चात् "अहं ब्रह्मास्मि" "मैं ब्रह्म हूँ", इस अनुभूति पर बहुत कुछ कहा गया है, बहुत से दार्शनिक जीवन्मुक्ति को सम्भव नहीं मानते, परन्तु वेदान्ती मानते हैं। वेदान्त के अनुसार

आचार्य या गुरु पूर्वकथित अध्यारोप व अपवाद न्याय से 'तत्त्वमसि' वाक्यार्थ को शुद्ध करके शिष्य को समझावे, तब उसमें 'मैं नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्य-स्वभाव, अनन्त अद्वय ब्रह्म हूँ" ऐसी अखण्ड चित्त वृत्ति का उदय होता है। अब यहाँ पुनः वेदान्त सांख्य से प्रभावित प्रतीत होता है। सांख्य दर्शन में वाह्य पदार्थ की प्रतीति के समय आत्मा का प्रतिबिम्ब बुद्धि पर पड़ता है और बुद्धि उस पदार्थ को प्रकाशित कर देती है। या विज्ञान भिक्षु के अनुसार बुद्धि तथा आत्मा का प्रतिबिम्ब परस्पर एक दूसरे पर पड़ता है, तभी वाह्य पदार्थ प्रकाशित होता है। वेदान्त में प्रायः प्रथम प्रक्रिया स्वीकृत है। अर्थात् "मैं ब्रह्म हूँ" ऐसी अखण्ड चित्त वृत्ति का उदय होता है। यह चित्त-वृत्ति अखण्ड, अभिन्न, अज्ञात ब्रह्म को विषय बना कर उसके ऊपर पड़े हुये अज्ञान को नष्ट कर देती हैं और तब जैसे तन्तु दाह हो जाने से पट का दाह हो जाता है, उसी प्रकार अज्ञान का नाश हो जाने से स्वयं प्रकाश्य ब्रह्म का प्रकाश प्रतीत होने लगता है, और तब अज्ञान विनाशिका चित्तवृत्ति स्वयं नष्ट होजाती है। जिस प्रकार दीपक सूर्य को प्रकाशित नहीं कर सकता, उसी प्रकार चित्त वृत्ति में प्रतिबिम्बित चिदाभास स्वयं ब्रह्म को प्रकाशित नहीं कर सकता। चिदाभास तो केवल ब्रह्म विषयक अज्ञान का नाश कर देता है, और जिस प्रकार दर्पण के न रहने पर मुख का प्रतिबिम्ब मुख में ही समा जाता है, उसी प्रकार चित्तवृत्ति के नष्ट हो जाने पर उसमें स्थित चित् का आभास भी, स्वप्रकाश ब्रह्म से स्वयं अभिभूत हो जाता है। इस प्रकार "मैं ब्रह्म हूँ" केवल यही एक अखण्ड अनुभव ज्ञानी को होता है। संसार के पदार्थ ज्ञान की प्रक्रिया से आत्मज्ञान की उक्त प्रक्रिया भिन्न है। लौकिक वस्तुओं का ज्ञान होते समय चैतन्य का प्रतिबिम्ब चित्त या अंतःकरण पर पड़ता है और तब हमें वस्तु का ज्ञान होता है। किन्तु ब्रह्म का ज्ञान होते समय चिदाभास, ब्रह्म विषयक अज्ञान को तो नष्ट कर डालता है पर ब्रह्म को प्रकाशित नहीं कर सकता। वह स्वयं ब्रह्म के प्रकाश से अभिभूत हो जाता है। उदाहरण के लिये किसी जड़ पदार्थ को लीजिये। "यह घड़ा है" इसका ज्ञान हमें किस प्रकार होता है? इस प्रक्रिया में सम्मुख स्थित घट के आकार में हमारी चित्तवृत्ति परिणत हो जाती है, और अज्ञात घट को विषय बनाकर, घट विषयक अज्ञान

को नष्ट कर अपने में स्थित चित्तात्मा के आभास से जड़ घट को ज्ञात बना देती है। इसीलिये कहा गया है कि चित्तवृत्ति तथा उसमें स्थित चित् का आभास दोनों घट को प्राप्त होते हैं इनमें चित्त वृत्ति घट-विषयक अज्ञान को नष्ट कर डालती है और चित का आभास घट-ज्ञान की प्रतीति करा देता है।

वेदान्त में चैतन्य के साक्षात्कार होने तक तैयारी के रूप में अनेक अनुष्ठानों का वर्णन है यथा उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास अपूर्वता, फल, अर्थवाद व उपपत्ति के द्वारा शास्त्र का अध्ययन व अभ्यास करना चाहिये। इसी प्रकार श्रवण के अतिरिक्त मनन, निदिध्यासन, समाधि और अनुष्ठान आवश्यक होते हैं। समाधि भी दो प्रकार की होती है सविकल्पक और निर्विकल्पक। यहाँ वेदान्त योग की शरण लेता है और योग की प्रक्रिया को भी समेंट लेता है। इसी लिए वेदान्त में भक्ति, योगादि सभी का समाहार हो जाता है, पर प्रमुखता ज्ञान की ही है। तो सविकल्पक समाधि में ज्ञाता, ज्ञान व ज्ञेय इन तीनों का अलग अलग भान होता है परन्तु ब्रह्म में अखण्डाकार चित्तवृत्ति स्थापित हो जाती है, यह सविकल्पक समाधि है। निर्विकल्पक समाधि में ज्ञाता, ज्ञान व ज्ञेय का अलग अलग ज्ञान न होकर एक ही ब्रह्म वस्तु का ज्ञान होता है। इस समाधि में जल में मिले हुए लवण के लवणत्व ज्ञान के अभाव होने पर केवल जल का जैसे ज्ञान होता है उसी प्रकार अद्वितीय ब्रह्माकार चित्तवृत्ति के ज्ञान की सत्ता का अभाव होने पर ब्रह्म मात्र का ही ज्ञान रह जाता है। सुषुप्ति में भी 'वृत्तिज्ञान' का अभाव ही रहता है परन्तु वृत्ति या अन्तःकरण का अभाव नहीं रहता परन्तु निर्विकल्पक समाधि में वृत्ति का नाश हो जाता है इस समाधि के अङ्ग योग में वर्णित यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि हैं। इस समाधि में अनेक विघ्न पड़ते हैं परन्तु साधक उनसे बचता है। विघ्न रहित चित्तवृत्ति, निष्कम्प-दीप-शिखा के समान ब्रह्म में स्थित हो जाती है। इस समय शुद्ध चैतन्य मात्र का बोध होता है, यही निर्विकल्पक समाधि है।

जीवन्मुक्ति—उक्त अवस्था इसी जीवन में होती है। अतः जीवन्मुक्त वह पुरुष है जिसका अज्ञान तथा उससे जन्य, संचित कर्म, संशय

भ्रम आदि का नाश हो चुका हो, जो अखिल अनन्त ब्रह्म का साक्षात्कार कर ब्रह्मनिष्ठ हो चुका हो। मुक्त पुरुष के हृदय का भ्रम नष्ट हो जाता है, सर्व संशयों का विनाश हो जाता है और कर्म क्षय हो जाते हैं। जिस प्रकार प्राकृत जन इन्द्रजाल के पदार्थों को देख कर विचार करता है कि ये पदार्थ मिथ्या हैं उसी प्रकार जीवन्मुक्त पुरुष जागृत अवस्था में विचार करता है कि यह शरीर तो रक्त, मांस, विष्ठादि का भण्डार है, इन्द्रियाँ बधिरत्व अन्धत्व आदि से युक्त हैं, अन्तःकरण भूख, प्यास, शोक, मोह से ग्रसित है, यह दृश्यमान जगत सत् नहीं है। श्रुति कहती है जीवन्मुक्त पुरुष नेत्रयुक्त होनेपर भी नेत्रविहीन जैसे व्यवहार करता है, कर्ण होने पर भी बधिर जैसा वर्तता है, मन होने पर भी मन विहीन-सा रहता है। ऐसा साधक आहार विहारादि में अभिमान रहित होकर प्रवृत्त होता है। वह सब कुछ करता हुआ भी मन से कुछ नहीं करता। वह शुभ व अशुभ दोनों में उदासीन रहता है। प्रश्न होगा कि जीवन्मुक्त पुरुष क्या अशुभ आचरण कर सकता है? उत्तर होगा—नहीं। क्योंकि ब्रह्म तत्व को जान लेने के पश्चात् यदि साधक मनमाना आचरण करे तो फिर अपवित्र पदार्थ के भक्षण में लगे हुए श्वान व उस ब्रह्मवेत्ता में क्या अन्तर होगा! इस अवस्था में सद्गुण तो स्वयं आ ही जाते हैं, साधक इच्छा, अनिच्छा, परेच्छा तीनों से परे रहता है।

उसके संचित (पूर्वकाल के वे कर्म जो एकत्र हैं) व क्रियमाण (वे कर्म जो एकत्र हो रहे हैं) कर्म नष्ट हो जाते हैं केवल प्रारब्ध कर्मों (पूर्वकाल के वे कर्म जिनका भोग चल रहा है) का भोग मृत्यु पर्य्यन्त करता है, सो भी उदासीन हो कर। दण्ड से घुमाये गये कुम्हार का चक्र जैसे कुछ अवस्था तक स्वयंमेव घूमता रहता है उसी प्रकार जीवन्मुक्त का शरीर केवल प्रारब्ध कर्मों को भोगने के लिये जीवित रहता है और उनका भोग समाप्त हो जाने के पश्चात् वह सच्चिदानन्द ब्रह्म में लीन हो कर कैवल्यानन्द का अनुभव करता है। यह विदेह मुक्ति है।

संक्षेप में वेदान्त का यही सारांश है, इसमें ब्रह्म व जीव की एकता, माया से सृष्टि की उत्पत्ति, तथा साक्षात्कार हो जाने के पश्चात् 'अहं ब्रह्मास्मि' की अनुभूति का विशद विवेचन किया गया है। कर्म, योग, भक्ति आदि का उपयोग साक्षात्कार के लिये केवल मानसिक

तैयारी के लिये किया गया है। इस विवेचन के पश्चात् हम देखते हैं कि आचार्य ने अन्य मतों का जो खण्डन किया है उससे वेदान्त सम्बन्धी धारणाएँ और भी स्पष्ट हो जाती हैं।

वेदान्त तथा अन्य सम्प्रदाय—वेदान्त सूत्रों के द्वितीय अध्याय में बादरायण ने अनेक सम्प्रदायों का खण्डन किया है। सूत्रों के शंकर-भाष्य में आचार्य का दृष्टिकोण भी स्पष्ट हो जाता है। सर्व प्रथम स्मृतियों द्वारा प्रतिपादित द्वैतवाद का खण्डन किया गया है। स्मृतियाँ कहती हैं कि ब्रह्म निमित्त व उपादान दोनों कारण नहीं हो सकता, 'ब्रह्म' तो निर्विशेष है तब उससे सविशेष व सावयव जगत की उत्पत्ति कैसे हुई ? किन्तु शंकर का तर्क है कि बुद्धिमान व्यक्ति से अनेक तुच्छ वस्तुयें उत्पन्न होती हैं यथा मनुष्य के शरीर से केश, नाखून उत्पन्न हो जाते हैं, गोबर से बिच्छू उत्पन्न हो जाते हैं, यदि कहो कि केश, नाखून आदि जड़ शरीर से ही उत्पन्न होते हैं और ब्रह्म अशरीरी है परन्तु बिच्छू चेतन पदार्थ है वह गोबर में रहता है, शरीर में अशरीरी ब्रह्म विद्यमान है अतः अशरीरी ब्रह्म से शरीर की उत्पत्ति क्यों नहीं हो सकती ? यदि कहो कि उक्त उदाहरणों में गोबर व बिच्छू तथा शरीर व केश की प्रकृति एक सी है तो ब्रह्म व संसार की प्रकृति में भी कुछ समता अवश्य है, दोनों में सत् तत्व Existence विद्यमान है। कारण रूप ब्रह्म में भी सत्ता है और कार्य रूप संसार में भी। सांख्य शास्त्र का भी यह आक्षेप व्यर्थ है कि जब कार्य रूप जगत कारण रूप ब्रह्म से पूर्णतया विपरीत प्रकृति (स्वभाव) वाला है तो अव्यक्त प्रकृति या प्रधान की स्वतन्त्र सत्ता मान लेनी चाहिये, क्योंकि सांख्य दर्शन 'प्रधान' को तो जड़ मानता है किन्तु उससे आगे चल कर रङ्ग, रूप, शब्द आदि की उत्पत्ति मानता है यह कैसे सम्भव है ! और यदि सम्भव है तो ब्रह्म को ही उपादान कारण क्यों नहीं मान लेते ?

वेदान्त के विषय में यह आक्षेप है कि वह तर्क को छोड़ कर श्रुति की शरण ले लेता है। इसका उत्तर शंकर देते हैं कि व्यक्तिगत मतों पर विश्वास नहीं किया जा सकता, वेद अपौरुषेय है। अतः जहाँ विवाद उपस्थित हो वहाँ श्रुति की शरण लेना ही ठीक है। पाठक देखें कि शंकर की युक्ति कितनी दुर्बल है, आज कोई भी व्यक्ति इस तर्क पर विश्वास नहीं कर सकता। शंकर यह मानते हैं कि श्रुति को प्रमुखता देनी

चाहिये और तर्क को श्रुति की अधीनता में रहकर ही कार्य करना चाहिये।

इसलिये शङ्कर के अनुसार जो विचारधारा श्रुति विरुद्ध है वह विश्वसनीय नहीं है, साँख्य को इसीलिये हम स्वीकार नहीं कर सकते।

साँख्य दर्शन कहता है कि संसार के सारे पदार्थ सुख दुःख या मोह प्रधान हैं अतः उनका कारण भी सुख, दुःख तथा मोह ही होना चाहिये। यह कारण सत्व, रज व तम रूप ही कहा जाता है। इसी त्रिगुणात्मक अव्यक्त प्रकृति को 'प्रधान' कहते हैं जो संसार के सारे पदार्थों की रचना करती है, यह 'प्रधान' या अव्यक्त प्रकृति स्वयं जड़ है परन्तु यह अनेक वस्तुओं की रचना करती है, गुणों की विषमता से 'प्रधान' में गति उत्पन्न हो जाती है और विभिन्न पदार्थ बनने लगते है। शंकर के अनुसार यह कल्पना व्यर्थ है क्योंकि संसार में कोई कार्य बिना किसी चेतन सत्ता के स्वयमेव नहीं होता; भवन, उपवनादि को मनुष्य बनाते हैं, 'प्रधान' जो स्वयं जड़ है वह संसार की रचना करने में कैसे समर्थ हो सकती है? फिर यदि 'प्रधान' ही सब वस्तुओं की रचना करती है तो घट के लिये 'मिट्टी' के उपादान की क्या आवश्यकता? वेदान्ती सीधे श्रुति के आदेश पर विश्वास करते हैं कि जगत का निर्मायक एक चेतन तत्व है, यदि वह अचेतन होता तो जगत में व्यवस्था न दिखाई पड़ती।

साँख्य दर्शन के अनुसार 'प्रकृति' पुरुष के लिये उसी प्रकार कार्य करने लगती है जिस प्रकार एक बच्चे को देख कर गाय दूध को प्रवाहित करना प्रारम्भ कर देती है। वेदान्ती के अनुसार यह उपमा भी अशुद्ध है क्योंकि दूध गाय के उदर में ही रहता है, अन्यत्र नहीं। गाय किसी अन्य वस्तु को नहीं निकाल सकती केवल दूध को ही निकाल सकती है। (वेदान्तसूत्र २ अध्याय, २ पद, ५ सूत्र) साँख्य के अनुसार 'प्रधान' उसी प्रकार अनेक वस्तुओं में परिवर्तित हो जाती है जिस प्रकार घास, झाड़ी, पत्तियाँ आदि दूध में परिणत हो जाती हैं। यह स्वभावतः ही होता है, यह घास आदि का स्वभाव ही है कि वे दूध में परिणत हो जायें। वेदान्ती के अनुसार घास दूध में परिणत तभी होगी जब उसे गाय उदरस्थ कर ले। इससे स्पष्ट है कि निमित्त कारण की आवश्यकता है, अतः वेदान्ती निमित्त कारण को मानता है।

यदि इसे स्वीकार कर भी लिया जाय तो भी साँख्य-दर्शन में 'प्रधान' का कोई उद्देश्य न होने से उसे ग्राह्य नहीं माना जा सकता। यदि कहो वह पुरुष की मुक्ति के लिये प्रयत्न करती है तो वह तो स्वयं मुक्त है, उदासीन है, उसे न आनन्द होता है न दुःख। फिर प्रश्न होता है कि दोनों में सम्बन्ध कैसे स्थापित किया जा सकता है? सांख्य उत्तर देगा कि प्रधान और पुरुष में अन्धे व लँगड़े का सम्बन्ध है, लँगड़ा अन्धे के कन्धे पर बैठ कर चल सकता है और लँगड़ा पथ-प्रदर्शन कर सकता है। पुरुष निष्क्रिय है और प्रकृति अन्धी है अतः दोनों का सम्बन्ध स्वाभाविक है। परन्तु सांख्य दर्शन जब पुरुष को उदासीन कहता है, निष्क्रिय कहता है तब पुरुष 'प्रधान' में क्रिया कैसे उत्पन्न करता है? यदि यह कहो कि चुम्बक जैसे निकट आने पर लोहे में गति उत्पन्न कर देती है उसी प्रकार पुरुष प्रकृति को गतिवान कर देता है, तो यह भी युक्ति युक्त नहीं, क्योंकि चुम्बक व लोहे का सम्बन्ध एक निश्चित दूरी का है एक निश्चित दशा में ही वह गति उत्पन्न करने में समर्थ होती है। यदि पुरुष, प्रकृति के निकट है तो सर्वदा गति उत्पन्न होती रहनी चाहिये और प्रलय कभी नहीं होनी चाहिये।

वेदान्त के अनुसार सांख्य दर्शन अन्तर्विरोधों से भरा है। कहीं, इन्द्रियों की संख्या ७ है, कहीं ११। कभी कहते हैं कि सूक्ष्म भूत महत् अर्थात् बुद्धि से उत्पन्न होते हैं, कभी कहते हैं कि चेतन तत्व (Self consciousness) से। कभी आन्तरिक अवयवों को तीन बताते हैं कभी केवल एक को। (वेदान्तसूत्र, २ अध्याय, २ पद, १० सूत्र)

इस प्रकार वेदान्ती सांख्य की इस बात को नहीं मानता कि सृष्टि का मूलभूत कारण एक जड़ तत्व है, जो सूक्ष्म और त्रिगुणात्मक है, जो स्वतन्त्र है। सांख्य में पुरुष अनेक माने जाते हैं, वे चेतन हैं पर उदासीन और निष्क्रिय हैं। सांख्य की सृष्टि प्रक्रिया अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वेदान्त ने सांख्य से केवल प्रक्रिया का क्रम किसी सीमा तक अपनाया है, अन्यथा वह केवल 'ब्रह्म' को छोड़कर 'प्रधान' जैसे तत्व में विश्वास नहीं करता। साहित्य पर सांख्य का प्रभाव कम पड़ा है, केवल सृष्टि प्रक्रिया का अध्ययन करते समय यह दर्शन हमारी अवश्य सहायता करता है। कबीर की सृष्टि प्रक्रिया को समझने के लिए, या सूर

के द्वारा दी गई सृष्टि प्रक्रिया के तुलनात्मक अध्ययन के लिये सांख्य का अध्ययन अवश्य अपेक्षित है।

साँख्य का योग से घनिष्ठ सम्बन्ध है अतः योगिक चर्चा में भी साँख्य का अनुशीलन आवश्यक है।

वैशेषिक का खण्डन—वैशेषिक अनीश्वरवादी दर्शन है। इसके प्रवर्तक थे महर्षि कणाद, परन्तु सांख्य के प्रवर्तक 'कपिल' को वादरायण ने ऋषि माना है, कणाद को नहीं। कणादि की देन है परमाणुओं द्वारा विश्व की सृष्टि समझाना। उनके अनुसार प्रत्येक वस्तु अनेक परमाणुओं से बनी है। ये परमाणु अत्यन्त सूक्ष्म हैं, दो परमाणु मिल कर 'द्वयणुक' को बनाते हैं, इन्हीं के योग से दीर्घ आकार की वस्तुएँ बनती हैं। वादरायण ने इसका खण्डन यों किया है कि जब कारण के अनुसार ही कार्य होता है तो जब परमाणु अवयव रहित है तो सावयव जगत की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ?

कणाद यह मानते हैं कि परमाणुओं में 'अदृष्ट' गति उत्पन्न करता है। वादरायण पूछते हैं कि परमाणु में जो प्रारम्भिक गति उत्पन्न होती है वह परमाणु के भीतर से उत्पन्न होती है या आत्मा के भीतर से ? दोनों प्रकार से गति सम्भव नहीं क्योंकि अदृष्ट पूर्व जन्म के कर्म से उत्पन्न होता है। आत्मा के लिए जो 'अदृष्ट' है वह परमाणु में कैसे पहुँचा ? यदि परमाणु को रूप-रहित मानते हो तो कार्य रूप वस्तु में रूप, रङ्ग, आदि तत्व कहाँ से उत्पन्न होते हैं ?

इस प्रकार वेदान्त परमाणुवादी सिद्धान्त का खण्डन करता है। परमाणुओं की कल्पना से जगत की उत्पत्ति नहीं समझाई जा सकती। अतः वेदान्त माया से जगत की उत्पत्ति मानता है।

जैनदर्शन-खण्डन— जैन दर्शन का मुख्य सिद्धान्त है स्यात्वाद। साथ ही जैन दार्शनिक जीव को 'मध्यम परिमाण' का मान कर शरीर के अनुसार उसका घटना बढ़ना मानते हैं। स्यात्वाद के अनुसार सप्तभङ्गी को वादरायण नहीं मानते। स्यात्वादी कहते हैं कि किसी भी वस्तु का निश्चित स्वरूप हम नहीं बतला सकते, उसमें परस्पर विरोधी बातें रहती हैं। घट यहाँ है, घट यहाँ नहीं है, घट यहाँ है भी और नहीं भी है, आदि सात बातें एक घट के विषय में कही जा सकती हैं।

वादरायण के अनुसार एक ही वस्तु में इतनी परस्पर विरोधी बातें नहीं आ सकतीं।

'मध्यम परिमाण' सिद्धान्त का खण्डन वादरायण ने इस प्रकार किया है कि यदि आत्मा को मध्यम परिमाण वाला मानते हो तो चूँकि सङ्कोच व विकास मानने से उसमें विकार मानना होगा और श्रुति आत्मा को अविकारी मानती है अतः यह सिद्धान्त मिथ्या है। वादरायण का यह खण्डन वस्तुतः जैन दर्शन को ठीक-ठीक न समझने के कारण मालूम होता है।

बौद्ध दर्शन का खण्डन—वैभाषिक जगत के पदार्थों को चित्त के बाहर भी मानते हैं और भीतर भी इसीलिए वे 'सर्व-अस्तिवादी' कहलाते हैं किन्तु वैभाषिक क्षणिकवाद को भी मानते हैं। बौद्ध जगत की सृष्टि क्षण-स्थायी परमाणुओं से मानते हैं। वादरायण के अनुसार क्षणस्थायी परमाणुओं का संयोग ही नहीं बन सकता। यदि यह कहो कि अविद्या आदि निदानों के एक दूसरे के प्रत्यय से समुत्पादन—समुदाय होता है तो यह भी युक्त नहीं क्योंकि अविद्यादि पृथ्वी आदि स्थूल भूतों को उत्पन्न नहीं कर सकते। क्षणिकवाद के अनुसार पहली वस्तु नष्ट हो जाने पर दूसरी वस्तु उत्पन्न होती है परन्तु जब पहली वस्तु नष्ट हो चुकी है तो वह दूसरी वस्तु का कारण कैसे बनेगी ?

वादरायण कहते हैं कि कारण का सर्वथा नाश नहीं हो सकता घट नष्ट हो जाता है, मिट्टी रहती है; अतः वस्तुतः विच्छेद नहीं होता, कारण का पूर्ण अभाव कभी नहीं होता।

यदि कहो कि संसार में कोई स्थायी तत्व नहीं है जैसे आत्मा, तो यह भ्रम है क्योंकि यदि आत्मा नहीं है तो हमें पूर्व अनुभवों की स्मृति कैसे होती है, विभिन्न अनुभवों का अधिष्ठान कहाँ होगा ?

सौत्रान्तिक-खण्डन—सौत्रान्तिक बाहर की वस्तुओं की क्षणिकता को मानते हैं। जो घट हमें अब दिखाई पड़ रहा है वह वही नहीं है जो एक क्षण पूर्व था। अतः इस समय दिखाई पड़ने वाला घट पहले के विच्छिन्न घट का परिणाम है। जब हम घड़े को देखते हैं तो वह एक क्षण में नष्ट तो हो जाता है परन्तु चित्त में अपना आकार छोड़ जाता है, इससे हम द्वितीय क्षण में स्थित घड़े का अनुमान कर लेते हैं। वादरायण कहते हैं कि यह असम्भव है, क्योंकि जो वस्तु नष्ट

हो जाती है, उसके आकार या रङ्ग-रूप आदि का स्थान परिवर्तन नहीं देखा जाता यदि विनष्ट वस्तु से भी इस प्रकार वस्तु उत्पन्न होती जाय तो उदासीनों को भी वह बात प्राप्त हो जाय और तब निर्वाण के लिए प्रयत्न करना भी व्यर्थ जान पड़े।

योगाचार खण्डन—वैभाषिक बाहरी पदार्थ तथा अन्तर स्थित विज्ञान दोनों को मानते हैं। सौत्रान्तिक केवल बाह्य पदार्थों को अनुमान सिद्ध मानते हैं, विज्ञान तो उसी का भीतरी निक्षेप मात्र है। कतु विज्ञानवादी सौत्रान्तिक के बिल्कुल विपरीत विज्ञान को तो मानते हैं परन्तु बाह्य पदार्थों को नहीं मानते। वादरायण कहते हैं कि बाह्य पदार्थों की सत्ता स्पष्ट प्रतीत होती है, पदार्थों के बिल्कुल न रहने का ज्ञान सम्भव नहीं है, स्वप्न अवस्था में देखे गये पदार्थों की भाँति जागृत अवस्था के पदार्थ नहीं हैं क्योंकि जागृत अवस्था अबाधित है, स्वप्न बाधित हो जाता है। अतः यह कहना ग़लत है कि चित्त के बाहर पदार्थों की सत्ता है ही नहीं। यहाँ स्पष्ट है कि वेदान्त में व्यावहारिक रूप से ही सही परन्तु बाहरी पदार्थों की सत्ता स्वीकार अवश्य की जाती है। *

माध्यमिक-खण्डन—शून्यवाद ने आस्तिक दर्शनों के अनुसार वस्तु की क्षणिक वास्तविकता से इन्कार किया था। चूँकि बाहरी व भीतरी सभी वस्तुयें व वृत्तियाँ परस्पर सापेक्ष्य हैं अतः वे शून्य हैं, उनका अभाव सिद्ध है। वादरायण इस मत का अधिक खण्डन व्यर्थ समझते हैं और शून्यवाद को सर्वथा असङ्गत कह कर टाल देते हैं।

वादरायण ने योग, पाशुपत, पाँचरात्र आदि मतों का भी खण्डन किया है। पाँचरात्र तो वैष्णव दर्शन था। पाशुपत त्रैतवादी है, योग भी द्वैत को स्वीकार करता है। वादरायण इन सबका खण्डन करते हैं और अपना मत स्थापित करते हैं जिसका विस्तृत विवेचन हम कर चुके हैं।

इसी प्रसङ्ग में हम वेदान्त के दो अन्य सिद्धान्तों प्रतिबिम्बवाद व अवच्छेदकवाद पर विचार करते हैं। इनमें प्रथम सिद्धान्त ने हिन्दी

---

* विस्तृत विवेचन के लिये देखिये "The Yo, ācara Id alism" नामक बनारस विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत प्रबन्ध, पृष्ठ २४२ २६०। लेखक श्री अशोककुमार चटर्जी।

के मध्यकालीन कवियों पर यत्र-तत्र प्रभाव डाला है।

आलङ्कारिक भाषा में यह कहा जा सकता है कि शुद्ध चैतन्य का अविद्या के दर्पण पर जो प्रतिबिम्ब पड़ता है वही जीव है। जिस प्रकार एक ही चन्द्रमा के विभिन्न प्रतिबिम्ब भिन्न-भिन्न जलाशयों पर पड़ते हैं और जल की स्वच्छता या मलिनता के अनुरूप प्रतिबिम्ब भी स्वच्छ या मलिन हो जाता है, जल की स्थिरता के अनुसार प्रतिबिम्ब भी स्थिर या चञ्चल हो जाता है, उसी प्रकार अविद्या के स्वरूप के अनुसार अनन्त चैतन्य के प्रतिबिम्ब स्वरूप जीव भी भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। इस उपमा से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि एक ही ब्रह्म कैसे भिन्न-भिन्न जीवों में भासित होता है और फिर भी एक ही रहता है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि अन्तःकरण जितना ही अधिक निर्मल होगा प्रतिबिम्ब उतना ही उज्ज्वल हो जायगा। इसी सिद्धान्त को ध्यान में रख कर बिहारी ने लिखा था—

मैं समुझयो निरधार, यह जग काँचो काँच सो,
एकै रूप अपार, प्रतिबिम्बित लखियतु यहाँ।

बिहारी हिन्दी के कवियों में प्रतिबिम्बवादी भक्त वेदान्ती थे। 'देव' सर्ववादी वेदान्ती थे। "आपु ही कहार आप पालकी चढ़यो परै" से देव ने यही व्यञ्जित किया है।

इस प्रतिबिम्बवाद में दोष यह है कि मुक्ति का अर्थ 'जीवों का नाश' हो जायगा, क्योंकि अविद्या रूपी दर्पण जिस पर ब्रह्म का प्रतिबिम्ब पड़ रहा है, जब नष्ट हो जायगा तो जीव का अस्तित्व ही नहीं रहेगा। अतः प्रतिबिम्ब की उपमा दोषपूर्ण है। वेदान्ती 'घटाकाश' की उपमा जीव व ब्रह्म के सम्बन्ध बताने के लिए दिया करते हैं।

अवच्छेदकवाद—जैसे आकाश सर्वव्यापी और एक है फिर भी उपाधि भेद से वह घटाकाश, मठाकाश आदि नामों से पुकारा जाता है, उसी प्रकार ब्रह्म तो सर्वव्यापी और एक ही है, पर अविद्या के कारण उपाधि भेद से वह नाना जीवों व विषयों के रूप में प्रतीत होता है। वस्तुतः जीव-जीव में, विषय-विषय में कोई भेद नहीं क्योंकि सत्ता तो एक ही है। प्रत्येक जीव शरीर के अन्दर स्थित होकर भी वस्तुतः ब्रह्म से अभिन्न है, जैसे घड़े के भीतर का आकाश बाहर के आकाश से

भिन्न नहीं है। अतः मुक्ति का अर्थ होगा अविद्या का नाश, सीमित जीव का असीमित ब्रह्म में मिल जाना। घड़ा जब फूट गया तो घट के भीतर का आकाश बाहर के आकाश में मिल जायगा। यही मुक्ति है। कबीर ने यही तो कहा था—

'जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, बाहर भीतर पानी,
फूटा घट, जल जलहिं समाना, यह तत कथहु ग्रियानी।'

इस मत को 'अवच्छेदक वाद' कहते हैं। कबीर ऐसे ही 'अवच्छेदकवादी' थे।

वेदान्त की महानता है उपनिषदों की परस्पर विरोधी उक्तियों में सामञ्जस्य स्थापित करना। बादरायण के ब्रह्म सूत्रों ने यह कार्य पहले किया था किन्तु स्वयं सूत्रकार की भी व्याख्या की आवश्यकता थी और एक ऐसे सिद्धान्त की स्थापना की आवश्यकता थी जिससे हम यह समझ सकें कि उपनिषद् एक ही बात बताती हैं, उनमें कहीं कोई विरोध नहीं है। उपनिषदों में कहीं निर्गुण ब्रह्म का वर्णन है, कहीं सगुण ब्रह्म का, कहीं ब्रह्म व जीव की एकता है, कहीं द्वैत का भान बिल्कुल स्पष्ट है, कहीं ब्रह्म, जीव व प्रकृति तीनों को स्वतन्त्र माना गया है। सांख्य ने ऐसे ही स्थलों को पकड़ा था जिनमें प्रकृति व पुरुष की द्वैतता स्पष्ट थी। इसी प्रकार द्वैतभाव की सिद्धि के लिये शङ्कर के बाद के दार्शनिकों ने भी उपनिषदों के विभिन्न द्वैतपरक स्थलों का उपयोग किया था। शङ्कर ने घोषित किया कि श्रुति ब्रह्म को निर्गुण व निर्विशेष ही मानती है। ब्रह्म का हम वस्तुतः लक्षण नहीं कर सकते, स्वयं वेद का अन्त 'नेति-नेति' में हुआ है। पुरुष सूक्त व नासदीय सूक्त भी इसी ओर संकेत करते हैं। कर्मकाण्डी इसे नहीं समझते। श्रुति कर्म को ब्रह्म साधना का शत्रु मानती है। कर्म व ज्ञान में परस्पर विरोध है अतः संन्यास मार्ग ही श्रेष्ठ है। शङ्कर ने गीता भाष्य में संन्यास धर्म की ही श्रेष्ठता दिखलाई है। भक्ति व योग की निन्दा न कर उसको साधन मात्र मान लिया है, साध्य नहीं माना।

ब्रह्म व जीव की एकता की स्थापना तथा उससे भी अधिक जगत को मायामय सिद्ध करने के प्रयत्न में शङ्कर को बड़ा ऊहापोह करना पड़ा है, श्रुतियों के मन-माने अर्थ करने पड़े हैं। इसलिये शङ्कर-

दर्शन की सबसे बड़ी विशेषता माया का सिद्धान्त है। जीव व ब्रह्म की एकता तो प्रमाणित हो सकती थी, परन्तु प्रत्यक्ष जगत के पदार्थों का अपलाप बिना माया का सिद्धान्त स्वीकार किये सम्भव नहीं था। इसके लिए गौड़पाद की माण्डूक्य कारिका उनके लिए प्रकाश स्तम्भ थीं। अतः शङ्कर ने सारी उपनिषदों में यह माया का सिद्धान्त प्रमाणित कर दिखाया कि जगत न सत् है न असत्, अपितु मायामय है, जिसे वाणी द्वारा कहा नहीं जा सकता। वस्तुतः शङ्कर दर्शन की सबसे बड़ी अक्षमता यहीं थीं। ब्रह्म को निरवयव मानकर सावयव जगत की उत्पत्ति के लिये एक अनिर्वचनीय शक्ति की कल्पना करना शङ्कर की विवशता थी। इस माया की अनिर्वचनीयता का आधार था बौद्ध दर्शन जहाँ नागार्जुन ने सिद्ध कर दिया था कि वस्तु को न सत् कहा जा सकता है न असत्। त्रैत वादी अर्थात् ईश्वर, जीव, प्रकृति तीनों को अलग-अलग मानकर चलने वाले आर्य समाजी इसीलिए शङ्कर को अवैदिक मत का प्रतिष्ठापक कहते हैं।

शङ्कर के दर्शन की दूसरी अक्षमता है प्रत्येक स्थान पर श्रुति का आश्रय खोजना। स्वतन्त्र तर्कों का भी कम प्रयोग नहीं है परन्तु प्रायः तर्क के ऊपर श्रुति की प्रतिष्ठा आस्तिक दर्शनों की विशेपता है। इसका कारण क्या था? इसका सबसे बड़ा प्रमाण 'तर्क' को शास्त्र का सहायक मात्र मान लेना था।

'श्रुत्यैव च सहायत्वेन तर्कस्याभ्युपेतत्वात्॥"

(देखिये चतुःसूत्री—दूसरे सूत्र की व्याख्या)

इसका अर्थ यह है जिस शास्त्र में जिसका विश्वास हो, उस शास्त्र की तर्क हीन बातों का भी समर्थन तर्क द्वारा करना चाहिये।

ईसा की ६ वीं शताब्दी के पश्चात् ही शङ्कर का आविर्भाव माना जाता है। इस युग में बौद्ध धर्म छिन्न भिन्न हो रहा था वह वज्रयान, सहजयान आदि अनेक पन्थों में विकसित हो चला था। बौद्धों के अभावात्मक विचारों के स्थान पर बुद्ध को ईश्वर मान कर उसके प्रति निष्ठा की प्रवृत्ति बढ़ चली थी। महायान सम्प्रदाय धीरे-धीरे हिन्दू धर्म में समावेशित हो रहा था। श्रमण धर्म के अनुशासन में ढीलापन आते ही विहारों में भ्रष्टाचार चला। अनेक गुह्य सम्प्र-

दायों की स्थापना हुई जिनमें मत्स्य, मुद्रा, मैथुन, मदिरा का प्रयोग होने लगा। इन गुह्य साधकों में स्वतन्त्र शास्त्रानुशीलन कम होगया। वसुबंधु, असङ्ग, अश्वघोष, नागार्जुन जैसी प्रतिभायें केवल स्मृति में गौरव स्मारक के रूप में ही सुरक्षित रहीं। उधर शुङ्ग वंश से ही ब्राह्मण धर्म को राज्याश्रय प्राप्त हो गया। पुष्यमित्र ने अश्वमेध यज्ञ कराया था। इसके बाद गुप्त वंश में ब्राह्मण संस्कृति का पुनः द्रुतवेग से प्रसार व प्रचार हुआ। किन्तु वैष्णव राजा श्रमण धर्म के प्रति उदार रहे। हर्ष विक्रमादित्य का दृष्टिकोण भी यही था। हर्ष की समन्वयवादी प्रवृत्ति ने दोनों धर्मों की कटुता कम करदी। एक ही स्थान प्रयाग में दोनों धर्मों के उत्सव होने लगे। जनता बुद्ध व विष्णु के विरोध को भूलने लगी। हर्ष की धार्मिक सहिष्णुता से श्रमण धम और हिन्दू धर्म दो धाराओं की तरह निकट आये, समन्वय पहले से प्रारम्भ हो ही चला था। बौद्ध धर्म ने अपने को हिन्दू धर्म की वैष्णवता में ढाला। श्रद्धा, निष्ठा, प्रतिमा पूजा की प्रवृत्ति बढ़ी, दूसरी ओर असमन्वयवादी जंत्र, मंत्र, तंत्रों में उलझते गये, और नालन्दा पर यवनों के आक्रमणों तक बड़े बलशाली रहे। जनता पर गुह्य साधकों का पर्याप्त प्रभाव था। हर्ष के बाद बौद्ध धर्म का पतन प्रारम्भ हो चला था। ऐसे ही समय जिस ब्राह्मणवादी धर्म का अभ्युदय गुप्तकाल से चला आ रहा था, वह और भी तेज होता गया। इस आन्दोलन में कालिदास, माघ, हर्ष, भारवि, भवभूति आदि सबने भाग लिया। इन कवियों ने ब्राह्मण विचारधारा का प्रचार किया। अभिज्ञान शाकुन्तल में कण्व के आश्रम का वातावरण कितनी श्रद्धा से कवि ने प्रस्तुत किया है। शिशुपाल वध में कृष्णावतार की महिमा है। भवभूति इन सब आन्दोलनों के प्रति अधिक जागरूक था उसने तो स्पष्टतया 'कपाल-कुण्डला' आदि पात्रों का विधानकर भ्रष्ट बौद्धों की जन-विरोधी गुह्य साधनाओं के विरुद्ध जनमत बनाने में बड़ा सहयोग दिया। साहित्यिकों में बौद्ध धर्म पर अन्तिम प्रहार जयचन्द के दरबारी कवि श्रीहर्ष ने किया, जिसने वेदान्त को अपनी अजस्र वाणी का वरदान दिया और साहित्य के माध्यम से वेदान्त की दुन्दुभी बजने लगी। ईसा की प्रथम शताब्दी से यवनों के आक्रमण के पहले तक जितना काव्य, दर्शन, धर्म सम्बन्धी साहित्य मिलता है उसमें अधिकतर ब्राह्मण धर्म

के अनुयायी थे, अतः प्रत्येक क्षेत्र में वैदिकमतों का प्रचार प्रारम्भ हुआ—

अब तक लोग यह समझते आ रहे हैं कि केवल राज्याश्रय प्राप्त होने से ही धर्म की वृद्धि होती है, हमें प्रथम शताब्दी से १२ वीं शताब्दी के बीच में जन चेतना को भी देखना चाहिये। प्रत्येक सम्प्रदाय का अस्तित्व उसकी विचारधारा पर निर्भर करता है। वाचस्पति मिश्र जैसे तार्किकों ने बौद्ध न्याय को झकझोर डाला। दार्शनिकों में मीमांसक कुमारिल, नैयायिक उदयन तथा वेदान्ती शङ्कर ने बौद्ध-धर्म पर प्रहार पर प्रहार किये, अनेक दिग्विजय हुये। बौद्धधर्म में कर्मवाद तो ज्यों का त्यों उपनिषदों से लिया गया था, आत्मा व ब्रह्म की स्थापना शङ्कर को करनी थी सो उसके लिये श्रुतियों का पुष्ट आधार था; साथ ही जगत की समस्या थी, उसे शङ्कर ने बौद्धों के ढङ्ग पर सुलझाया। उन्होंने ब्रह्म का रूप भी अनिर्वचनीय रखा जो 'शून्य' से मिलता जुलता था। इस प्रकार वेदान्त की विजय वस्तुतः ब्राह्मण सम्प्रदाय की बौद्ध सम्प्रदाय पर विजय थी। आगे के ब्राह्मणवादी कवियों के लिये शङ्कर का यह गौरव इतना महान था कि उनका दृष्टि-कोण कभी स्वतन्त्र न हो सका। किसी भी कवि ने भारत में वेदान्त के बाद स्वतन्त्र होकर तब तक चिन्तन करना नहीं सीखा जबतक अँग्रेज जाति की स्वतन्त्रतापरक मेधा का प्रभाव भारत की भूमि पर न जम गया।

शङ्कर की सफलता से राष्ट्रीय चिन्ता-धारा के नेत्र चकित हो गये और श्रीहर्ष से लेकर पं० जगन्नाथ तक तथा महाकवि चन्द्रवरदायी से लेकर भारतेन्दु तक सभी कवियों ने चिन्तन के क्षेत्र में दार्शनिकों की विचारधारा का केवल अनुवाद मात्र किया। कबीर व तुलसी दो ही कवि स्वतन्त्र चेता दिखाई पड़े। अतः जहाँ तक विभिन्न परिस्थितियों में डालकर पात्रों की हृदय-स्थिति के वर्णन का प्रश्न था, वहाँ तक कवियों ने अद्वितीय साहित्य दिया किन्तु सारे मध्यकालीन काव्य में स्वतन्त्र जीवन दृष्टि लुप्त प्राय रही। यवनों के आक्रमण के पश्चात् तो जैसे भारतीय मेधा पर तुषारपात होगया। सूर्य चन्द्रमा तो प्रकाश करते ही रहे परन्तु अतीत के प्रति समर्पण की बुद्धि के कारण आत्म सन्तोष के बादलों ने सूर्य व चन्द्रमा के प्रकाश को भी आवृत किया, नक्षत्र

तो बुरी तरह इस अन्धकार में डूब गये।

शङ्कर के दर्शन में श्रुतियों की दुहाई देने का यही कारण था कि वेदमूलक निष्ठा का उपयोग किया जाय। यह कह देने पर कि अमुक बात वेदों के अनुकूल है, स्वयं गृहीत हो जायगी, अतः प्रत्येक दार्शनिक ने अपने दृष्टिकोण का समर्थन श्रुतियों द्वारा करने में ही सारी शक्ति लगा दी। फलतः स्वतन्त्र चिन्तन की इस प्रवृत्ति से भी हानि हुई। रामानुज, मध्व, वल्लभ ने भी ऐसा ही प्रयत्न किया जो शङ्कर ने किया था। शङ्कर बौद्धों, के विरोधी थे तो रामानुज आदि स्वयं शङ्कर के।

परन्तु प्रश्न यह है कि वर्णाश्रमवादी शङ्कर, कुमारिल तथा उद्-यन आदि की विजय क्यों हुई, क्यों जनता ने उन्हें अपने हृदय के सिंहासन पर बैठाया, क्यों भारतीय चेतना- उस समय उनसे इतनी प्रभावित हुई कि आज तक वह प्रभाव अक्षुण्ण रहा। समाज में वर्ग व वर्ण के समर्थकों का बोलबाला क्यों हो गया? क्यों दार्शनिकों से प्रभा-वित कवियों को वर्गवाद व वर्णवाद का समर्थन करना पड़ा? जाति वाद, भेदवाद के विरोधी, आत्मा व परमात्मा सम्बन्धी अन्धविश्वासों के शत्रु धर्मों को जनता ने क्यों दूर फेंक दिया?

शङ्कर के समय ७ वीं या ८ वीं शती में देश की केन्द्रीय सत्ता नष्ट हो चुकी थी। हर्ष विक्रमादित्य के पश्चात् उत्तरी भारत अनेक राज्यों में विभाजित हो गया था। समाज में स्थायी रूप से अब भी चतुर्वर्ण थे। बौद्ध-धर्म के प्रयत्न से जातियों की अन्तर्मुक्ति अवश्य हुई थी तथापि ब्राह्मणों ने शुङ्गवंश तथा गुप्तवंश के राजाओं के समय अपनी स्थिति सम्हाल ली थी। महाराज हर्ष के प्रयाग के यज्ञों से ही यह बात स्पष्ट है। धार्मिक क्षेत्र में ब्राह्मणों का शासन था, आर्थिक नीति वैश्यों के हाथ थी, परन्तु अब अन्य जातियाँ भी व्यापार करती थीं। धर्माचार्यों व उपदेशकों का आधार व्यापारी वर्ग तथा शासक वर्ग ही था। राज दरबारों में अब भी धर्म विजेताओं के शास्त्रार्थ होते थे और उनमें विजय हो जाने पर प्रायः जनता पर धाक जम जाती थी। शङ्कर के शास्त्रार्थ तो प्रसिद्ध ही हैं। आगे यामुनाचार्य ने आचार्य कोला-हल को हराया था। रामानुज ने भी दिग्विजय किया था। देश की धर्म चेतना कुछ तो बुद्धिवादियों के हाथ में थी और कुछ क्रियावादियों

के। बौद्ध मत क्रियावादियों में सिमिट गया था। वज्रयान व सहजयान में तर्क-पद्धति के स्थान पर अनेक एकान्तिक साधनाएँ चल पड़ीं थीं जिनके सम्बन्ध में तर्क करना महापाप था। इस धर्म का मुख्य आधार साधक की श्रद्धा थी। योग में भी यही दशा थी। वज्रयानियों ने जो खण्डन-मण्डन की पद्धति अपनाई थी वह ध्वंसात्मक अधिक थी, रचनात्मक नहीं। उसमें उत्तरदायित्व और समाज को आगे ले चलने की भावना नहीं थी। निस्सन्देह पथभ्रष्ट बौद्ध सम्प्रदाय वर्ण-वाद के विरुद्ध थे, परन्तु घोर एकान्तिक साधनाओं में निमग्न रहने के कारण वे जन सम्पर्क खो चुके थे। समाज का शिक्षित वर्ग उनका आदर न करता था। भयङ्कर और भ्रष्ट साधनायें, चाहे उनके पीछे कितनी ही क्रान्तिकारी विचार-धारा क्यों न हो, जन-प्रिय कभी नहीं हो सकतीं। मिशनरी स्पिट नष्ट हो जाने के कारण बौद्ध साधना आत्म-विलास में डूब चुकी थी।

क्रियावादियों का दूसरा रूप यह था कि बौद्ध मत में अनेक देशों के लोग दीक्षित हो चुके थे। देश विदेशों में तो बौद्धमत फैल चुका था परन्तु सजग बुद्धिवादी ब्राह्मण इस वृत्ति को अराष्ट्रीय कह कर जन-मत को उनके विरुद्ध कर देता था। बौद्धों ने राष्ट्रीयता की चिन्ता भी नहीं की, उनमें विदेशों में जाकर आचारों को कड़ाई से पालन करने की प्रवृत्ति नष्ट होती गई। भारत एक ऐसा देश है जहाँ मुख्य ध्यान व्यक्ति के आचरण पर अधिक रहा है। चाहे बुद्धिवादी हो या क्रियावादी, अद्वैतवादी हो या भेदाभेदवादी, बौद्ध हो या जैन, इस देश की राष्ट्रीय परम्परा यही रही है कि यहाँ व्यक्तिगत आचरण को अवश्य देखा जाता है। बौद्ध-नेतृत्व बड़ा उदार और महान सन्देश ले कर चला था। उसका प्रवर्तक महान व्यक्ति था। देश ने शीघ्र ही उसे अपना अवतार मान लिया, किन्तु आगे चलकर देश बौद्धों से घृणा करने लगा। बौद्ध उत्साही प्रचारक अवश्य थे परन्तु उनका व्यक्तिगत जीवन पतित हो चुका था। बौद्ध अपने पतन को अपने धार्मिक दम्भ में भूल चुका था। वह माँस, मदिरा व मत्स्य का कुछ और ही अर्थ करता था। जनता ऐसे क्रियावादियों के चमत्कारों से डरती थी, कुमार्गी उनमें सम्मिलित भी होते थे। जन सामान्य उनकी साधनाओं के प्रति चाहे थोड़ी

बहुत श्रद्धा भी रखते हों परन्तु उनके प्रति जनता की चित्तवृत्ति क्रुद्ध हो चली थी।

यह भी कहा गया है कि शङ्कर जब समाज की समस्या का हल न खोज पाये तो माया का सिद्धान्त खोज निकाला और समाज के शोषण, जाति-भेद, वर्ण-व्यवस्था, ब्राह्मणों की कुलीनता आदि सबको माया कह कर समाज में क्रान्ति के द्वार सदा के लिये बन्द कर गये। ब्राह्मणों ने शक, कुशन, आभीर आदि विदेशियों को 'क्षत्रिय' बना कर अपना महत्व सुरक्षित कर लिया। बौद्ध तो केवल समता का ही उपदेश देते थे परन्तु ब्राह्मणों ने विदेशियों को उन्हें विराट की भुजाओं से उत्पन्न क्षत्रिय मान लिया और इस प्रकार वे क्षत्रिय सामन्तों द्वारा पूज्य हुये। वे समाज के नेता बन बैठे, और बौद्ध उपेक्षित रहे। बौद्ध साधक जन सम्पर्क खोकर, तथा सामाजिक समस्याओं की ओर ध्यान न दे कर, किसी 'योगिनी' को लेकर भोग-योग साधना में डूब गये।

शङ्कर ने इस दृष्टि से समतावादी श्रमण संस्कृति का उच्छेदन कर पुनः विषमता व शोषण पर आधारित ब्राह्मण संस्कृति का उद्धार किया। ब्राह्मण धर्म के पुनः अभ्युदय के लिए शङ्कर का दर्शन प्रबल अस्त्र बना। एक दृष्टि से यह ठीक है। हम पहले ही कह चुके हैं कि सारी ब्राह्मणवादी चेतना ने वर्ण व्यवस्था को कभी अस्वीकार नहीं किया परन्तु हमें शङ्कर के प्रचार में केवल अद्वैतवाद तथा मायावाद को ही नहीं समझना चाहिये। शङ्कर ने चार मठ, चार सम्प्रदाय, सात अखाड़े और बावन कुटियाँ देश मे स्थापित कीं। शङ्कर ने ही नागा लोगों का सङ्गठन बनाया था। मठों में जो धार्मिक वातावरण उपस्थित किया गया था उसमें राष्ट्रीय चरित्र की दृढ़ता, पौराणिक पद्धति पर देवताओं की उपासना, नाम, जप, पूजा व्रत, पर्व, तीर्थ आदि का प्रचार हुआ। शङ्कर का आदर इसलिए हुआ कि उन्होंने क्रान्तिकारी विचार-धारा रखने पर भी पथ भ्रष्ट हो जाने वाले वाममार्गियों के विरुद्ध एक राष्ट्रीय पैमाने पर आन्दोलन छेड़ दिया और जनता इसके स्वागत के लिए प्रस्तुत थी ही क्योंकि वह एकान्तिक, गुह्य साधनाओं पर चल नहीं सकती थी। इस समय अन्य किसी सम्प्रदाय के पास सामाजिक समस्याओं का हल न था। यदि कोइ क्रान्तिकारी सामाजिक दर्शन होता तो जनता पुनः वर्णाश्रमवादी ब्राह्मण संस्कृति को

शायद स्वीकर न करती परन्तु ऐसा न हुआ। साथ ही चतुर ब्राह्मण-वर्ग ने अपनी कड़ाई को कम कर दिया। अपने अधिकार सुरक्षित रखते हुए भक्ति-भाव आदि का अधिकार शूद्रों को दे दिया। इस उदार (Liberal) नीति ने जनता को पुनः ब्राह्मण संस्कृति की ओर उन्मुख कर दिया।

शङ्कर चतुर ब्राह्मण नेता था। उसने बुद्धिवादियों के सम्मुख तो अद्वैतवाद का सिद्धान्त रक्खा जो अत्यधिक सूक्ष्म परन्तु श्रुतिपरक था तथा आचारवादियों के सन्मुख व्यावहारिक स्मार्त मत रक्खा जिसे सर्व साधारण भी अपना सके। शङ्कर ने बुद्धिवादी मण्डन मिश्र जैसे अनेक तार्किकों को शास्त्रार्थ में हराया। उन्होंने वैदिक कर्म काण्ड जिसकी प्रतिक्रिया में श्रमण संस्कृतियाँ उठी थीं, मोक्ष के लिए व्यर्थ ही नहीं हानिकर बताया। मानों उपनिषद् युग ने कर्मकाण्ड-युग पर विजय की हो। उन्होंने अहिंसा को स्वीकार किया। यह 'शङ्कर' पर इतिहास की विजय थी, शङ्कर ने इसे स्वीकार किया। बौद्धों के हाथ से समाज का नेतृत्व छीन कर उन्होंने अपने हाथ में ले लिया। संन्यास धर्म को प्रशस्त किया गया और कर्मठ, त्यागी संन्यासियों से वही कार्य लिया गया जो बुद्ध ने भिक्षुओं से लिया था। इस प्रकार देश की मेधा पर शङ्कर की विजय होते ही आचारवादी स्वयं अनुयायी होते गये। जनता न तो जैनियों के कठोर आचारवाद को अपना सकती थी न बौद्धों के भ्रष्ट वाम-मार्ग को। वह व्यवहारिक दृष्टि से ही सही, एक ऐसी विचारधारा की खोज में थी, जिसमें कर्म, भक्ति व योग का तिरस्कार न हो। शङ्कर ने यही किया। इसीलिए सामान्य जनता, भक्ति व कर्म का मार्ग पकड़ कर चली और विचारों की उच्चता तथा सूक्ष्मता के लिए उसने समाज के उन लोगों को छोड़ दिया जिन्हें और कुछ काम न था।

बौद्ध धर्म के प्रसार के बाद से विशेषतः ब्राह्मणों का यह प्रयत्न रहा है कि धर्म का रूप ऐसा प्रसारित हो जिसमें अपना महत्व तो अक्षुण्ण रहे परन्तु न तो वेद-शास्त्रों की मर्यादा खण्डित हो न जनता के लिए उस मार्ग के अपनाने में कठिनाई हो। ब्राह्मणों ने इसके लिए पौराणिक धर्म का प्रवर्तन किया। जिसका विकास गुप्त साम्राज्य में अधिक हुआ। विष्णु व शिव की उपासना बड़े वेग से प्रचलित हुई।

उसमें समयानुकूलता तथा समन्वय की प्रवृत्ति अवश्य रहेगी, विशेषकर वैष्णव आचार्यों में यह प्रवृत्ति और खुलकर व्यक्त होती हुई दिखाई पड़ी। कवियों ने भी इसी प्रवृत्ति को ध्यान में रखा। तुलसी व सूर ने इस उदारता व समन्वय की भावना को कभी दृष्टि से ओझल नहीं होने दिया। यह ठीक है कि इस समन्वय में ब्राह्मण-धर्म ने अपना ढाँचा वेद पुराण-स्मृति मूलक ही रखा किन्तु उसकी रक्षा के लिए उसे अत्यधिक उदार बनना पड़ा और इसीलिए वह इतना जन-प्रिय होता गया। आगे वल्लभ आदि आचार्यों ने तो अपने सम्प्रदायों को और भी अधिक सरल कर दिया। वल्लभ के आराध्य कृष्ण मधुरवृत्तियों के आश्रय होने के कारण ही जनता-जनार्दन के प्रिय हो सके, हिन्दू, यवन, सभी उनकी छवि की छटा में अपने को भूल गये। यदि वल्लभ भी शङ्कर की तरह कोरे वाद-विवाद का पथ अपनाते तो जनता को क्या मिलता? किन्तु वैष्णव आचार्यों ने तर्क पद्धति से भक्ति का दार्शनिक आधार तो पुष्ट किया किन्तु साधना पद्धति तथा जीवन पद्धति में तर्क के स्थान पर हृदय-पद्धति को अधिक आश्रय दिया। शंकर के समय परिस्थिति कुछ भिन्न थी। शंकर को बौद्धों के द्वारा उठाये गये प्रश्नों के उत्तर देने थे। ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दी से ईसा के पश्चात् छठी शताब्दी तक बौद्धों ने जिन दार्शनिक धारणाओं का विकास किया था उनका खण्डन करके उपनिषद ज्ञान की प्रतिष्ठा करनी थी।

इस ज्ञान की प्रतिष्ठा में भी शङ्कर ने अपेक्षाकृत अधिक व्यावहारिकता से काम लिया। शङ्कर ने अपने भाष्य में विज्ञानवादियों का विस्तार से खण्डन किया है। विज्ञानवादी तो बाह्य पदार्थों की सत्ता को स्वीकार ही नहीं करते थे, केवल बाह्य पदार्थों को मन के प्रत्ययों का निक्षेप (projection मात्र मानते थे। यद्यपि शङ्कर का 'मायावाद' रामानुज के सिद्धान्त से कम सामाजिक था परन्तु 'विज्ञानवाद' तथा शून्यवाद की तुलना में 'मायावाद' निश्चित रूप से अधिक व्यवहारिक था। शङ्कर ने बौद्धों को ललकारा था कि बाह्यपदार्थों की सत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। घट, पट या स्तम्भ को प्रत्यक्ष करते हुए भी सत् न मानना वैसा ही होगा जैसे भोजन करते समय रसास्वादन से इनकार करना। इसी प्रकार शून्यवाद का खण्डन भी व्यावहारिक धरातल पर ही किया। नागार्जुन एक ध्वंसात्मक

दर्शन का प्रवर्तक था। उसकी निषेधात्मकता तथा विज्ञानवादियों की अव्यवहारिकता के विरुद्ध शङ्कर खड़े हुए थे। शङ्कर ने जगत की सत्ता को व्यावहारिक दृष्टि से सत्य मान कर दुःख से बचने के लिए अनेक विधान प्रचलित किये। उन्होंने अधिकारी भेद भी रक्खा। इस प्रकार बौद्धों की तुलना में वे अधिक व्यवहारवादी तथा रामानुज की तुलना में घोर आदर्शवादी दार्शनिक थे। यही कारण है कि ८ वीं शताब्दी में शंकर समाज का नेतृत्व कर सके।

———

भक्ति का विकास

भक्ती द्राविड़ ऊपजी, लाये रामानन्द ।
परगट किया कबीर ने, सप्तद्वीप नवखण्ड ॥

शाङ्कर वेदान्त द्वारा प्रतिपादित 'मायावाद' की प्रतिक्रिया में वैष्णव आचार्यों ने भक्ति-भावना का उपदेश दिया। रामानुज, निम्बार्क, मध्व, वल्लभ और चैतन्य ऐसे ही आचार्य थे। इनके यहाँ भक्ति के महत्व को शास्त्रीय आधार दिया गया। जन-परम्परा में भक्ति का स्रोत दक्षिण के आलवार सन्तों में इन आचार्यों के पूर्व ही फूट चुका था जिसे आचार्यों ने शास्त्रीय धाराओं में बहाया किन्तु आलवार सन्तों में भक्ति का स्रोत सहसा कहाँ से फूट पड़ा, यह प्रश्न भी विचारणीय है।

वैदिक युग में आर्य भौतिक वस्तुओं को दैवी शक्ति का प्रतीक मान कर उनकी प्रार्थना या उपासना करते थे। वेद-मन्त्रों में सूर्य, आदित्य, भग, इन्द्र, वरुण, द्यावा, पृथ्वी आदि की स्तुतियाँ की गई हैं। स्तुति करते समय उक्त प्रतीकों को वैदिक ऋषि विभिन्न रूप दिया करते थे तथा हृदय के सारे अनुराग को, भाषा की सारी शक्ति को, अनेक विशेषण देने में उँडेल देते थे। इन प्राकृतिक देवताओं के साथ ऋषि कभी-कभी स्वामी, सेवक, पिता, पुत्र, आराधक, आराध्य, शक्तिमान, शक्तिप्रार्थी आदि का लौकिक सम्बन्ध भी जोड़ लेते थे। ऋषियों के हृदय का सारा विश्वास, सारी श्रद्धा इन मन्त्रों में छलकती मिलती है। यज्ञ के समय आहूत इन देवों की स्तुतियों में वैष्णव-साधना के बीज मिलते हैं।

इस सम्बन्ध में प्रथम तत्व है वेदों के 'बहुदेववाद' को ठीक-ठीक समझ लेना। वैदिक युग में प्रकृति-देवता अनेक थे, परन्तु आगे

चल कर ऋषि 'एकत्ववाद' की ओर बढ़ते गये। "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं, यमं मातरिश्वानमाहुः" से भी इसी की पुष्टि होती है। मूलसत्ता एक है, उसी को अनेक प्रकार से कहा जाता है। इससे 'एकत्ववाद' सिद्ध होता है।

जब अनेक से एक की सिद्धि हो सकती है तो एक से अनेक की भी सिद्धि हो सकती है। वस्तुतः वैष्णव अवतार का बीज इसी भावना में है। अर्थात् एक ही शक्ति विभिन्न अवतारों में, विभिन्न देवों में अवतरित हो सकती है।❀

वैदिक स्तुतियों में दूसरा वैष्णव तत्व 'श्रद्धा' का है। यहाँ श्रद्धा व यज्ञ को एक माना गया है। कर्मकाण्ड के अतिरिक्त जिस समय ऋषि किसी देवता का वर्णन करता है तो उसके हृदय का सारा भाव साकार हो उठता है। वैदिक कवि अपने आराध्य की प्रशंसा करते नहीं थकता। उससे ऐहिक सुख समृद्धि की याचना करता है, शत्रु-विनाश की प्रार्थना करता है, उसे सृष्टि के पदार्थों का नियामक तथा सञ्चालक जान कर कृतज्ञता प्रकट करता है। श्रद्धा, विश्वास, दीनता, कृतज्ञता, आराध्य यश-वर्णन, अवलम्ब की खोज ये ही भक्ति के तत्व वैदिक मन्त्रों में सुरक्षित हैं।

यह तो भक्ति की मनोवैज्ञानिक भूमि है परन्तु क्या वेदों में भक्ति के अस्तित्व का कुछ ऐतिहासिक प्रमाण भी है?

वेद में 'भक्ति' शब्द 'प्रेम' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद में विष्णु आदित्य के रूप में उपस्थित माने जाते हैं। सूर्य का उदय, मध्याह्न तथा अस्त विष्णु के तीन पग माने गये हैं और कहा गया है कि विष्णु तीन पगों से तीनों लोकों को नापता है।× इनमें दो पग आकाश और पृथ्वी के दिखाई पड़ते हैं। तीसरा पग अदृश्य है, वह परमपद है। विद्वान उसी के दर्शन की कामना करते हैं।+ इस तीसरे पग की

❀ If these (Vedic) gods are one, one god may become Several. This led to the conception of incarnation. —डा० भण्डारकर (वै० शै०)

× त्रीणि पदानि चक्रमे विष्णु गोपा अदाभ्यः। ऋग्वेद १-२२-१८

+ तद्विष्णोः परमं पदं सदापश्यन्ति सूरयः। ऋग्वेद १-२२-२०

(परमपद) कल्पना में ही विष्णु के उस लोक की कल्पना कर ली गई जहाँ विष्णु का निवास है। भक्तों के लिये वही स्थान प्राप्य है।

वेद में विष्णु इन्द्र के सहायक हैं। ब्राह्मण युग में इन्द्र से विष्णु को अपनी लोक-पालकता के गुण के कारण अधिक महत्व मिल गया। वरुण पीछे पड़ गये। अब इन्द्र सहायक बन गये। आदित्य के एक अंश—'भग' को विष्णु के साथ मिला दिया गया, वे 'भगवान्' हो गये। भग १२ आदित्यों में से एक आदित्य थे अतः वैभव और तेज के वे प्रतीक रहे, विष्णु में प्रताप, वीरता तथा लोक पालकता रही। इन्हीं आदर्श गुणों के प्रतीक होने के कारण विष्णु व भगवान् की उपासना का क्षेत्र तैयार हुआ। इन्द्र के विशेषण हरि, केशव, वासुदेव, वृष्णी-पति, वृषण, वैकुण्ठ आदि थे वे विष्णु को मिल गये।❀

'नारायण' शब्द का प्रयोग भी वेद में मिल जाता है। नारायण की नाभि पर सृष्टि के अण्डे की कल्पना, उसका जल के ऊपर तैरना आदि संकेत वेद में ही हैं। (१०—८२। ५—६) नारायण के सम्बन्ध में शतपथ ब्राह्मण ने लिखा है कि वे यज्ञ करके सर्व व्यापी हो गये। उन्होंने देवताओं को अन्यत्र भेज दिया। इससे स्पष्ट है कि ब्राह्मण युग में 'विष्णु' व 'नारायण' एक ही शक्ति के दो नाम मान लिये गये थे। दोनों को सर्व व्यापी, सर्व नियामक तथा देवों में श्रेष्ठ ठहरा दिया गया था। वेदों में एक नारायण ऋषि भी हैं जिन्होंने 'पुरुष सूक्त' लिखा, शायद ऋषि का नाम ही 'ब्रह्म' के अर्थ में परिणत हो गया है।

इस प्रकार वैदिक साहित्य में विष्णु के अस्तित्व को तथा उनकी क्रमशः उन्नति,को हम देख सकते हैं। परन्तु वेद में जो वासुदेव, गोपी आदि नाम मिलते हैं उनके अर्थ वही नहीं हैं जो कृष्ण के सम्बन्ध में लगाये जासकें।

वैदिक युग मे विष्णु यज्ञ से तथा नारायण सृष्टि विकास से सम्बन्धित रहे, दोनों प्रायः भिन्न रहे पर ब्राह्मण काल में शायद वे एक भी माने गये।

❀ 'वैष्णव धर्म' पृष्ठ १४, परशुराम चतुर्वेदी।

ब्राह्मण काल के बाद 'सात्वत धर्म' का प्रचार हुआ। इसके आराध्य थे वासुदेव-कृष्ण। वासुदेव व कृष्ण भी भिन्न भिन्न देवता थे जो बाद में एक हो गये। यही नहीं, वासुदेव व कृष्ण को आगे नारायण व विष्णु से मिला दिया गया।

वासुदेव का नाम वैदिक युग के बाद आता है। तृतीय-आरण्यक में इनका नाम आया है। इसमें दो वासुदेव हैं—एक पिता, दूसरा पुत्र। गीता में ये वासुदेव, वृष्णि वंशी थे। जातकों में प्रयुक्त 'वासुदेव' मथुरा के पास के एक राजा थे। कौटिल्य ने भी अर्थ शास्त्र में 'वृष्णि संघ' का उल्लेख किया है।

महाभारत में वासुदेव 'संकर्षण' के अवतार हैं, नारायण के भी वे अवतार कहे गये हैं, डा० भण्डारकर ने इस वासुदेव चर्चा से यह निष्कर्ष निकाला है कि वासुदेव ही वैष्णव धर्म के प्रवर्तक थे। पाणिनि सूत्र ४-३-९८ में वासुदेव का नाम आया है। पतञ्जलि ने इन्हें कृष्ण का पिता नहीं माना है। बौद्ध-ग्रन्थ-'निद्देश' में (चौथी-शताब्दी पूर्वसा) वासुदेव-सम्प्रदाय का उल्लेख है।

महाभारत में सात्वत व वासुदेव को एक ही कहा गया है। डा० भण्डारकर के अनुसार 'सात्वत' शब्द 'वृष्णि वंशीय' का उपनाम था। इन्हीं सात्वतों में वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध हुये। सात्वतों में 'वासुदेव' की परमात्मा मानकर पूजा होती थी। भीष्म ने वासुदेव की पूजा पर जार दिया है।

'कृष्ण' वैदिक ऋषि का नाम है। (ऋग्वेद—अष्टम मंडल) ये आँगरिस गोत्र के थे। छान्दोग्य उपनिषद् के कृष्ण घोर आँगरिस के शिष्य थे। अनुमान किया जा सकता है कि वैदिक कृष्ण व उपनिषद् के कृष्ण जब दोनों एक ही गोत्र के है तो स्पष्ट है कि 'कृष्ण' उपनिषद् के युग तक ऋषि होते आये। आगे वासुदेव व कृष्ण जब एक हो गये तो कृष्ण को भी वासुदेव के वंश—वृष्णि वंश में मिला लिया गया। परन्तु वैदिक कृष्ण, उपनिषद् के कृष्ण, महाभारत के गोपाल कृष्ण क्या तीनों एक ही व्यक्ति थे? विद्वान इस विषय में एक मत नहीं हैं।

घोर आँगरिस की शिक्षाओं को कृष्ण ने गीता में सुरक्षित कर दिया। इसका प्रमाण यह है कि छांदोग्य व गीता की बहुत सी बातें

मिल जाती हैं। इससे अनुमान होता है कि कम से कम घोर आँगरिस के शिष्य कृष्ण व वासुदेव-कृष्ण (सात्वत धर्म) एक ही व्यक्ति थे तथा वासुदेव-कृष्ण व देवकी-पुत्र कृष्ण आगे चलकर एक मान लिये गये।

सात्वत धर्म के वासुदेव-कृष्ण को ही कंसारि कृष्ण मान लेने पर भी इतिहास कृष्ण के विषय में मौन रहता है पर निम्नलिखित प्रमाणों से कृष्ण-वासुदेव की प्राचीनता सिद्ध होती है—

१—दो शताब्दी पूर्वेसा का बेसनगर, ग्वालियर का हेलियोडोरा का शिला लेख जिसमें उसने अपने को 'परम भागवत' लिखा है। वासुदेव शब्द का भी इसमें उल्लेख है।

२—पतञ्जलि (२ शताब्दी पूर्वेसा) द्वारा 'कंस-वध' नाटक का उल्लेख।

३—मेगास्थनीज द्वारा यमुना, मथुरा, हरिकुल, सात्वत आदि शब्दों का उल्लेख (भण्डारकर)।

४—पाणिनि के सूत्रों में वासुदेव क्षत्रिय का उल्लेख।

५—जैन धर्म में कृष्ण २२ वें तीर्थङ्कर नेमिनाथ के समकालीन हैं। २३ वें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ हैं। अतः कृष्ण का समय इस दृष्टि से ८ वीं शताब्दी पूर्वेसा के आसपास होगा।

चिंतामणि विनायक तो कृष्ण का समय पूर्वेसा ३०७२ वर्ष मानते हैं। कतिपय योरोपीय विद्वान कृष्ण-भक्ति का विकास ईसा-मसीह के मत द्वारा प्रभावित मानते हैं। ग्रियर्सन भी यही कहते हैं, पर यह असत्य है।

उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध है कि कृष्ण एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे। ये क्षत्रिय थे। घोर आँगरिस के शिष्य थे। कंस को मारकर उन्होंने महाभारत के युद्ध में पाण्डवों की सहायता की थी। उन्होंने गुरु द्वारा दिये हुए ज्ञान का प्रचार किया। सात्वतों ने उन्हें वह्म मान लिया, आगे वे 'ब्रह्म' मान लिये गये। महाभारत काल में सब लोग उन्हें 'ईश्वर' न मानते थे। शिशुपाल गाली देता था और भीष्म सिर झुकाते थे। परन्तु आगे वे 'पुरुषोत्तम' स्वीकृत हो गये और पुराण उनकी भक्ति का प्रचार करते रहे।

श्रीकृष्ण का धर्म 'भागवत् धर्म' कहलाता है। उसे 'एकांतिक धर्म' भी कहते हैं। मेगास्थनीज के समय तक कृष्ण की पूजा उत्तरी भारत में होने लगी थी। नासिक के पास 'नानाघाट' के लेख से स्पष्ट है कि ईसा के जन्म के पूर्व ही कृष्णभक्ति का प्रचार दक्षिण में भी हो गया था। राजस्थान के 'घुसण्डी' के लेख से पश्चिम में भक्ति का प्रचार प्रमाणित हो चुका है पर पूर्व में प्रचार का प्रमाण नहीं मिलता। हो सकता है कि मध्यदेश के आसपास ही ब्राह्मण संस्कृति के गढ़ होने से कृष्णभक्ति का प्रचार हो गया हो और पूर्व में बौद्धों का केन्द्र होने से उसका इतना प्रचार न रहा हो। कृष्णभक्ति की प्रथम किरण 'गीता' के उपदेश के साथ फूट पड़ी। वर्तमान गीता बाद की वस्तु है परन्तु उस समय भी सांख्य व योग अलग-अलग दार्शनिक धारणायें थीं। कृष्ण ने सामञ्जस्य खोजने का प्रयत्न किया। कृष्ण ने सांख्य व कर्मयोग को विरोधी समझने वालों की निन्दा की है। सांख्य निवृत्ति प्रधान है, कर्मयोग प्रवृत्ति प्रधान। कृष्ण ने भक्तिमय निष्काम प्रवृत्ति पन्थ को महत्व दिया। कर्त्तव्य-बुद्धि से कर्म करते हुये भगवान् पर सब छोड़ दिया जाय। कर्मयोगी निर्द्वन्द्व रहे। भगवान् ही सब कुछ करता है, मनुष्य निमित्तमात्र है, भक्ति का इन्हीं धारणाओं से निर्माण हुआ। भक्तों के लिये भगवान् की शरण ही सर्वस्व मान ली गई। कर्म-ज्ञान का समुच्चय स्वीकार कर लिया गया। निवृत्ति पन्थ के अनुयायी इसका अर्थ निवृत्ति-प्रधान ही करते रहे और भक्ति को सहायक-मात्र मानते रहे। (देखिये शङ्कर का गीता भाष्य)। कृष्ण का यह भक्तिमय ज्ञान-कर्म समुच्चय या निष्काम भावना से कर्म करने का सिद्धान्त 'एकांतिक धर्म' कहलाया। इसका मुख्य सिद्धान्त यह है कि मनुष्य कर्म की पूर्ति में एक साधनमात्र है। भगवान् ही सब कुछ कराता है। ऐसी मनोवृत्ति से सर्वव्यापी ईश्वर में विश्वास दृढ़ होता है और सभी वस्तुओं को समदृष्टि से देखने का स्वभाव बन जाता है (भण्डारकर वै॰ शै॰)

हमने कृष्ण द्वारा प्रतिपादित एकांतिक धर्म की चर्चा की परन्तु प्रश्न यह है कि वासुदेव कृष्ण सात्वत क्षत्रियों के ईश्वर भी हो सकते हैं और उनका सम्बन्ध घोर आँगरिस के शिष्य कृष्ण से भी हो सकता है। परन्तु यह निश्चित नहीं होता कि इन 'कृष्ण' के साथ गोपी-वल्लभ, राधा-नागर कृष्ण का सम्बन्ध कैसे स्थापित हुआ ? क्या ब्रज-

विहारी कृष्ण तथा गीता के योगीश्वर कृष्ण एक ही थे ? निष्काम कर्मयोग के उपदेशक कृष्ण नन्दनन्दन कैसे बन गये ? यह प्रश्न भी हमारे सम्मुख है। डा० भाण्डारकर के अनुसार ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी तक 'गोपाल-कृष्ण' की चर्चा नहीं मिलती, परन्तु इसके बाद कृष्ण की प्रेम-लीला सम्बन्धी बहुत सा लोक-साहित्य गाथाओं तथा संस्कृत-ग्रन्थों में बिखरा हुआ मिलता है। डा० भाण्डारकर ने अनुमान लगाया है कि पूर्वैसा एकांतिकधर्म के प्रवर्तन तथा गोपालकृष्ण सम्बन्धी प्राप्त साहित्य के बीच कोई घटना अवश्य ऐसी घटित हुई होगी जिससे गीता के कृष्ण का सम्बन्ध गोपालकृष्ण से स्थापित हो गया। इस सन्धिकाल में डा० भाण्डारकर के अनुसार आभीर जाति का आगमन हुआ था। यह इतिहास से सिद्ध है कि मथुरा, काठियावाड़ के आस-पास यह जाति फैल चुकी थी। 'गोपालन' इस जाति का व्यवसाय था और प्रेम के क्षेत्र में आभीर युवक-युवतियों में हिन्दुओं के समाज से अधिक स्वतन्त्रता थी। इस जाति का आराध्यदेव भी एक बालक ही था जो गोचारण करता था। इसका सम्बन्ध बाद के युगों में 'कृष्ण' के साथ जोड़ दिया गया तथा विष्णु-पुराण, हरिवंश, ब्रह्म-वैवर्त तथा भागवत पुराणों ने गोपालकृष्ण के जन्म, लालन-पालन, गोचारण, प्रेम-विहार सम्बन्धी अनेक कथायें कल्पित करलीं।

वस्तुतः यह अनुमान युक्तिसङ्गत प्रतीत होने पर भी अनुमान ही है क्योंकि दक्षिण की 'अय्यर' जाति (मूलतः आभीर) ईसा के कई शताब्दी पूर्व दक्षिण देश में आ चुकी थी (वैष्णव धर्म पृष्ठ ४३) फिर वैदिक साहित्य में गोपा, दामोदर, गोविन्द आदि शब्द बराबर मिलते हैं। अतः न तो ईसाई विद्वानों के अनुसार कृष्ण के विकास पर ईसा-मसीह का प्रभाव पड़ा है न आभीर जाति के 'गोपालक' का सम्बन्ध कृष्ण के साथ जोड़ा गया है। जो हो, इस विषय में अभी इतना ही कहा जा सकता है कि गीता के कृष्ण के साथ जन-परम्पराओं ने गोपालक कृष्ण को भी मिला दिया और कृष्ण का आधुनिक रूप जहाँ महाभारत के राजनैतिक, योगीश्वर, विष्णु के अवतार, गीता के उपदेशक कृष्ण के रूप में मिलता है वहीं वे गोपालक, गोपी-जन-वल्लभ, भी चित्रित हैं। स्वयं महाभारत में दोनों रूप मिलते हैं।

नन्द-नन्दन कृष्ण कंसबध कर के जरासन्ध आदि अनार्य

नरेशों को नष्ट कर चक्रवर्ती राज्य की स्थापना का प्रयत्न किया, यह महाभारत से ही सिद्ध है। परन्तु महाभारत एक युग की वस्तु नहीं है। वह एक लम्बी अवधि में प्रस्तुत किया गया विश्व-कोष है अतः यही कहा जा सकता है कि आज छान्दोग्य उपनिषद, महाभारत, पुराणों तथा वैष्णव कवियों के द्वारा आराध्य कृष्ण नामक कई अलग अलग व्यक्ति एक ही माने जाते हैं, इस विषय में भारतीय मस्तिष्क में शङ्का ही उत्पन्न नहीं होती कि ये तीनों कृष्ण भिन्न-भिन्न थे जो धीरे-धीरे एक मान लिये गये।

गीता के सात्वत, भागवत या एकांतिक धर्म का विकसित रूप पाँचरात्र मत था। यह भी पूर्वसा तीसरी शताब्दी में प्रचलित था। पाँच-रात्र मत मूलतः एक सुधारक भक्ति-सम्प्रदाय था और भक्ति सम्प्रदाय तो सर्वदा से ही सुधारक रहे हैं। इनकी उदारता प्रशंसनीय है। ये अपनी नम्रता, मनोवृत्ति की तन्मयता तथा दैवी गुणों के अभ्यास से प्राप्त अनहंकारमय जीवन-दृष्टि से समाज को उच्च आदर्शों की ओर ले जाते रहे हैं। इस मत ने सर्वदा व्यावहारिक समता को जीवन में उतारा है। गीता में भी स्त्री व शूद्रों को भक्ति का अधिकार दिया गया है, यद्यपि ब्राह्मणों व क्षत्रियों को बड़ा बताया गया है। गीता में वर्णों को गुण, कर्म व स्वभाव के अनुसार बताया गया है और यद्यपि प्रत्येक वर्ण के कर्म निश्चित कर दिये गये हैं, तथापि सबमें 'समत्व बुद्धि' रखकर ही व्यवहार करने की शिक्षा दी गई है। भक्ति के उपदेश के साथ गीता का अन्त होता है। सर्व साधारण जन भी अपना सर्वस्व भगवान पर अर्पण करने की भावना विकसित कर अपने को निमित्त मात्र जानकर कर्म करने का अभ्यास कर सकते हैं। इस प्रकार भक्ति-मार्ग मूलतः मानवता-वादी आन्दोलन है। इसी आन्दोलन के प्रवर्तक कृष्ण थे, इसलिये कृष्ण को सबसे बड़ा अवतार माना गया है और भारतवर्ष में कृष्ण पूजा का रामपूजा से भी अधिक प्रचार है।

इसी कृष्ण के द्वारा उपदेशित भक्ति मार्ग (एकांतिक धर्म) का विकास 'पाँचरात्र मत' में दिखाई पड़ा। पाँचरात्र मत' का वही महत्व है जो बौद्ध मत का। पाँचरात्रों ने जैनियों व बौद्धों की तरह ही यज्ञ-हिंसा की निन्दा की है। यह आस्तिक वैदिक मत था, अतः क्रांतिकारी सुधारकों, बौद्धों, जैनियों के आगे वह उतना

ऐतिहासिक महत्व नहीं पा सका परन्तु इसने कम कार्य नहीं किया। ८ वीं शताब्दी तक किसी न किसी रूप में प्रचलित रह कर इसका रामानुज के समय में पुनः अभ्युदय हुआ। किन्तु यह इसकी अन्तिम चमक थी। मध्वाचार्य तथा उनके बाद यह मत वैष्णव धर्म में विलीन हो गया। २०० वर्ष पूर्वेसा से लेकर ११ वीं शताब्दी तक जनता में इसने वासुदेव भक्ति का प्रचार किया। आड़वार सन्तों व रामानुजीय भक्तों ने पाँचरात्रों को वेद की तरह प्रामाणिक माना है। इस मत के सिद्धान्त संक्षेप में इस प्रकार हैं :—

पांचरात्र मत—पांचरात्र को आगम या वैष्णव तन्त्र कहा गया है। आगम तीन प्रकार के हैं—(१) वैष्णवागम या पांचरात्र, (२) शैवागम, (३) शाक्तागम।

नारद ने श्वेतद्वीप में जाकर नारायण ऋषि से पांचरात्रमत की शिक्षा ली थी। इस सम्प्रदाय के अनुसार इसे वेद का ही अंश माना गया है। प्रचारकों में नारद, शांडिल्य, भारद्वाज तथा कौशक ऋषियों के नाम लिये जाते हैं। यह बहुत प्राचीन माना जाता है। इसको भागवत या सात्वत धर्म भी कहते हैं।

इस मत की संहिताओं में ज्ञान, योग, क्रिया तथा चर्या का वर्णन है। 'क्रिया' में मन्दिरों का निर्माण, मूर्ति स्थापना की विधि वर्णित है, 'चर्या' में पूजा-विधि बतलाई गई है। इसी का वर्णन सबसे अधिक है। ज्ञान व योग का वर्णन कम है। अतः यह मत चर्या तथा क्रिया प्रधान है।

ब्रह्म—अनादि, अनन्त, सर्वव्यापी, निर्गुण है। छः गुणों की प्रधानता से 'भगवान' तथा व्यापक होने से 'वासुदेव' है। अर्थात् ब्रह्म सगुण भी हैं और निर्गुण भी। ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, बल, वीर्य तथा तेज ये छः गुण हैं। ज्ञान ब्रह्म का गुण भी है और शक्ति भी। शक्ति से तात्पर्य यह है कि ब्रह्म जगत का उपादान कारण है। अनायास जगत की रचना के कारण ही 'बल' नामक गुण कहा गया है। जगत रचना की शक्ति ही ऐश्वर्य है। अविकारी होने से भगवान वीर्यवान है।

शक्तियाँ—भगवान की शक्ति लक्ष्मी है, दोनों का सम्बन्ध अद्वैत नहीं, द्वैत परक है। प्रलयकाल में भी ये भिन्न रहते हैं परन्तु

नितान्त भिन्न भी नहीं रहते। आतप व सूर्य की तरह द्वैताद्वैत भाव हीं रहता है। लक्ष्मी के सृष्टिकाल में दो रूप होते हैं—(१) क्रियाशक्ति (२) भूतशक्ति। इनके अभाव में भगवान निर्विकार है। तरङ्ग की तरह लक्ष्मी भगवान से पृथक होकर सृष्टि रचती है। यह 'शुद्ध सृष्टि' भी कहलाती है।

रूप—भगवान के चार रूप हैं व्यूह, विभव, अर्चावतार तथा अन्तर्यामी अवतार। छः गुणों में से दो दो गुण मिलकर व्यूह बनाते हैं यथा 'संकर्षण' में ज्ञान+बल रहता है, प्रद्युम्न में ऐश्वर्य+वीर्य तथा अनिरुद्ध में शक्ति+तेज रहता है। संकर्षण का कार्य सृष्टि है। प्रद्युम्न 'क्रिया' की शिक्षा देते हैं, अनिरुद्ध मोक्ष का तत्व समझाते हैं। चारों व्यूहों में १६ सद्गुण रहते हैं। संकर्षण, *प्रद्युम्न, अनिरुद्ध तथा वासुदेव यही चतुर्व्यूह हैं। शङ्कर के अनुसार* वासुदेव से सङ्कर्षण (जीव) की उत्पत्ति होती है, सङ्कर्षण से प्रद्युम्न (मन) की तथा उनसे अनिरुद्ध (अहङ्कार) की। यह व्यूह-सिद्धान्त पाँचरात्रं मत की प्रमुख विशेषता है। शङ्कर ने ब्रह्मसूत्र के भाष्य में इस मत का खण्डन किया है।

विभव—व्यूह के बाद भगवान का रूप 'विभव' है। विभव का अर्थ अवतार है। ये ३६ हैं। ध्रुव, मधुसूदन, कपिल, त्रिविक्रम आदि विभव हैं।

अन्तर्यामी—यह ब्रह्म का सर्व व्यापक रूप है। वाराह, वामन, भार्गव राम, दाशरथी राम और कृष्ण ये अवतार है। आगे हंस, कूर्म, मत्स्य एवं कल्कि ये भी नाम जोड़ कर संख्या १० करदी गई है। यह शुद्ध सृष्टि का विवेचन हुआ।

अशुद्ध सृष्टि:—प्रद्युम्न—कूटस्थ पुरुष—मायाशक्ति—नियति—काल—सत्वगुण—तमोगुण—बुद्धि— अहङ्कार — वैकारिक, तैजस, भूतादि। वैकारिक से बुद्धि, इन्द्रिय तथा मन उत्पन्न होते हैं। भूतादि (तामस) से पञ्चतन्मात्रा तथा उनसे स्थूलभूत उत्पन्न होते हैं। स्पष्टतः पाञ्चरात्र मत में सांख्य की सृष्टि प्रक्रिया स्वीकार की गई है। सांख्य की सृष्टि प्रक्रिया इस प्रकार है—

इस प्रकार सांख्य में कुल २५ पदार्थ माने जाते हैं। पाञ्चरात्रों में सांख्य व वेदान्त को मिलाया गया है, यथा 'माया' को भी स्वीकार कर लिया है और साथ ही गुणों से सृष्टि बतलाई है। सांख्य ने बुद्धि व अहङ्कार को मुख्यता दी है। पाँचरात्र में इसकी उत्पत्ति गुणों से बतलाई गई है। क्रमविपर्यय के सिवा प्रायः दोनों में समता है। पाँचरात्र के अनुसार प्रकृति पुरुष के आश्रित होकर कार्य करती है, सांख्य में प्रकृति स्वतन्त्र है।

जीव—जगत वासुदेव का क्रीड़ा-विलास है। भगवान् की इच्छा शक्ति ही सुदर्शन है। यह उत्पत्ति, स्थिति, विनाश, निग्रह, अनुग्रह, पाँच शक्तियों की समष्टि मात्र है। यह सृष्टिकाल में जीव से भगवान् की तिरोधान शक्ति, जीव का विभुत्व, सर्वशक्तिमत्ता तथा ज्ञान को छीन लेती है। अतः अज्ञ जीव योनियों में घूमता है। जीव के दुःखों को देखकर भगवान् के हृदय में 'दया' उत्पन्न होती है। जीव को वे ज्ञान देकर कर्मों का नाश कर देते हैं अतः उसे मुक्ति मिल जाती है।

साधन—मन्दिर बनाना, मूर्तिपूजन मुख्य है। योग भी सहायक है परन्तु प्रमुखता भक्ति की है। भगवान् की 'अनुग्रह शक्ति' को इसीसे प्राप्त किया जा सकता है। 'शरणागति' श्रेष्ठ उपाय है। यह शरणागति ६ प्रकार की है—

१—भगवान् की अनुकूलता के प्रति कृत-संकल्प होना, २—भग-

ज्ञान के विरुद्ध न होना। ३—'भगवान द्वारा रक्षा होगी' ऐसा विश्वास। ४—भगवान रक्षक हैं। ५—आत्म समर्पण। ६—दीनता। भक्त को 'पञ्च कालज्ञ' भी कहते हैं क्योंकि उसमें ये पाँच बातें रहती हैं—क—जप ध्यान, पूजा द्वारा भगवान के उन्मुख होना। ख—उपादान, पुष्प, फलादि का पूजा के लिये संग्रह। ग—यज्ञादि। घ—अध्याय-अध्ययन, मनन, उपदेश। ङ—योग—यौगिक क्रियायें करना।

मुक्ति ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाना ही मोक्ष है। सरिता-समुद्र की एकता के समान दोनों एक हो जाते हैं। शुद्ध सृष्टि से उत्पन्न वैकुण्ठ में जीव भगवान के साथ विहार करते हैं, वहीं अन्य नित्य जीव गरुड़ आदि भी मिलते हैं। जीव अणु रूप है। उसका ब्रह्म के साथ भेद भी है और अभेद भी। पाँचरात्रमत 'मायावाद' को नहीं मानता, 'परिणाम वाद' को मानता है। रामानुज का दर्शन पाँचरात्रमत का ही एक विकसित रूप है। आगे वैकुण्ठ की कल्पना, वल्लभ व चैतन्य में 'गोलोक' की कल्पना में बदल गई है। वस्तुतः आगे के वैष्णव आचार्यों ने अपनी पूजा पद्धति, तथा क्रिया काण्ड के लिये, पाँचरात्र दर्शन से बड़ी सहायता ली है। परन्तु उसका 'व्यूह-वाद' हमें रामानुज के बाद नहीं मिलता। भक्ति के विकास में पाँचरात्रमत, गीता के बाद द्वितीय प्रकाशस्तम्भ है, जिसमें योग व सांख्य का गीता की तरह ही समन्वय कर लिया गया है। भक्ति को प्रमुखता दी गई है। आगे चलकर प्रद्युम्न व अनिरुद्ध आदि के प्रतीकात्मक अर्थ लुप्त हो गये परन्तु मन्दिर निर्माण, मूर्ति पूजा, पूजा-पद्धति वैकुण्ठ-कल्पना का बराबर विकास होता रहा है।

पाँचरात्रमत के अतिरिक्त विकास के क्रम में वैखानस सम्प्रदाय का भी उल्लेख होता है। वैखानस गृहस्थ सूत्र बहुत प्रसिद्ध हैं। वैखानस लोग दार्शनिक कम, आचारवादी अधिक थे। विष्णु आराध्यदेव हैं, जप की महत्ता है। मन्दिर के विभिन्न अङ्गों का निर्माण, मूर्तियों की विशेषता, अर्चना, बलि आदि आचरणों का इस मत में बाहुल्य है। जप, हुत, ध्यान व अर्चना से भगवान प्रसन्न हो जाते हैं। सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, तथा सायुज्य मुक्ति के नाम गिनाये गये हैं।

इस प्रकार आड़वार भक्तों के पूर्व ही मतों का प्रचार हो गया था।

अतः आगे के विकास के लिये पाँचरात्रमत पुष्ट धरातल का काम कर रहा था। इस प्रकार वैष्णव धर्म का विकास हुआ। अब प्रश्न यह है कि वैष्णव मत में बालगोपाल, कृष्ण, राम आदि की उपासना कैसे चल पड़ी। राम व कृष्ण की उपासना के सम्बन्ध में इतना स्मरण रहना चाहिये कि पहले वैष्णव आचार्यों तथा आड़वार सन्तों में भी हरि, विष्णु, नारायण की ही उपासना चली, यथा रामानुज लक्ष्मीनारायण के उपासक थे। पाँचरात्र मत में राम व कृष्ण को अवतार अवश्य गिना गया है पर विष्णु तथा नारायण की भक्ति पर ही जोर दिया गया है प्रायः यह प्रवृत्ति सर्वदा स्पष्ट रही है कि सभी अवतारों को एक ही शक्ति का अंश मान कर भी किसी न किसी एक अवतार को अधिक महत्व दिया जाता है यथा भागवत में कृष्ण को, देवी भागवत में 'दुर्गा' को। इसी प्रकार रामानुज ने भी लक्ष्मी नारायण की उपासना पर जोर दिया था। मध्वाचार्य भी हरि या विष्णु के ही उपासक थे न कि राम या कृष्ण के। किन्तु मध्य काल के वैष्णव-धर्म के अग्रदूत निम्बार्क व रामानन्द हैं। निम्बार्क व विष्णुस्वामी ने कृष्ण की उपासना को ध्येय बनाया। निम्बार्क ने राधा व कृष्ण को लिया, विष्णु स्वामी ने 'गोपाल-कृष्ण' को। आगे चैतन्य मत में निम्बार्क के ही आराध्य स्वीकृत किये गये और वल्लभ मत में विष्णु स्वामी के। रामानन्द ने रामानुज की परम्परा में लक्ष्मी-नारायण के स्थान पर 'सीता-राम' की उपासना प्रचलित की।

कृष्ण की उपासना तथा वैष्णव मत का विकास थोड़े या बहुत अंशों में हम बहुत प्राचीन समय से ही पा जाते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् तक में कृष्ण विद्यमान हैं, यह बात दूसरी है कि वे देवकी पुत्र कृष्ण न हों। इन दोनों का मेल तो कालान्तर में ही हुआ। 'राम' की उपासना इतनी भी प्राचीन नहीं दिखाई पड़ती। 'राम' शब्द, बलराम, परशुराम शब्दों में भी प्राप्त होता है। परशुराम को तो राम कहने की परम्परा रही है। कृष्ण की तरह पाणिनि भी राम की उपासना के (ई० पूर्व ४०० के आसपास) साक्षी हैं। "धनपति, राम तथा केशव के मन्दिरों में, बनाये गये वाद्ययंत्रों की ध्वनि सुनाई पड़ती है" भण्डारकर के अनुसार यहाँ 'राम' शब्द का भिन्न भिन्न अर्थों में प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में खोजने पर दशरथ, सीता, इक्ष्वाकु शब्द भी मिल

जाते हैं पर उनसे प्रसिद्ध दशरथ राजा या राम की पत्नी सीता आदि का तात्पर्य नहीं निकलता।

महाभारत में सर्वप्रथम दाशरथि राम का उल्लेख मिलता है। —वाल्मीकि रामायण में वे वर्णित हैं पर एक महापुरुष के रूप में। भगवान् के रूप वाले स्थल बाद के हैं। डा० जैकाबी के अनुसार वैदिक देवता इन्द्र से ही बलराम व दाशरथि राम का विकास हुआ है क्योंकि ये दोनों इन्द्र के समान ही वीर, धीर माने गये हैं।

जैनों व बौद्धों ने भी 'रामकथा' को अपनाया है। राम की प्रसिद्धि देख कर तथा लोक-जीवन पर उनका प्रभाव देखकर ही उन्हें भी विष्णु का अवतार बना लिया गया जिस प्रकार 'राम' व 'कृष्ण' को जैनियों ने अपना लिया है।

यह उसी प्रकार हुआ होगा जैसे 'शिवाजी' को शिवजी का अवतार मान लिया गया था। और गान्धी को लोग उनके रोकने पर भी बड़ी 'श्रद्धा' से भगवान् मानने का विचार करते हैं। उनके साथ चमत्कार भी वैसे ही जुड़ते जा रहे हैं कि उनमें कोई अलौकिक शक्ति थी जैसा कि राम व कृष्ण के सम्बन्ध में हुआ है। वीर-पूजा की भावना अन्धविश्वास के साथ मिल कर अकर्मण्य लोगों में ऐसी अनेक रचनायें कराती रहती है।

राम एक वीर राजा, विजेता और त्यागी भाई थे। वे न कृष्ण की भाँति इतने मेधावी थे कि गीता का उपदेश देते, न इतने उदार कि रावणादि के वध करने का कष्ट बिना अपनी पत्नी के अपहरण के भी उठाते। राम की महत्ता मर्यादा, त्याग, व परिवार के उच्च आदर्शों की रक्षा करने के कारण स्थापित होती गई। राम एक प्रतापी राजा के रूप में दिखाई पड़ते हैं जबकि कृष्ण भटकते हैं। इन सब कारणों से 'राम' को विष्णु मान लिया गया और पीछे से उनकी कथा को ऐसा रूप दे दिया गया कि बालि-बध, विभीषण-सहायता, सीता-त्याग जैसे प्रसङ्गों के विषय में भी समर्थ होने की बात कह कर उनकी दुर्बलता की ओर ध्यान नहीं दिया गया। राम परिवार में सद्भावना रखने, सन्तुलित मर्यादित जीवन बिताने के आदर्श रूप में स्वीकृत हो गये और पति, पिता, भाई, राजा, विजेता, आदि प्रत्येक रूप में राम

को आदर्श बना दिया गया। भारतीय जनता को राम का यह रूप जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रेरणादायक सिद्ध हुआ। राघवाचार्य, रामानन्द तथा तुलसी ने उनके साथ लोक-जीवन की अपार श्रद्धा जोड़ दी। कृष्ण के चरित्र में जो गोपी-प्रेम आदि की दुर्बलता थी उससे रहित होने के कारण राम अब समाज के लिये अधिक कल्याणमय जान पड़े। तभी तो तुलसी ने मुग़लों के समय में भी नाचने गाने वाले कृष्ण को सिर झुकाने के लिये इन्कार कर दिया था। राष्ट्र-कवि, राष्ट्र-रक्षक तेजस्वी 'राम' के रूप को देखना चाहता था—

"तुलसी मस्तक तब नवै, धनुष बान लेउ हाथ।"

राम के उदात्त चरित्र व अलौकिक त्याग की भावना के कारण बौद्धों ने उन्हें बोधिसत्व बनाया। जैनियों ने उन्हें आठवें 'बलदेव' के रूप में मान लिया। राम को शिशुपाल की तरह न तो कहीं गालियाँ खानी पड़ीं न अपने ईश्वरत्व की स्थापना के लिये कृष्ण की तरह भागना दौड़ना पड़ा। पञ्जाब से आये आर्यों का जो क़बीला 'मध्यदेश' में आकर बसा था उसके क्षेत्र को दक्षिण तक विस्तृत करने और शायद देश के आर्येतर शत्रुओं के वध के कारण उन्हें स्वभावतः महत्व मिलता गया पर यह ईश्वरत्व बाद में ही मिला, क्योंकि वाल्मीकि रामायण में जिन ऋषियों के स्वयं राम पैर छूते हैं, अध्यात्म रामायण में वे ऋषि राम के पैर छूने लगते हैं। यथा वाल्मीकि रामायण में शरभंग के चरण स्पर्श करते हुये राम को दिखाया गया है किन्तु शरभंग 'अध्यात्म रामायण' में 'राम' को दैवी-अतिथि के रूप में पूजते हैं। तुलसी रामायण में तो वे आपे से बाहर हो जाते हैं। महान् 'अगस्त' के आगे वाल्मीकि-रामायण के 'राम' एक विजेता के रूप में ही दिखाये गये हैं। परन्तु 'अध्यात्म रामायण' व 'रामचरितमानस' में 'राम' अचिन्त्य, अनन्त ब्रह्म बन गये हैं जिनका बड़े-बड़े ऋषि मुनि पार नहीं पाते। अतः राम की पूजा विस्तार से कराई जाती है।

डा० भाण्डारकर के अनुसार राम की उपासना का सामूहिक प्रचार ११ वीं शताब्दी के बाद से ही चला परन्तु आड़वार सन्तों में एक सन्त राजा कुलशेखर यहाँ तक रामोपासना में बढ़ गये थे कि उन्होंने खर-दूषण-युद्ध का वर्णन पढ़ते-पढ़ते अपनी सेनायें राम की सहायता के लिये सजवा दीं थीं। सीता-उद्धार के लिये दूसरी बार यही राजा

समुद्र में कूदते-कूदते बचे। भावावेश की यह चरम सीमा है फिर कैसे कहा जा सकता है कि १० वीं शताब्दी के पूर्व रामोपासना नहीं थी ? पर हाँ सामूहिक प्रचार शायद न था।

वस्तुतः रामभक्ति का प्रचार 'रामानन्द' ने किया। अध्यात्म-रामायण भी इसी सम्प्रदाय में लिखी गई। आगे 'तुलसीदास' ने राम-को अद्भुत महत्व देकर रामभक्ति का प्रचार कर 'राम' शब्द को जनता का कण्ठहार बना दिया।

कृष्ण-भक्तों ने जहाँ अन्य देवी-देवताओं को कोई महत्व नहीं दिया वहाँ तुलसीदास ने प्राचीन स्मार्त मत जिसमें पंचदेवोपासना थी, स्वीकार कर लिया। वस्तुतः गणपति, गौरी आदि अलग-अलग स्रोतों से आकर स्मार्तमत में मिल गये।

विशिष्टाद्वैतवाद

शङ्कर ने ब्राह्मण संस्कृति का पुनरुद्धार किया यह तो बाद में विचारकों के लिये प्रशंसनीय कार्य रहा होगा परन्तु उनके 'मायावाद' के विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया उत्पन्न होने लगी, अनेक प्रश्न उत्पन्न हुये। साथ ही जनता के अनुसार विचारधारा को सरल करने तथा समाज के अभिशापित अङ्गों को अधिकाधिक सुविधा देने की प्रवृत्ति बढ़ रही थी। वाममार्ग, वज्रयान, सहजयान के समानान्तर जहाँ एक ओर नाथ पन्थ खड़ा हो गया था, जहाँ उपनिषदों के आत्मवादी सिद्धान्तों पर आधारित ज्ञानकाण्डी संन्यासी धर्म बढ़ रहा था, वहाँ भक्ति का प्रवाह भी उठ खड़ा हुआ था। यह शुद्ध जनता का आन्दोलन था और ईसा के पूर्व से ही उठ खड़ा हुआ था। यह एक प्रकार से मानवतावादी आन्दोलन था। इसमें संसार के सारे भेदों, उपभेदों, वर्णों, वर्गों, जातियों, आदि से उत्पन्न विषमता को नष्ट करने का प्रयत्न था। समाज में एक साथ भ्रातृभाव उत्पन्न करने, मानवमात्र को हरिभक्ति का अधिकार देने, शूद्र से लेकर ब्राह्मण तक प्रत्येक को सांसारिक दुःखों से मुक्ति दिलाने के प्रयत्न के लिये यह आन्दोलन खड़ा हुआ था। इसमें कटुता और घृणा न थी। हृदय की कोमल वृत्तियाँ भगवान को अर्पित कर नाम, जप, पूजा, कीर्तन आदि से आराध्य को रिझाने की प्रवृत्ति थी। वह आन्दोलन पहले दक्षिण में उठा जिसके नेता आड़वार सन्त थे। वैसे राम व कृष्ण की पूजा तो महाभारत काल से ही चली आ रही है।

भक्ति का विकास—ग्रीक राजा एण्टियालकिदाय का राजदूत हिलीयोडोर भागवत धर्म का अनुयायी था। बेसनगर के शिलालेख से स्पष्ट है कि ईसवी सन् के २०० वर्ष पूर्व हिलीयोडोर ने वासुदेव की

प्रतिष्ठा में विष्णुध्वज स्तम्भ बनवाया था।[1] इस स्तम्भ पर लिखा है "परम भागवतो हिलीयोडोर:"। वेसनगर (ग्वालियर) से भी पूर्व घुसण्डी के शिलालेख से स्पष्ट है कि पूर्वेसा २०० वर्ष के भी वहुत पहले से वासुदेव की पूजा होती आ रही थी। पाणिनि का समय पूर्वेसा ४०० वर्ष है, उनके सूत्र ४-३-९५ से स्पष्ट है कि तब वासुदेव की पूजा होती थी।[2] दक्षिण के आड़वार सन्त जिनका समय ७ वीं शताब्दी से ६ वीं शताब्दी है, वासुदेव के भक्त थे, यहाँ तक वासुदेव शब्द विष्णु का पर्यायवाची रहा। महाभारत में अवश्य वासुदेव का अर्थ कृष्ण लिया गया है। दक्षिण के 'आड़वार' सन्तों ने ७ वीं शताब्दी में जनता को प्रेम-रस से लिपटे ललित पद्यों से आत्म-विभोर कर दिया था आड़वार शब्द का तमिल भाषा में अर्थ होता है "अध्यात्म ज्ञान रूपी समुद्र में गहरा गोता लगाने वाला"। ये आड़वार सन्त अधिकतर निम्न जातियों के व्यक्ति थे। दक्षिण में जाति, पाँति, वर्ण, अवर्ण का भेद भाव अधिक रहा है अतः जाति पांति के विरुद्ध सबसे प्रथम विद्रोह वहीं से प्रारम्भ हुआ। आड़वार सन्त ऐसे ही विद्रोही कवि थे परन्तु उनका विद्रोह कबीर जैसी अक्खड़ता से भरा हुआ न था। आड़वार सन्त नम्रता, उदारता, शील और शिष्टता के अवतार थे। भगवान नारायण की उपासना में तल्लीन रह कर मानव मात्र को उनकी भक्ति का अधिकार देकर दुःख से जनता का उद्धार ही उनका प्रयत्न था। नम्मालवार (शठकोपाचार्य) निम्न जाति—अछूत जाति के थे। तिरुमंगै डाकू थे, जो लूट के धन से मन्दिर बनवाते थे। अन्दाल नामक भक्तिन एक नीच जाति की स्त्री थी, परन्तु आड़वारों ने अपनी भक्ति-विभोरता से जनता का हृदय आकर्षित कर लिया था कि किस प्रकार निम्न से निम्न जाति का व्यक्ति भी भगवान का भक्त बन सकता है। आड़वार १२ माने जाते हैं। इनका वैष्णव समाज में आज भी आदर है। भक्ति की धारा भगीरथी के समान सर्वसाधारण के लिये वह निकली थी। इनके ग्रन्थ वेदों के समान आदृत हैं। इन सन्तों में गुरुभक्ति का भी अत्यधिक महत्व था, इन भक्तों का प्रभाव इतना अधिक बढ़ गया था कि मालावार प्रान्त का

---

१ विश्वधर्म दर्शन—पृष्ठ २७८

२ वही

'कुलशेखर' राजा अपना राज छोड़कर भक्त बन गया था। अन्दाल भारत की सर्व प्रथम 'मीरा' थी जो कृष्ण के प्रेम में निमग्न रहती थी, गोपी प्रेम का वह प्रतीक थी। श्रीरंगम के रङ्गनाथजी को वह अपना पति मानती थी। तिरुमंगैया डाकू के द्वारा निर्मित ६ पद्य-ग्रन्थ तमिल भाषा के वेदाङ्ग माने जाते हैं। भक्ति का यह प्रवाह जन साधारण के हाथ में था परन्तु संस्कृतज्ञ विद्वानों को भी इस जन-चेतना ने प्रभावित किया। वे इस भक्ति-आन्दोलन की शक्ति को समझ चुके थे। अब जनता को भगवान की भक्ति से दूर रखना कठिन था। संस्कृतज्ञ विद्वान् 'आचार्य' कहलाते थे। इन आचार्यों ने जनता के इस भक्ति आन्दोलन को शास्त्रीय आधार देकर उसे अपना लिया और उन रूढ़िवादी आचार्यों, धर्मगुरुओं की चिंता नहीं की जो अब तक उसी युग की रीतियों को मानते आ रहे थे जबकि 'श्रुति' का शब्द शूद्र के कान में पड़ जाने पर उसके कान में पिघला हुआ शीशा डाल दिया जाता था। बौद्धों व जैनियों के प्रयत्न से जनता जग चुकी थी, उसमें समानता की भावनायें घर कर चुकीं थीं। पौराणिक देवी-देवताओं की भक्ति के प्रचार-द्वारा ब्राह्मणों ने भी इस 'समता' पर मुहर लगादी थी कि भगवान की भक्ति से नीच जनों का भी उद्धार हो सकता है। 'आड़वार' सन्तों का आन्दोलन नारायण की भक्ति पर आधारित था, पीछे से ऐसे 'आचार्य' आये जिन्होंने इस जन-आन्दोलन को स्वीकार कर भक्ति की शास्त्रीय व्याख्या की, उसे विद्वज्जनों में गृहीत और आदृत कराने के लिये प्रयत्न किया। ऐसे ही आचार्यों में प्रमुख थे 'रामानुजाचार्य' जिनका समय था १०३७–११३७ ई०। रामानुज विशिष्टाद्वैतमत के प्रवर्तक थे जो शंकर के मायावाद की प्रतिक्रिया में खड़ा हुआ था। समाज आगे बढ़ चुका था उसे पीछे लौटाना सम्भव नहीं था अतः 'रामानुज' ने धर्म का सरलीकरण कर उसे सर्व साधारण के योग्य बनाया परन्तु दक्षिण में भेदभाव इतना अधिक था कि उस समय अधिक स्वतन्त्रता देना असम्भव था अतः उन्होंने शूद्रों को भक्ति का अधिकार तो दिया परन्तु उन्हें शास्त्र पढ़ने की आज्ञा नहीं दी। इतना भी बहुत था।

रामानुज श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे। ग्यारहवीं शताब्दी में संस्कृतज्ञ आचार्यों ने आड़वारों की भक्ति के साथ वेद-प्रतिपादित

-ज्ञान व कर्म का समन्वय कर दिखाया, रामानुज की यही महानता थी। सन्तों के तमिल वेद के सिद्धान्तों का सामञ्जस्य संस्कृत के वेदों के ज्ञान से कर दिखाया गया इसी कारण ये रामानुज आदि वैष्णव आचार्य 'उभय वेदान्ती' कहलाते हैं। रामानुज ने 'प्रपत्तिवाद' के सिद्धान्त का आविष्कार किया और अपने धर्म को लक्ष्मी या श्री के द्वारा प्रवर्तित बता कर सम्प्रदाय का नाम 'श्रीवैष्णव' सम्प्रदाय रक्खा।

आचार्यों में प्रथम रङ्गनाथ मुनि थे (८२४—६२४) जो नाथ मुनि कहलाते थे। ये शठकोपाचार्य या नम्मालवार आड़वार की शिष्य परम्परा में से थे। नम्मालवार शूद्र थे। इस प्रकार 'रामानुज' के आदि गुरु एक शूद्र सन्त के शिष्यों में से थे, यह हमें न भूलना चाहिए। यही कारण था कि रामानुज जनता के लिए इतने उदार हो सके। राहुल जी ने बौद्धधर्म के प्रति अनुचित पक्षपात के कारण यह नहीं देखा कि रामानुज के द्वारा प्रतिपादित भक्ति की जिस विराट-लहर ने सारे उत्तरी व दक्षिणी भारत को स्नात कर दिया जिसमें सारा जन समाज निमग्न हो गया उसमें कुछ प्रगति के तत्व अवश्य होंगे। यह ठीक है कि 'रामानुज' ने शास्त्र का आधार न छोड़ा परन्तु इसी से ही तो वे जन आन्दोलन को रूढ़िवादियों के द्वारा मान्यता दिला सके और इस प्रकार शास्त्रीय, अशास्त्रीय, शूद्र और ब्राह्मण सब अपनी-अपनी अहम्मन्यता छोड़कर भक्ति रस में डूबने लगे। रामानुज के आदि गुरु पर जो उनके गुरु 'नम्मालवार' का ऋण था, उसे उन्होंने पूरी तरह चुकाया।

'नाथमुनि' के पश्चात् वैष्णव आचार्यों में प्रसिद्ध यामुनाचार्य हुये। श्रीरङ्गम् की गद्दी पर वह आचार्य बनाये गये। यामुनाचार्य ने राजसी भोग विलास छोड़कर वैष्णवमत के प्रचार में शेष जीवन लगा दिया था। इनके ग्रन्थों में 'आत्मसिद्धि', 'ईश्वर सिद्धि', 'माया खण्डन' आदि ग्रन्थ थे। इनमें सबसे अधिक लोकप्रिय था उनका 'स्तोत्र रत्न', जिसमें उनका सच्चा भक्त हृदय झलक उठा है। रामानुज इन्हीं यामुनाचार्य के शिष्य थे।

रामानुज ने 'यादव प्रकाश' से अद्वैत वेदान्त का अध्ययन किया था किन्तु वे 'मायावादी पद्धति' से सन्तुष्ट न हुये। तब उन्होंने वैष्णव आचार्यों से अध्ययन किया। आचार्य 'यामुन' के बाद रामानंद

'आचार्य' बनाये गये, परन्तु बाद में संन्यास ग्रहण कर लिया। चोल-नरेश जो श्रीरङ्गम का राजा था, कट्टर शैव था। उसने मन्दिर की ध्वजा पर लिख रखा था "शिवात्परतरो नास्ति" शिव से बढ़ कर और कोई नहीं है। जो शिव को नहीं मानता, उसको कड़ा दण्ड देना। रामानुज श्रीरङ्गम् से भागकर मैसूर पहुँचे, वैष्णवधम का प्रचार करते रहे। चोल राजा की मृत्यु के बाद श्रीरङ्गम् वापस आये और मन्दिर बनवाया, फिर भ्रमण करने निकल पड़े। रामानुज के ७४ शिष्य थे, आचाय ने अपना सारा जीवन धर्म प्रचार में लगाया, ११३७ ईसवी में मृत्यु हुई।

'रामानुज' ने आचार्य यामुन की इच्छा को पूर्ण करने के लिये ब्रह्मसूत्र, विष्णु सहस्रनाम तथा आड़वारों के 'दिव्य प्रबन्धम्' पर टीकायें लिखी। ब्रह्मसूत्र पर उनके भाष्य का नाम 'श्रीभाष्य' है।

रामानुज की मृत्यु के पश्चात् दक्षिण में 'टैंकले' व वडकलै इन सम्प्रदायों मे वैष्णवाचार्य तथा श्रीवैष्णव के अनुयायी बँट गये। टैंकले मत केवल प्रपत्तिवादी रहा और वडकले मत कर्मवादी भी रहा, टैंकलेमत में केवल तमिल वेद मान्य रहा और दूसरे में संस्कृत वेद तथा तमिल वेद दोनों। रामानुज ने विशिष्टाद्वैत मत का प्रचार किया। इस सम्प्रदाय में लक्ष्मी तथा विष्णु तथा उनके अवतारो की उपासना होती है। 'राम' का महत्व अधिक है। इस सम्प्रदाय की सबसे बड़ी विशेषता है "शिव के प्रति द्वेष"। शायद यह भावना शैव चोल राजा के प्रतिक्रिया के रूप में वृद्धि पा गई हो। आगे चलकर परिस्थिति पुनः बदली और यवनों के आक्रमणों के पश्चात् जब हिन्दू समाज में आत्म-रक्षण की भावना जागृत होगई तो रामानुज मत के ही अनुयायी तुलसी ने पुकार कर कहा था—

शिव द्रोही मम दास कहावै। सो नर सपनेहुँ मोहि न भावै॥

शङ्कर का खण्डनः—रामानुज शंकर के मायावाद के विरुद्ध खड़े हुये थे, उन्होंने 'मायावाद' की कड़ी आलोचना की है। शंकर के अनुसार अविद्या या अज्ञान से सृष्टि की उत्पत्ति होती है पर वह अज्ञान रहता कहाँ है? यदि कहो जीव में, तो जीव तो स्वयं अविद्या का परिणाम है, कारण कार्य पर कैसे रहेगा? यदि कहो अज्ञान ब्रह्म के

आश्रित है तो ब्रह्म ज्ञान-स्वरूप नहीं रह सकता। शंकर के अनुसार अज्ञान से ब्रह्म का स्वरूप आच्छादित हो जाता है परन्तु ब्रह्म स्वतः प्रकाश्य माना गया है। माया को अनिर्वचनीय कहा गया है पर यहाँ विरोध है, जगत के पदार्थ या तो सत होते हैं या असत्।

शांकर वेदान्ती माया को भाव रूप अज्ञान कहते हैं। रामानुज कहते हैं कि अज्ञान का अर्थ है ज्ञान का अभाव, तब वह भाव रूप कैसे होगा? यदि भाव रूप मान भी लें तो ब्रह्मज्ञान से उसका नाश कैसे होगा क्योंकि ज्ञान से भावरूप पदार्थ नष्ट नहीं हो सकता। इस प्रकार 'श्रीभाष्य' में रामानुज ने शंकर के 'मायावाद' पर कठोर प्रहार किये हैं। शांकर वेदान्ती इनके उत्तर विभिन्न पद्धतियों से आज तक देते जा रहे हैं। अब हम रामानुज के विशिष्टाद्वैत पर विचार करेंगे।

विशिष्टाद्वैतवाद और रामानुज—शङ्कर के अनुसार सत् पदार्थ एक है 'शुद्ध चिन्मय ब्रह्म'। अन्य सब पदार्थ मिथ्या हैं, मायाकृत हैं, अविद्या-जन्य हैं। रामानुज तीन पदार्थ मानते हैं—(१) चित्, (२) अचित (३) ईश्वर। चित् पदार्थ जीव है, अचित=जड़ पदार्थ जगत है और ईश्वर से अभिप्राय अन्तर्यामी शक्ति से है। शङ्कर केवल एक पदार्थ 'ब्रह्म' मान कर सृष्टि की रचना के लिए 'माया' को ब्रह्म की शक्ति मानते हैं और माया की उपाधि से उपहित ब्रह्म या ईश्वर से इस जड़ जगत की उत्पत्ति मानते हैं। रामानुज इस माया को नहीं मानते। शङ्कर ब्रह्म को सजातीय विजातीय तथा स्वगत इन तीनों भेदों से परे मानते हैं किन्तु रामानुज ब्रह्म में स्वगत भेद मानते हैं। वे कहते हैं कि ब्रह्म के दो रूप हैं—चित् और अचित्। चित् तत्व चिन्मय ब्रह्म है और उसी का भेद है अचित् जो जड़ जगत के रूप में फैला हुआ है। अतः जगत ब्रह्म का ही स्वगत भेद होने के कारण 'सत्य' है यह ब्रह्म का ही एक रूप है, यह मायाकृत प्रपञ्च या इन्द्रजाल से उत्पन्न मिथ्या पदार्थ नहीं है। श्वेताश्वेतर उपनिषद में इसी अचित् या प्रकृति तत्व को संसार का बीज या या मूल माना गया है—

अजामेकां लोहित शुक्ल कृष्णां,
बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः॥

अजा ह्येको जुषमाणोऽनुशेते,
जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥
—(श्वेताश्वतरोपनिषद् अध्याय ४, मन्त्र ५)

अर्थात् अपने अनुरूप बहुत सी प्रजा उत्पन्न करने वाली एक लोहित (रजस् गुण वाली) शुक्ल (सत्व गुण प्रधान) तथा कृष्ण-वर्णी (तमस् गुण विशिष्ट) अजा (बकरी-प्रभृति) को एक अज (बकरा—जीव) भोगता है और दूसरा अज उस भुक्त भोगा अजा को त्याग देता है।

इसी प्रकार इस प्रकृति तत्व के विषय में यही उपनिषद् ४ अध्याय के दसवें मन्त्र में कहती है कि—

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥

अर्थात् प्रकृति को तो माया जानना चाहिये और महेश्वर को मायावी। उसी के 'अवयवभूत' से यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है।

उक्त मन्त्रों से स्पष्ट है कि प्रकृति को उपनिषद् ब्रह्म का अवयव कहती है अतः ब्रह्म का स्वगत भेद है और वह अचित् तत्व=प्रकृति ही जगत का कारण है।

रामानुज ने ये जो तीन पदार्थ माने है वे श्वेताश्वेतर उपनिषद् से ही पुष्ट होते हैं—

एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं ।
नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित्
भोक्ता, भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा
सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत् ।

अपने आत्मा में स्थित इस ब्रह्म को सर्वदा ही जानना चाहिये और कोई ज्ञातव्य पदार्थ नहीं है, भोक्ता (जीव) भोग्य (जगत्) और प्रेरक (ईश्वर) यह तीन प्रकार से कहा हुआ पूर्ण ब्रह्म ही है,—ऐसा जानना चाहिये।

जीव व जगत यद्यपि स्वतन्त्र पदार्थ हैं तथापि वे ईश्वर के अधीन रहते हैं। ईश्वर दोनों के भीतर विद्यमान रहता है।

रामानुज के मत से उपनिषदों के द्वारा निर्गुण, निर्विशेष ब्रह्म का प्रतिपादन नहीं हुआ है अपितु सगुण, सविशेष ब्रह्म का प्रतिपादन हुआ है। उनके मत से ब्रह्म प्राकृत गुण रहित, कल्याण-गुण-गुणाकर अनन्त ज्ञानान्दरूप, तथा सकल-जगत-सृष्टि-स्थिति-संहार-कर्त्ता है। जगत में निर्गुण वस्तु की कल्पना असम्भव है। सारे पदार्थ गुणों से युक्त होते हैं, ब्रह्म भी गुणों से युक्त है यही श्रुति भी कहती है।

ईश्वर तथा जीव व जगत में सम्बन्ध क्या है ? रामानुज एक विशेष सम्बन्ध मानते हैं जिसे 'अपृथक सिद्धि' कहते हैं यह गुण तथा द्रव्य दोनों में रहता है। वस्त्र का तन्तु से समवाय सम्बन्ध होता है, परन्तु यह वाहरी सम्बन्ध है। जगत, जीव व ईश्वर में समवाय सम्बन्ध नहीं है वरन् इनमें अपृथक-सिद्धि सम्बन्ध है। शरीर आत्मा की सिद्धि का साधन है इसी प्रकार ईश्वर की इच्छा पूर्ति करने के लिये जगत व जीव है। इनमें ईश्वर विशेष्य है और जगत व जीव उसके विशेषण हैं। विशेषण को विशेष्य से अलग नहीं किया जा सकता, दोनों में एकत्व रहता है। अतः विशेषणों (जगत + जीव) संयुक्त विशिष्ट ईश्वर की एकता प्रामाणिक है। ब्रह्म अद्वैत है, इसका अर्थ यही है कि उसके अङ्ग चित् व अचित् अङ्गी ब्रह्म से पृथक नहीं हैं, इसलिये यह मत अद्वैत नहीं विशिष्ट अद्वैत है।

तो चित् अचित् से विशिष्ट ईश्वर के मानने के कारण रामानुज के मत का नाम विशिष्टाद्वैत पड़ा।

इस प्रकार रामानुज व शङ्कर का ब्रह्म विषयक अन्तर स्वगत भेद मानने या न मानने के कारण है। रामानुज सजातीय भेद यथा एक गाय और दूसरी गाय में, विजातीय भेद यथा गाय और भैंस में स्वीकार नहीं करते क्योंकि ब्रह्म का सजातीय व विजातीय कोई दूसरा पदार्थ हो ही नहीं सकता। परन्तु स्वगत भेद के माने विना जगत व जीव की व्याख्या नहीं हो सकती। यदि शङ्कर इसे स्वीकार कर लेते तो 'माया' की कल्पना न करनी पड़ती।

ब्रह्म अनन्त गुणों का भण्डार कहा गया है उसमें अल्पज्ञता, रागद्वेषादि जीव के गुण नहीं हैं, यही ब्रह्म व जीव में अन्तर है। प्रलय के समय यद्यपि भौतिक विषयों का नाश हो जाता है तब भी

ब्रह्म में चित् (जीव) तथा अचित् (जगत) के बीज रहते हैं। भौतिक विकारों से रूप या रङ्ग बनते विगड़ते हैं यथा घट पट आदि परन्तु द्रव्य नष्ट नहीं होता यथा मिट्टी व स्वर्ण। प्रलय अवस्था में विषयों के अभाव में ब्रह्म शुद्ध चित् अवस्था में रहता है, इसी 'कारण ब्रह्म' कहलाता है। सृष्टि के समय यह 'कार्य ब्रह्म' कहलाता है।

ईश्वर जगत का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। यह अविद्या की उपाधि से उपहित होने से जगत का सृष्टिकर्त्ता नहीं है यथा शंकर मानते हैं बल्कि ईश्वर स्वेच्छा से ही जगत व जीव के रूप में अपना विस्तार करता है 'सोऽकामयत', 'एकोऽहं बहुस्यामि' आदि श्रुतियों का भी यही रहस्य है। जगत रचना का प्रयोजन केवल लीला है। जैसे कोई बालक अपने खिलौनों से खेलता है। वैसे ही ब्रह्म जगत व जीव से खेलता है। 'दर्शन' का यह तर्क बहुत ही लचर है। शंकर यह नहीं बता सके कि माया का सम्बन्ध अन्ततः ब्रह्म से क्यों होता है। जब शुद्ध चिन्मय ब्रह्म के अतिरिक्त कोई दूसरी सत्ता नहीं है तो माया की उपाधि कहाँ से किस प्रकार और क्यों आगई। यदि ब्रह्म ने इच्छा की तो ब्रह्म 'सगुण' हो जायगा जो रामानुज का पक्ष है। अतः माया की कल्पना से जगत की स्थिति तो समझाई गई पर यह स्पष्ट नहीं हुआ कि स्वयं 'माया' क्या बला है, अतः उसे 'अनिर्वचनीय' कह देना ही एक मात्र उत्तर था। शंकर ने वही किया। किन्तु रामानुज पहले से ही ब्रह्म को सगुण मान कर चले और सगुण ब्रह्म लीला की इच्छा भी कर सकता है। अतः भगवान की अपनी लीला के लिये यह जगत बनाया गया, यह भी ठीक है। परन्तु यदि यह पूछा जाय, जैसा कि नास्तिकों ने पूछा भी है कि यदि सृष्टि लीला के लिये है तो ईश्वर स्वार्थी है जिसने अपने विनोद के लिये सबको दुःख के भवसागर में निपतित कर दिया है क्योंकि यह तो सभी मानते हैं कि संसार में दुःख अधिक है जिससे वचने के लिये वार वार भगवान से प्रार्थनायें होती हैं। स्थिति यह है कि शंकर रामानुज आदि सभी दार्शनिक जगत की अवस्था को अपरिवर्तनीय मानकर चले थे। वे यह कल्पना ही न कर पाते थे कि समाज में परिवर्तन भी हो सकता है। नित्यता और अनित्यता का ही उन्होंने विचार किया, सामाजिक क्रांति का नहीं।

तो रामानुज ने जगत की सृष्टि को भगवान् की लीला कहा है।

यही लीलामय भगवान प्रलयावस्था में 'कारण ब्रह्म' कहलाता है। अद्वैततत्व की प्रतिपादक जितनी भी श्रुतियाँ हैं सब इसी 'कारण ब्रह्म' को, जो जीव व जगत का बीज संयुक्त चित् मात्र रह जाता है, निर्देशित करती हैं। चूँकि ब्रह्म समस्त हेय गुणों से रहित है इसीलिए वह निर्गुण कहलाता है। (श्रीभाष्य पृष्ठ ८३) श्रुति 'एकमेवाद्वितीयम्' ब्रह्म का वर्णन करती है वह इसी कारण 'ब्रह्म' है क्योंकि इस ब्रह्म में जड़ तत्व तथा अल्पज्ञ तत्व केवल बीजभाव से रह जाता है। शुद्ध चिन्मय ब्रह्म अवशेष रहता है। सूक्ष्म चित्, अचित् तत्वों से युक्त ब्रह्म ही 'विशिष्ट अद्वैत' नाम को सार्थक करता है।

प्राचीन भागवत सम्प्रदाय में ईश्वर के कई रूप बतलाये गये हैं, ईश्वर भक्तों पर अनुग्रह करने व जगत की रक्षा के निमित्त अनेक रूप धारण करता है। रामानुज ने भागवत सम्प्रदाय से प्रभावित होकर ईश्वर के पाँच रूप माने हैं—(१) पर, (२) व्यूह, (३) विभव, (४) अन्तर्यामी, (५) अर्चावतार। इस प्रकार वस्तुतः ईश्वर सगुण है, वेदों में 'नेति-नेति' कहा जाने वाला ब्रह्म 'कारण ब्रह्म' है न कि कार्य ब्रह्म।

प्रश्न यह होगा कि जीव व ब्रह्म का सम्बन्ध क्या है? शङ्कर को केवल असुविधा 'माया' की कल्पना में थी। माया की कल्पना के पश्चात् उनका दर्शन अपेक्षाकृत अधिक बुद्धि सङ्गत बन गया। शङ्कर ने तो जीव व ब्रह्म में कोई अन्तर ही नहीं किया। अल्पज्ञता, सान्तता आदि को अविद्या का फल बतलाया। रामानुज ने 'माया' को न मान कर जगत की उत्पत्ति सिद्ध करने के लिए ब्रह्म के 'स्वगत' भेद स्वीकार किये, उसे 'सगुण' माना। अब प्रश्न यह है कि यदि चित् व अचित् दोनों ही ब्रह्म के अंश हैं तो भौतिक विकार का अर्थ क्या वास्तविक विकार होगा? इस प्रकार तो ब्रह्म भी जीव की तरह ही सुखी या दुःखी माना जायेगा। रामानुज की अक्षमता सबसे अधिक यहीं पर है। उन्होंने जीव-जगत को शरीर व ब्रह्म को आत्मा की उपमा दी है। जिस प्रकार शरीर को आत्मा नियन्त्रित करता है उसी प्रकार जगत व जीव रूपी शरीर को ब्रह्मरूपी आत्मा सञ्चालित करता है अतः आत्मा की तरह ब्रह्म भी निर्दोष ही है। कहीं-कहीं रामानुज ने राजा व प्रजा की उपमा दी है जिस प्रकार राजा की आज्ञा के पालन या उल्लङ्घन से राजा को सुख या दुःख नहीं होता उसी प्रकार ब्रह्म पर सुख या दुःख नहीं आता।

रामानुज का ईश्वर पाश्चात्य दर्शन के Theism अनुकूल है Theism या ईश्वरवाद का अर्थ है ऐसे ईश्वर में विश्वास जो जगत में व्याप्त व उससे परे भी हो, जिसका एक विशिष्ट व्यक्तित्व हो, और जो अपनी इच्छा पूर्ति के लिये जगत की रचना करता हो, रामानुज भी ईश्वर में सभी गुण मानते हैं। उनका ईश्वर धार्मिक साधना का लक्ष्य है, सर्वसाधारण भी रामानुज के ईश्वर का भजन गान कर उसकी कृपा प्राप्त कर मोक्ष पा सकते हैं। शंकर की जीवन्मुक्ति कठिन है, वह सबके लिये नहीं है। शंकर जिसे साधन मात्र मानते हैं उन नाम, जप, तप, स्मरण, व्रतादि का महत्व रामानुज में बहुत अधिक है। रामानुज का ईश्वर साधारण जनता का 'ईश्वर' है।

रामानुज के अनुसार ईश्वर व जीव एक नहीं हैं। इन दोनों की अभिन्नता का अर्थ यह है कि सारे विश्व में व्याप्त होने के कारण ईश्वर प्रत्येक जीव में व्याप्त है वह सबका नियंत्रण करता है, जिस प्रकार अंश का अस्तित्व सम्पूर्ण पर, गुण का द्रव्य पर तथा जीवित शरीर का अस्तित्व आत्मा पर निर्भर करता है उसी प्रकार मनुष्य का अस्तित्व ईश्वर पर निर्भर है। अतः जीव शरीर, मन, इंद्रिय, प्राण नहीं है, वह इनसे अन्यथा, चेतनावान्, आनन्द रूप, नित्य, 'अणु', अव्यक्त, निरवयव, निर्विकार और ज्ञानाश्रय है। वह स्वयं प्रकाशित होता है अतः अजड़ है। सुषुप्ति में आनन्दित रहने के अनुभव से वह आनन्द-मय सिद्ध होता है। हृदय में स्थित रहने के कारण वह अणु है। जीव में एक विशेष गुण 'शेषत्व' (पराधीनता) है अतः वह ईश्वर पर अव-लम्बित रहता है! शंकर आत्मा को विभु बताते हैं। रामानुज 'अणु' (अंश)। शंकर आत्मा को एक मानते हैं अर्थात् जीव व ब्रह्म एक ही है, अतः सारे संसार में एक ही ब्रह्म है, केवल शरीर की उपाधियों से जीव अनेक जान पड़ता है परन्तु रामानुज जीवों को अनन्त मानते हैं। वे एक दूसरे से भिन्न हैं। ब्रह्म व जीव भी भिन्न हैं। ब्रह्म 'प्राज्ञ' है (शंकर का प्राज्ञ अर्थ यहाँ नहीं है) जीव अज्ञ है। श्रुति ब्रह्म को अखण्ड कहती है तब यदि जीव अणु है तो वह खण्ड खण्ड कैसे हुआ? उत्तर होगा कि अग्नि अखण्ड है पर स्फुलिङ्ग के समान जीव ब्रह्म रूपी अग्नि से निकल पड़ते हैं। अभेद का अर्थ केवल यह है कि जीव में ब्रह्म व्याप्त है, वह ब्रह्म का शरीर है, अतः जीव व ब्रह्म में अंशांशी भाव या विशेषण विशेष्य सम्बन्ध है।

श्वेताश्वेतर उपनिषद् भी यही कहती है—

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशा,
वजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता,
भयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत्।

ईश्वर सर्वज्ञ है जीव अज्ञ, ईश्वर सर्वसमर्थ है जीव असमर्थ। दोनों ही अजन्मा हैं। एक मात्र (अजा) प्रकृति ही भोक्ता जीव के लिये भोग्य सम्पादन में नियुक्त है। विश्वरूप आत्मा तो अनन्त और अकर्त्ता है, जिस समय इन ईश्वर—जीव—प्रकृति तीनों को ब्रह्मरूप अनुभव करता है उस समय जीव कृतकृत्य हो जाता है।

जीव अणु तथा चेतन है। गीता में कहा गया है कि "ममैवांशो जीव-लोके जीव भूतः सनातनः" अर्थात् इस शरीर में भगवान् का एक सनातन अंश है। यहाँ अंश का अर्थ जगह घेर लेने वाला टुकड़ा नहीं है। ब्रह्म अखण्ड है, उसके टुकड़े नहीं हो सकते। जीव उसी प्रकार ईश्वर का अंश है जैसे प्रकाश सूर्य का अंश है या गुण गुणी का। रामानुज ब्रह्म को प्रकारी, व जगत व जीव को 'प्रकार' मानते हैं। प्रकारी=ब्रह्म, प्रकार=जगत व जीव का उपादान कारण है। प्रकार उस ब्रह्म रूपी उपादान कारण का कार्य है, जीव व जगत ब्रह्म की परिणमन क्रिया के फल हैं। ब्रह्म जगत व जीवों के रूप में अपना विस्तार करता है, फिर भी वह निर्विकार रहता है क्योंकि उसे कुछ भी अशक्य नहीं है। रामानुज ने द्रव्यों का विभाग जिस प्रकार किया है वह अगले पृष्ठ की तालिका में देखिये।

प्रकृति—रामानुज प्रकृति को ईश्वर का निवास स्थान या शरीर मानते हैं, यह पहले ही कहा जा चुका है। प्रकृति सांख्य के समान त्रिगुणमयी व चौबीस तत्वों की जननी है। रामानुज सत्, रज्, तम् को द्रव्य नहीं मानते।

सृष्टि विकास—रामानुज के अनुसार सर्व शक्तिमान् ईश्वर अपनी इच्छा से स्वयं अपने से यह नाना विषयात्मक संसार उत्पन्न करते हैं। ब्रह्म के अचित् तत्व से भौतिक विषय उत्पन्न होते हैं। रामानुज प्रकृति को शाश्वत सत्ता मानते हैं। सांख्य दर्शन अव्यक्त प्रकृति
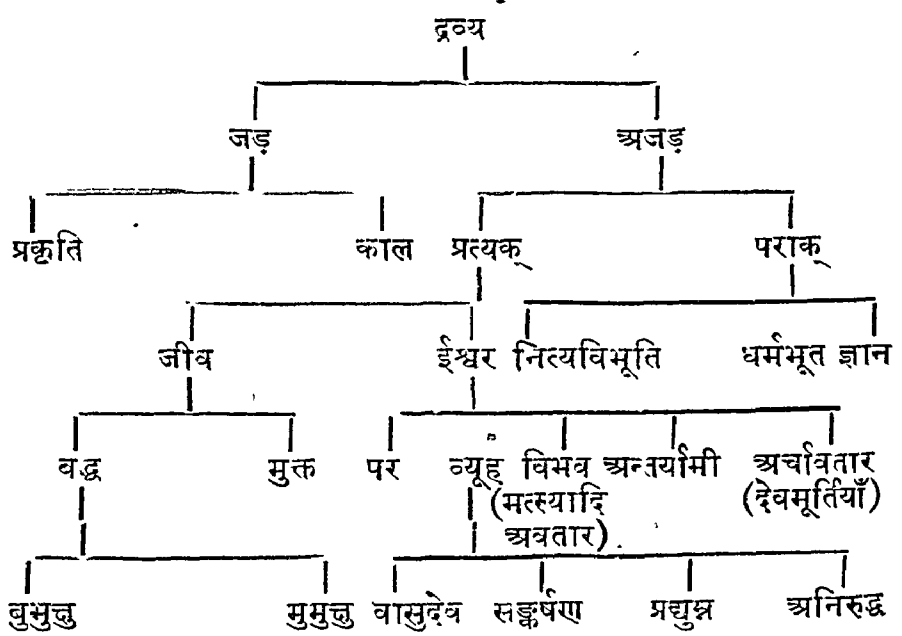
को स्वतन्त्र मानता है, वह स्वयं सृष्टि करती है किन्तु रामानुज प्रकृति को ईश्वर का अंश और उसे ईश्वर के द्वारा सञ्चालित मानते हैं। प्रलय की अवस्था में यह प्रकृति सूक्ष्म अव्यक्त दशा में रहती है। ईश्वर जीवों के पूर्व कर्मानुसार सृष्टि के आदि में संसार की रचना करते हैं। सर्वप्रथम प्रकृति तेज, जल, पृथ्वी में विभाजित होती है। सत्व, रज व तम गुण उसमें रहते हैं। ये तीनों गुण मिल कर अनेक विषयों को उत्पन्न करते है। इस मिश्रण को 'त्रिवत करण' कहते हैं।

रामानुज काल को सीमित मानते हैं, नैयायिक 'काल' को एक स्वतन्त्र नित्य पदार्थ मानते हैं।

विशिष्टाद्वैत में ईश्वर के पाँच रूपों की चर्चा की जा चुकी है। देवताओं की मूर्तियाँ भगवान के अर्चावतार हैं, मत्स्यावतार 'विभव' हैं। वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध व्यूह हैं, सूक्ष्म का तात्पर्य परब्रह्म से है, अन्तर्यामी प्रत्येक शरीर में विद्यमान है।

तत्त्वमसि का अर्थ—प्रश्न यह होता है कि जब ईश्वर, जीव, जगत का उक्त सम्बन्ध है तो श्रुति-वाक्य 'तत्त्वमसि' का क्या अर्थ है? रामानुज के अनुसार दो सर्वथा विभिन्न पदार्थों में अभेद सम्बन्ध

स्थापित नहीं हो सकता। साथ ही दो अविकल पदार्थों में भी अभेद सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता। शङ्कर के यहाँ तत्त्वमसि की सिद्धि 'यह वही देवदत्त है' इस उदाहरण तथा 'भाग-त्याग लक्षणा' पर आधारित है। इसकी चिन्ता ही नहीं है कि इस पद्धति से तो कोई भी सर्वथा विपरीत पदार्थ एक सिद्ध किये जा सकते हैं क्योंकि जैसे भाग-त्याग लक्षणा की कल्पना की गई है वैसे तब अन्य किसी लक्षणा की कल्पना कर लेंगे। रामानुज का कहना है कि सर्वथा अविकल पदार्थ या सर्वथा भिन्न पदार्थों की एकता सिद्ध नहीं हो सकती। अभेद ता सिद्ध हो सकता है जब दोनों पदार्थ एक ही पदार्थ के दो रूप हों। अयं स देवदत्तः, यह वाक्य पहले देखे हुए देवदत्त तथा वर्तमान काल में देखे गये देवदत्त में तादात्म्य सम्बन्ध प्रकट करता है, काल की विभिन्नता होने पर भी व्यक्ति एक ही है। 'तत्वमसि' का भी यही अर्थ होगा। तत् का अर्थ है वह ईश्वर जो सर्वज्ञ, सर्व शक्तिमान् तथा सृष्टि का कर्त्ता है। और त्वम् का अर्थ है वह ईश्वर जो अचित् विशिष्ट जीव (शारीरिक) है अर्थात् जड़ शरीर से विशिष्ट जीव है। इस प्रकार यहाँ जो अभेद दिखाया गया है वह ईश्वर के एक विशिष्ट रूप का है, यह एकता एक विशिष्ट एकता है इसीलिए यह मत विशिष्टाद्वैत कहलाता है।

साधारणतया त्वम् पद का अर्थ 'जीव' लिया जाता है, परन्तु रामानुज ने त्वम् पद का अर्थ 'अचित् विशिष्ट जीव शरीर वाला ब्रह्म' अर्थ लिया है। इस प्रकार अन्तर्यामी ईश्वर तथा विश्व प्रपञ्च का निर्माता ईश्वर इन दोनों की तात्विक एकता है।

रामानुज ने जीव व ईश्वर के भेद पर बहुत जोर दिया है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि वे द्वैतवादी हैं, परन्तु जीव को ईश्वर का अंश मान लेने पर वे अद्वैतवादी ही सिद्ध होते हैं। और इस प्रकार श्रुतियों का भी सामञ्जस्य हो जाता है। इस प्रकार जीव व ईश्वर का भेद व अभेद दोनों की सिद्धि सम्भव हो जाती है। ईश्वर पूर्ण तथा अनन्त है, जीव अपूर्ण तथा स्वल्प, यह भेद है तथा जीव ईश्वर से अपृथक है और ईश्वर जीव रूपी शरीरों का आत्मा रूप है, यह अभेद है। इस दृष्टि से दोनों में अभेद, तादात्म्य या अनन्यत्व की सिद्धि होती है। रामानुज को शङ्कर का खण्डन करना था, जो यह मानते हैं कि जीव ब्रह्म एक है, घटाकाश तथा महाकाश की तरह,

दोनों का अन्तर औपाधिक है। रामानुज कहते हैं कि जीव जब उपाधि युक्त ब्रह्म है और उपाधि कल्पना मात्र है तो जीव के सारे दोष ब्रह्म पर लागू हो जाते हैं। अतः शाङ्कर मत भ्रमपूर्ण है। यदि यह कहो कि जीव ब्रह्म का वास्तविक परिच्छन्न रूप है अर्थात् ब्रह्म वस्तुतः स्वल्प जीव के रूप में परिणत हो जाता है तो भी जीव के दोष ब्रह्म पर आ जाते हैं। अतः यही मानना ठीक है कि ब्रह्म में चित् अचित् दोनों रूप वर्तमान हैं। जीव अंश है और ब्रह्म पूर्ण। अंश कभी पूर्ण नहीं हो सकता पर फिर भी दोनों अभिन्न हैं। निम्बार्क भी भेद व अभेद दोनों को मानते हैं परन्तु निम्बार्क भेद पर अधिक बल देते हैं। रामानुज अभेद को मुख्य मानते हैं। इसीलिए निम्बार्क का मत द्वैताद्वैत कहलाता है और रामानुज का मत विशिष्टाद्वैत।

मोक्ष का स्वरूप—रामानुज के अनुसार आत्मा का बन्धन कर्म के द्वारा होता है। शरीर में रहने के कारण आत्मा, शरीर व इन्द्रियों से बद्ध हो जाता है। जैसे दीपक सारे कक्ष को प्रकाशित करता है उसी प्रकार अणु रूप होने पर भी आत्मा सारे शरीर को प्रकाशित करता है। शरीर को आत्मा अपना रूप समझता है, यही बन्धन है।

कर्म व ज्ञान के द्वारा भक्ति का उदय होता है। शङ्कर के यहाँ कर्म व ज्ञान में बैर है, परन्तु रामानुज समुच्चयवादी हैं। कर्म का अर्थ है कर्मकाण्ड। वर्णाश्रम धर्म के अनुसार नित्य नैमित्तक कर्म निष्काम भाव से करना ही चाहिए। इसके लिए मीमांसा का अध्ययन करना होगा। रामानुज वेदान्त को समझने के लिए कर्मकाण्ड को अनिवार्य मानते हैं। कर्मकाण्ड के बाद ही यह बुद्धि उत्पन्न होती है कि ये कर्म स्थायी कल्याण नहीं कर सकते, तब वेदान्त उसे वास्तविक तत्व समझाता है। वह अनुभव करता है कि शरीर से आत्मा भिन्न है, वह ईश्वर का अंश है। तब ज्ञान होता है कि मुक्ति ईश्वर की कृपा से ही मिलती है। किन्तु उपनिषद् कहती है कि मुक्ति ज्ञान से मिलती है, परन्तु ज्ञान का अर्थ कोरा शब्द-ज्ञान नहीं है, यथार्थ ज्ञान है, ईश्वर का निरन्तर स्मरण। यही ध्यान, उपासना या भक्ति है। ("अतो ··· ···ध्यानोपासनादि शब्द वाच्यं ज्ञानं, वेदनम् उपासनं स्यात्, उपासना पर्यायत्वात् भक्ति शब्दस्य"—श्री भाष्य १—१—१) ईश्वर की

यह अनन्य भक्ति ही साक्षात्कार कराती है। इससे अविद्या व कर्मों का नाश हो जाता है। ईश्वर स्वयं कृपालु होकर भक्त की बाधाओं को दूर कर देते हैं। आत्म-समर्पण कर देने के पश्चात् जीव उसी ब्रह्म का चिन्तन करते-करते उसी में तल्लीन हो जाता है।

मुक्ति का अर्थ शराब पानी की तरह एक हो जाना नहीं है, मुक्त आत्मा निर्मल होकर ब्रह्म के सदृश (ब्रह्म प्रकार) हो जाता है। (ज्ञानैकाकारतया ब्रह्म प्रकारता उच्यते)। उपनिषदों में यह जो कहा गया है कि मुक्त आत्मा ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाता है उसका भी यही अर्थ है।

शङ्कर के मोक्ष के स्वरूप में जीव व ब्रह्म का एक हो जाना ही मुक्ति है। बुदबुद मिट कर समुद्र बन जाता है। अतः अन्त में केवल ब्रह्म ही रह जाता है। परन्तु रामानुज 'आत्मलय' नहीं मानते। भक्त तो अपना अस्तित्व रखना चाहता है ताकि वह ईश्वर का अनवरत ध्यान रख कर उसका आनन्द उठा सके। ईश्वर हो जाना एक बात है और ईश्वर के समान हो जाना दूसरी।

रामानन्द की यह मोक्ष कल्पना अन्य सब दार्शनिकों से भिन्न है। न्याय, वैशेषिक, सांख्य और मीमांसा के अनुसार मोक्षावस्था में आनन्द नहीं मिलता। रामानुज के मत में मोक्ष दशा में शरीर, ज्ञान व आनन्द सबका भान होता है, परन्तु मुक्तावस्था में जो शरीर मिलता है वह अलौकिक होता है, वह 'नित्य विभूति' का कार्य होता है। वैकुण्ठ में मुक्त जीव शरीरधारी होकर भगवान के सान्निध्य का आनन्द लूटते हैं। रामानुज इस वैकुण्ठ प्राप्ति के लिए 'शरणागति' या 'प्रपत्ति' को मुख्य मानते हैं। जब तक जीव भगवान की शरण में नहीं जाता, तब तक उसका कल्याण नहीं हो सकता। शरणागति के लिये कर्मों का अनुष्ठान उचित है या अनुचित, इस पर वैष्णवों में मतभेद है। 'टैंकले' मत के आचार्य कहते हैं—भक्त की रक्षा भगवान उसी प्रकार करता है जिस प्रकार बिल्ली अपने बच्चे की। बच्चे को कुछ भी नहीं करना पड़ता। इसी प्रकार भगवान की कृपा भक्त पर 'अहेतुकी' होती है। भक्त जितना अधिक दीन दशा में होता है, भगवान् उतना ही अधिक अनुग्रह करता है। (इसीलिए तुलसी ने इतनी

अधिक दीनता दिखाई पड़ती है।) बड़कलै मत के लोग भक्त की उपमा बन्दर के बच्चे से देते हैं। बन्दर का बच्चा अपनी माता को स्वयं पकड़ता है, तब वह एक स्थान से दूसरे स्थान को उसे ले जाती है। बिल्ली अपने शिशु को स्वयं मुख में दाब कर एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाती है। अतः बड़कलै मत का कथन है कि भक्त को अपना भी कुछ प्रयत्न करना पड़ता है, परन्तु 'शरणागति' का तत्व दोनों को मान्य है।

रामानुज के अनुसार जीव ईश्वर के समान तो हो जाता है पर उसे सृष्टि की स्थिति, प्रलय आदि में कुछ भी करने का अधिकार नहीं है। जीव में अविद्या का स्पर्श कभी भी हो सकता है। अतः वह ईश्वर नहीं बन सकता। अतः 'जीवन्मुक्ति' असम्भव है। केवल 'विदेह मुक्ति' ही सम्भव है अर्थात् मृत्यु के पश्चात् भगवान् के अनुग्रह से भक्त बैकुण्ठ वास प्राप्त कर भगवान का सान्निध्य प्राप्त कर लेता है और जीवन में हरि-स्मरण तथा भगवत-चिन्तन में वह सदा आनन्दित रहता है। ईश्वर की उपासना करते समय भक्त अखण्ड आनन्द का अनुभव करता है। वह ईश्वर के दर्शन के लिये सदा आकुल रहता है। यही आकुलता भक्त के लिये सर्वस्व है। इस स्थिति में कर्मों के बन्धन स्वयं नष्ट हो जाते हैं क्योंकि भक्त के दैन्य व प्रपत्ति से भगवान् अनुग्रह करते हैं और उन्हीं के अनुग्रह से भक्त का उद्धार होता है।

सांसारिक दुःखों से त्रस्त जनता के लिए रामानुज ने कहा था कि संसार के दुःखों को सहते चलो पर हरि-स्मरण न छोड़ो। इस जन्म के दुःख पूर्व जन्म के कर्मों के परिणामस्वरूप प्राप्त हुए हैं। अब इस जन्म में हरि-स्मरण से बैकुण्ठ प्राप्त होगा, तब अलौकिक शरीर मिलेगा और भगवान की निकटता भी प्राप्त होगी। प्रकारान्तर से तात्पर्य हुआ कि समाज में परिवर्तन की बात मत सोचो (क्योंकि शायद रामानुज सांसारिक दुःखों का अन्त मनुष्य के प्रयत्न से हो सकता है, इसे स्वयं नहीं जानते थे)। ईश्वर की कृपा से ही सब कुछ होता है, मनुष्य तो ईश्वर के अधीन है। जीव में शेषत्व का गुण विद्यमान है। अतः सुख तो बैकुण्ठ में मिलेगा यहाँ सुख कहाँ? इसी-लिए मार्क्स ने धर्म को शायद जनता के लिए अफीम कहा था। परन्तु दूसरी ओर से सोचने पर रामानुज का महत्व स्पष्ट हो उठता

है। शङ्कर तो 'मायावाद' में उलझन खड़ी कर चुके थे। उनका ब्रह्म अकल, अरूप और निर्विशेष था। वह तो असाधारण व्यक्तियों के लिए था। रामानुज ने ऐसे निर्गुण ब्रह्म का साधारणीकरण कर डाला और उसे मानव मात्र के लिये सुलभ बनाया। स्त्री, पुरुष, बालक, वृद्ध सभी भगवान के केवल स्मरण मात्र से वैकुण्ठ के अधिकारी हो जाते थे। इसमें हृदय के लिए एक अद्भुत आशा का सन्देश था। शङ्कर का ईश्वर भक्त की गुहार सुनकर दौड़ता हुआ नहीं आ सकता था। रामानुज का ईश्वर भक्त की बाधायें दूर करने के लिए, पृथ्वी का भार उतारने के लिए बार-बार पृथ्वी पर अवतरित हो सकता था। अतः उससे जनता का हृदय तादात्म्य प्राप्त कर सका और आगे चल कर भक्ति का जो प्रबल प्रवाह चला उसमें ऐसे ही ईश्वर की आराधना हुई। जनता ने अपना ईश्वर पहचान लिया था। जनता को विवर्त के चक्कर से निकाल कर रामानुज ने सीधे ईश्वर के समीप लाकर बैठा दिया। किन्तु रामानुज ने स्वावलम्बन की भावना पर अवश्य प्रहार किया। आगे चलकर भक्ति के द्वारा दुःख निवारण यहाँ तक बढ़ा कि रोग निवारण के लिये भी भगवत-स्मरण को औषधि बताया गया और इससे कर्तव्यता के स्थान पर परावलम्बन की भावना दृढ़तर होती गई।

तीसरी दृष्टि से रामानुज ने जनता के सामान्य अधिकारों को स्वीकार किया। 'ओम नमो नारायणाय' के मन्त्र से सबको दीक्षित किया। केवल शूद्रों द्वारा वेद पढ़ने की बात स्वीकार नहीं की। रामानुज उस काल के उदार (Liberal) नेता थे।

"मैक्समूलर ने लिखा है कि रामानुज ने हिन्दुओं को उनकी आत्माएँ वापस दे दीं। तात्पर्य यह है कि शङ्कर ने जीव को तो उपाधि युक्त ब्रह्म कह दिया था, जीव का सारा व्यक्तित्व, कृतित्व, पुरुषार्थ शङ्कर के लिए 'माया' से अधिक कुछ नहीं था। रामानुज ने जीव की पारमार्थिक सत्ता का शास्त्रीय ढङ्ग पर मण्डन किया, अतः उन्हें उनकी आत्मायें वापस मिल गईं।"

शङ्कर ने तो जगत को ही मिथ्या या मायाकृत सिद्ध कर दिया था। रामानुज ने उसे सत्य सिद्ध किया। केवल व्यावहारिक सत्ता मानने का अर्थ है कि संसार की भौतिक उन्नति असम्भव है। जब हम पहले से ही

यह स्वीकार करके चलते हैं कि हम जो कर रहे हैं वह व्यर्थ है, उसका केवल व्यावहारिक मूल्य है तो उन्नति असम्भव है। यही कारण है कि मध्यकाल में 'मायावाद' एक विकृति के रूप में हमारे देश में छाया रहा। रामानुज ने इस असामाजिक मत का घोर खण्डन किया, उनके मत में हार्दिकता अधिक रही। शङ्कर में घोर बौद्धिकता थी, जिसने बौद्धों के विरुद्ध आत्मरक्षण का कार्य तो सफलता से कर लिया परन्तु वह आगे उतना जन-प्रिय न हो सका। आज भी भारत की जनता पर वैष्णव आचार्यों रामानुज, वल्लभ आदि का अधिक प्रभाव है न कि शङ्कर का। कुछ बुद्धिवादियों पर अवश्य वेदान्त का प्रभाव अधिक है, पर वे कितने हैं?

सामान्य जनता भगवान की शरण की खोज कर सकती है, हरि नाम स्मरण करके, अवतारों के रूपों का ध्यान करके। हरि-दर्शन के लिए आकुलता को हृदय में जगा सकती है और इस प्रकार कुछ एक क्षणों के लिए भौतिक कष्टों को विस्मृत कर सकती है। साथ ही इस पद्धति में वृत्तियों की कोमलता जागृत हो जाती है, हृदय से भेद-भाव, ऊँच-नीच की भावना, अहङ्कार, मात्सर्य आदि दुर्गुण स्वयं नष्ट होने लगते हैं और मानव-जीवन सुधर सकता है। ज्ञान का दम्भ ले कर, जीवन्मुक्ति की कल्पना में रत रहने वाले शाङ्कर वेदान्तियों से ईश्वर व मोक्ष के साधनों की रामानुजीय कल्पना अधिक मनोवैज्ञानिक, मनोरम और स्वाभाविक है। समाज में समता की वकालत खण्डन-मण्डन से उतनी सफल न होती जितनी भक्ति-जन्य विह्वलता को जगा कर हृदय को शुद्ध बनाने से सफल हुई। भक्ति-भावना की अवस्था में छूत-अछूत की भावनायें स्वयं नष्ट होती गईं। रामानुज के आदि गुरु नाथमुनि शूद्र 'नम्मालवार' के शिष्य थे। स्वयं रामानुज आड़वार सन्तों का कितना आदर करते थे। इससे स्पष्ट है कि रामानुज का यह भक्ति आन्दोलन मानव की मुक्ति का शङ्कर की अपेक्षा अधिक सफल साधन बना*। भक्तों में 'राग' के माध्यम से ही ईश्वर की आराधना होती

* The faith preached by him (Ramanuja) appealed more to the common people and won them to its worship because he emphasised devotion to a personal God, and thus opened the way of Salva-

है, वैराग्य में राग का दमन होता है। भक्त को मोह, ममता, प्रेम आदि वृत्तियों के नष्ट करने की कोई आवश्यकता नहीं वह मोह करता है तो ईश्वर से, प्रेम करता है तो ईश्वर से। अतः हृदय से कलुष स्वयं पलायन कर जाता है। जनता के लिए यह सुलभ पथ है इसीलिए हिन्दी काव्य में भक्ति-विह्वल काव्य लिखा गया और जनता ने नाम व रूपों की आराधना में अपने को निमग्न कर दिया। यह ठीक है कि यह क्रान्तिकारी क़दम न था, मानवतावादी उदार धर्म था। परन्तु इसने समाज में सन्तुलन लाने में बड़ा सहयोग दिया। भक्ति के प्रवाह में क्रान्तिकारी परन्तु असामाजिक मत वाममार्ग, वज्रयान, सहजयान आदि स्वयं डूब गये। भक्ति कबीर जैसे हठयोगियों तक को बहा ले गई। समाज के उच्च-वर्ग में जो दम्भ और दुरभिमान था, उसमें दैन्य व शरणागति की भावनाओं ने मनुष्य मात्र को भगवान का रूप समझने की प्रवृत्ति उत्पन्न की। तुलसी जैसा वर्णाश्रम धर्म का समर्थक भी भक्ति के क्षेत्र में भेद-भाव को न मानता था। मनुष्य की प्रतिष्ठा इस भक्ति-सम्प्रदाय से ही हुई। समाज में यह भावना घर कर गई कि जो भक्त है वह आदरणीय है, चाहे वह कोई हो, किसी जाति का हो। मीरा व रैदास, कबीर व रामानन्द जैसे शिष्य-गुरु इसी भक्ति परम्परा में जन्म लेते रहे। इस क्रान्ति का ऐतिहासिक श्रेय रामानुजाचार्य को ही है।

'दर्शन दिग्दर्शन' के लेखक राहुलजी ने इस दृष्टि से रामानुज को नहीं देखा, उन्हें तो शङ्कर, बादरायण, रामानुज किसी में भी कोई प्रगति का तत्व नहीं मिला। केवल प्रगति बौद्धों ने की जिसे शङ्कर, रामानुज आदि ने समाप्त कर दिया, क्योंकि इन प्रचारकों ने प्रतिक्रिया वादी वर्गों का समर्थन किया, वर्णाश्रम प्रथा का समर्थन किया, ईश्वर व आत्मा के अन्धविश्वासों का प्रचार किया। किन्तु राहुलजी यह भूल जाते हैं कि भारत में सामाजिक क्रान्तियाँ ईश्वर के माध्यम से भी हुई हैं। रामानुज मार्क्स के विद्यार्थी नहीं थे। प्रत्येक सुधारक को ऐतिहासिक सीमाओं में काम करना पड़ता है। रामानुज ऐसा दार्शनिक

---

tion to the lower classes no less than to the higher. (Religious Sects in India among Hindus by D. A. Pai, page 8)

भक्त था जिसने कठोर वर्णाश्रम प्रथा को उदार बनाया। जन-जन को हरि की 'प्रपत्ति' का अधिकारी मान लिया। यह रामानुज का वर्ग-स्वार्थ था कि उन्होंने शास्त्र पढ़ने की आज्ञा शूद्रों को नहीं दी, तुलसी ने भी नहीं दी थी। किन्तु रामानुज व तुलसी के उदार मानवतावाद से जनता का स्तर अवश्य ऊँचा उठा। भक्तों ने मनुष्य-मनुष्य के बीच जो एक नाता है उसे भगवान् के माध्यम से अत्यधिक महत्व दिया। बौद्धों ने भी पुनर्जन्मवाद, कर्मफल आदि अन्धविश्वासों का प्रचार किया था और शून्यवाद तथा विज्ञानवाद तो कोरा बौद्धिक विलास रह गया था। पर क्या कोई महायानियों की प्रत्येक मनुष्य तक बुद्ध के संदेश को ले जाने की प्रतिज्ञा को असामाजिक सिद्ध कर सकता है? क्या प्रत्येक जन को 'अमिताभ' बनाने की भावना से प्रेरित हो कर समुद्र, पर्वत लाँघ कर दूर-दूर देशों की जनता को अज्ञान व दुःख के पाश से छुड़ाने के महायानी-आन्दोलन को कोई प्रगति का विरोधी प्रमाणित कर सकता है? इसी प्रकार शङ्कर ने असामाजिक मतों से समाज को छुड़ाया तथा रामानुज ने कठोर वर्ण-व्यवस्था के समर्थकों के हृदयों में मानवमात्र के प्रति ममता जागृत की और जनता के अधिकारों का समर्थन किया। रामानुज की ऐतिहासिक प्रगति का यह कुछ कम महत्व नहीं है।

यहाँ हम शङ्कर व रामानुज के प्रमुख दार्शनिक सिद्धान्तों का अन्तर दिखाने के लिए एक तालिका प्रस्तुत करते हैं—

शङ्कर	रामानुज
जगत	**जगत**
जगत माया का परिणाम है, अतः मिथ्या है। वह न सत है न असत् है अपितु अनिर्वचनीय है। जगत की सत्ता प्रातिभासिक है, केवल व्यावहारिक दृष्टि से ही जगत सत्य है पारमार्थिक दृष्टि से इन्द्रजाल morगर्थों के समान मिथ्या है।	जगत सत्य है, यह ईश्वर का अचित् अंश है, अन्तर्यामी ईश्वर का यह शरीर है, ईश्वर का शरीर असत् कैसे होगा? जगत् पारमार्थिक दृष्टि से सत्य है। माया का अर्थ विचित्र सृष्टि रचने की शक्ति है।

ब्रह्म	ब्रह्म
ब्रह्म सजातीय, विजातीय, स्वगत भेदों से शून्य है। ब्रह्म निर्गुण, निर्विशेष है। स्वरूप लक्षण की दृष्टि से वह सत्य, ज्ञान व अनन्त स्वरूप वाला है। सगुण, सर्वेश्वरादि उसके तटस्थ लक्षण हैं।	ब्रह्म सजातीय, विजातीय भेदों से शून्य है, परन्तु ब्रह्म के स्वगत भेद हैं—चित्-अचित् और ईश्वर। चित् जीव और अचित् जगत है। ईश्वर अन्तर्यामी है। वह जीव व जगतरूपी शरीर के भीतर अवस्थित रहता है। ब्रह्म सगुण और सविशेष है, उसमें स्वभावतः कल्याणमय गुण हैं। वह सर्व शक्तिमान है। वह प्राकृत हेय गुणों से हीन है।
सृष्टि	**सृष्टि**
मायोपाधिक ब्रह्म ही ईश्वर है, वही जगत की रचना का हेतु है। माया से अनवच्छिन्न ब्रह्म शुद्ध चैतन्य है जो आत्मा कहलाता है। ब्रह्म माया की उपाधि से ईश्वर, तथा अविद्या की उपाधि से 'जीव' कहलाता है। अतः तत्त्व एक ही है। सृष्टि का उद्देश्य अपने आप में पूर्ण है। श्रुति ब्रह्म को 'सर्वकामः' कहती है।	ब्रह्म को सृष्टि रचने में 'माया' की आवश्यकता नहीं है। ब्रह्म ही ईश्वर है। जीव जगत ईश्वर के शरीर हैं अतः ईश्वर से वे भिन्न तथा नित्य हैं। अतः पदार्थ तीन हैं एक नहीं। सृष्टि का उद्देश्य लीला है।
आत्मा	**आत्मा**
आत्मा व ब्रह्म एक ही पदार्थ है। घटाकाश (आत्मा) व महाकाश (ब्रह्म) में अन्तर नहीं है। आत्मा नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त-स्वभाव, चिन्मय अखण्ड, शुद्ध	ईश्वर व जीवात्मा दो पदार्थ भिन्न-भिन्न हैं। ईश्वर प्राज्ञ व जीव अज्ञ है। ईश्वर अनन्त, जीव स्वल्प है, जीव नित्य है पर शुद्ध नहीं, अज्ञान के पाश से अशुद्ध है। वह

चैतन्य है। शरीर की उपाधि से वह जीव कहलाता है। शरीर असत् व आत्मा सत् पदार्थ है। आत्मा विभु (व्यापक), असीम, अनन्त, चैतन्य है।	मुक्त नहीं बन्धन-ग्रसित है। जीव में ईश्वर व्याप्त है, क्योंकि ईश्वर अन्तर्यामी है। यही दोनों में अभेद है। जीव (तथा जगत) ईश्वर के विशेषण हैं, ईश्वर विशेष्य है। शरीर भी सत्य और जीवात्मा भी सत्य तथा नित्य है। आत्मा अणु है, ईश्वर का अंश मात्र, अतः विभु नहीं। शरीर व आत्मा दोनों सीमित हैं, विभु नहीं। ईश्वर का अंश यह उसी प्रकार है जैसे सूर्य का अंश प्रकाश है। आत्म चैतन्य है।
महावाक्य 'तत्त्वमसि' वह तू है इसमें शङ्कर के अनुसार तत = परोक्ष चैतन्य, त्वम् = प्रत्यक्ष चैतन्य (जीव) है, इसमें भाग-त्याग लक्षणा से परोक्ष व प्रत्यक्ष को त्याग देने पर शुद्ध चैतन्य रह जाता है अर्थात् ब्रह्म व जीव दोनों शुद्ध चैतन्य सिद्ध हो जाते हैं।	**महावाक्य** 'तत्त्वमसि' वह तू है, इस वाक्य में तत् = सर्वज्ञ ईश्वर तथा त्वम् = वह ईश्वर जो अचेतन शरीर से विशिष्ट जीव के रूप में है अतः दोनों ईश्वरों में अभेद है। ईश्वर के उक्त विशिष्ट रूपों में एकता है न कि जीव व ईश्वर में। वे तो भिन्न हैं।
मोक्ष कर्म बन्धन है, मुक्ति का साधन ज्ञान है न कि उपासना। उपासना केवल चित्त शुद्धि के लिये है। जीव व ब्रह्म का एकाकार होना मुक्ति है।	**मोक्ष** कर्मकाण्ड अनिवार्य है, कर्म व ज्ञान से भक्ति का उदय होता है। मुक्ति का साधन भक्ति है वह केवल चित्त शुद्धि का साधन मात्र नहीं अपितु मुक्तिदात्री है। भक्त की निरीहता, दैन्य व शरणागति

	पर ईश्वर कृपालु होता है। कोरा ज्ञान व्यर्थ है। ईश्वर में मिल कर एक हो जाना मुक्ति नहीं, ईश्वर का सामीप्य पाना मुक्ति है। ईश्वर के समान हो जाना मुक्ति है।
ख्याति	ख्याति
शङ्कर भ्रम के स्थल में 'अनिर्वचनीय ख्याति' मानते हैं। शुक्ति में जो रजत का दर्शन होता है वह अनिर्वचनीय है। सृष्टि का ज्ञान भी ऐसा ही भ्रम ज्ञान है।	रामानुज भ्रम-ज्ञान को 'सत् ख्याति' मानते हैं। भ्रमज्ञान का भी विषय सत् होता है, शुक्ति में जो रजत दिखाई देती है, उसकी वास्तविक सत्ता होती है। जगत का कोई ज्ञान अयथार्थ नहीं है–'यथार्थं सर्व विज्ञानम्'। अतः सृष्टि ज्ञान भी सत्य है क्योंकि रज्जु में सर्प के दर्शन के समय रज्जु व सर्प दोनों में तेज, जल, पृथ्वी तत्व रहते हैं अतः सर्प की प्रतीति भी सत् ही है, इसी प्रकार सृष्टि की प्रतीति सत् है मिथ्या नहीं।

जार्ज थिबौट ने शङ्कर व रामानुज का अन्तर इस प्रकार दिखाया है:—

There exists only one all embracing being called Brahman or the highest self or the Lord, this being is not destitute of attributes but rather endowed with all imaginable auspicious qualities. It is not 'intelligence'—as Sankara maintains—but intelligence is its chief attribute.................................He contains within himself whatever exists, while according to Sankara, the only reality is to be found in

the non-qualified homogeneous highest Brahman which can only be defined as pure 'Being' or pure thought, all plurality being a mere illusion. Brahman—according to Ramanuja's view—comprises within itself distinct elements of plurality which all of them lay claim to absolute reality of one and the same kind. Matter and Souls constitute the body of the Lord. They stand to him in the same relation of entire dependence and subserviency in which the matter forming an animal or vegetable body stands to its Soul or animating principle. The Lord pervades and rules all things which exist—material or immaterial as their Antaryamin. Matter and Souls as forming the body of the Lord are also called modes of him (Prakara). They are to be looked upon as his effects, but they have enjoyed the kind of individual existence which is theirs from all eternity, and will never be entirely resolved into Brahman. —Vedant Sutras—translated by George Thibaut Page 27.

———

द्वैताद्वैतवाद और निम्बार्काचार्य

यद्यपि निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुसार 'निम्बार्क' पाँचवीं शताब्दी में विद्यमान थे, परन्तु आधुनिक विद्वान् इन्हें ११ वीं शताब्दी का मानते हैं। रामानुज के वाद ये प्रथम वैष्णव आचार्य थे। ये तेलुगू ब्राह्मण थे। इनका दूसरा नाम नियमानन्द था। इनका नाम भास्कराचार्य भी था। एक जैन साधु को रात्रि में भोजन करने के लिए कहा पर वह प्रस्तुत न हुआ। तव भास्कराचार्य ने सूर्य के प्रकाश को योगवल से नीम के वृक्ष पर दिखाया, साधु ने भोजन किया। तव से ये 'निम्बार्क' कहलाये। निम्बार्क के ग्रन्थों में 'वेदान्त पारिजात सौरभ', 'दशश्लोकी' तथा 'सिद्धान्त रत्न' अधिक प्रसिद्ध हैं। 'वेदान्त पारिजात सौरभ' ब्रह्म सूत्र पर भाष्य है जो सम्प्रदाय का मूल ग्रन्थ है। इस सम्प्रदाय को सनकादि सम्प्रदाय भी कहते हैं। ब्रह्मा के चारों पुत्र सनक, सनन्दन आदि इस मत के आचार्य कहे जाते हैं। इन्हीं से उपदेशित नारद ने निम्बार्क को उपदेश दिया था। निम्बार्क की गद्दी ब्रज धाम में ही है। मथुरा के पास ध्रुव-क्षेत्र इस सम्प्रदाय का पवित्र तीर्थ माना जाता है। निम्बार्क के दो प्रसिद्ध शिष्य हुये। केशव भट्ट और हरि व्यास। केशव भट्ट के अनुयायी विरक्त होते हैं और हरि व्यास के अनुयायी गृहस्थ। 'भागवत' इस सम्प्रदाय का मुख्य ग्रन्थ है। इस मत पर हरिवंश, विष्णु पुराण तथा महाभारत का भी प्रभाव पर्याप्त रूप से पड़ा है।

निम्बार्क के अनुसार साधक प्रथम कर्मकाण्ड में रत होता है। तत्पश्चात् उसे नश्वर समझ कर भक्ति और ब्रह्म-मीमांसा की ओर प्रवृत्त होता है। साधना का उद्देश्य भगवान की प्रसन्नता और दर्शन-प्राप्ति है। जीव को इसी से परमानन्द की प्राप्ति होती है।

निम्बार्क दार्शनिक दृष्टि से द्वैताद्वैत या भेदाभेद के समर्थक थे। यह मत बहुत प्राचीन है। मध्वाचार्य ने अपना मत पुराणों के ऊपर आधारित किया था, परन्तु निम्बार्क का मत बहुत प्राचीन है। बादरायण के भी पूर्व औडुलोमि तथा आश्मरथ्य भेदाभेदवादी थे। रामानुज के गुरु यादवप्रकाश भी भेदाभेदवादी थे। भर्तृप्रपञ्च भी इसी सिद्धान्त को मानते थे। शङ्कर के बाद 'भास्कर' व 'यादव प्रकाश' भी इसी सिद्धान्त के पोषक हुए। यादव प्रकाश के बाद निम्बार्क ने इस मत की पुनः प्रतिष्ठा की। 'यादव प्रकाश' को कुछ लोग रामानुज का गुरु मानते हैं कुछ उनसे भिन्न।

चित् जीव—निम्बार्क भी रामानुज के समान चित्, अचित् व ईश्वर के भेद को मानते हैं। जीव बिना इन्द्रियों की सहायता के भी ज्ञान प्राप्त करता है, अतः वह 'प्रज्ञानघन' कहा गया है। जीव ज्ञान का आश्रय व ज्ञाता भी है। जीव कर्त्ता है, मोक्ष दशा में भी जीव में कर्तृत्व रहता है। ज्ञान व भोग की प्राप्ति के लिए वह भगवान् पर आश्रित है। जीव का नियामक ईश्वर है, मुक्त दशा में भी वह ईश्वर द्वारा नियम्य रहता है। शङ्कर जीव को अकर्त्ता मानते हैं। निम्बार्क तो मुक्त दशा में भी कर्तृत्व मानते हैं। परिमाण में जीव 'अणु' तथा संख्या में अनेक हैं।

भिन्न-भिन्न शरीरों में भिन्न-भिन्न जीव हैं। जीव ईश्वर का अंश है, अंश का अर्थ 'टुकड़ा' नहीं है। सर्वशक्तिमान ईश्वर अपनी शक्ति के अंशों को जीव रूप में परिणत करता है। अतः जीव भिन्न भी है और अभिन्न भी।

अचित्—निम्बार्क अचित् तत्व के तीन भेद मानते हैं (१) प्राकृत, (२) अप्राकृत, (३) काल। प्राकृत पदार्थों में बुद्धि से लेकर स्थूल महाभूतों तक सारे पदार्थ हैं। यह त्रिगुणात्मिका प्रकृति सांख्य के समान स्वतन्त्र नहीं है बल्कि ईश्वर के अधीन है।

२—अप्राकृत पदार्थ वे हैं जो प्रकृति के द्वारा निर्मित नहीं हैं यथा भगवान् के लोक। रामानुज का 'नित्य विभूति' पदार्थ यही है।

३—काल संसार का नियामक है पर स्वयं भगवान के अधीन है।

ईश्वर—रामानुज व निम्बार्क के ईश्वर की कल्पना एक सी है। दृश्यमान जगत के भीतर अन्तर्यामी नारायण व्याप्त है। जीव व ईश्वर में भेद-अभेद का सम्बन्ध नित्य और सर्वत्र है। जब जीव शरीर के बन्धन में बँधा रहता है तब वह ईश्वर से भिन्न होता है, उस समय ब्रह्म व्यापक, सर्वज्ञ, महत्-परिणाम वाला होता है और जीव व्याप्य, अल्पज्ञ तथा अणु परिणाम वाला है। यह भिन्नता सिद्ध हुई। किन्तु ईश्वर व जीव अभिन्न भी हैं, वृक्ष से पत्र उत्पन्न होकर भिन्न भी होता है और अभिन्न भी, दीपक से प्रभा भिन्न भी है और अभिन्न भी। मोक्ष दशा में भी जीव ब्रह्म से अभिन्न होने पर भी अपने स्वरूप को नहीं खोता।

रामानुज के अनुसार निम्बार्क भी भगवत-अनुग्रह को सर्वस्व मानते हैं और जीव को 'प्रपत्ति' का उपदेश देते हैं। जब तक शरीर है तब तक मुक्ति असम्भव है।

रामानुज लक्ष्मीनारायण की उपासना पर जोर देते हैं, निम्बार्क 'राधाकृष्ण' को अपना आराध्य मानते हैं। आगे चल कर 'माध्व' मत में राम व कृष्ण दोनों की मूर्तियाँ स्थापित कर दोनों को बराबर महत्व दिया था। पाँचरात्र मत के अनुसार निम्बार्क भी वासुदेव, संकर्पण, प्रद्युम्न व अनिरुद्ध को ईश्वर का अङ्ग मानते हैं।

सृष्टि की कल्पना में निम्बार्क व रामानुज में अन्तर है। जहाँ रामानुज जीव जगत विशिष्ट ईश्वर को मानते हैं, वहाँ जीव व जगत को निम्बार्क ईश्वर की शक्ति मानते हैं। जगत को दोनों परिणाम मानते हैं। रामानुज विशेषणभूत प्रकृति का परिणाम मानते हैं तो निम्बार्क शक्ति का। अतः जगत परिणामी व ईश्वर से भिन्न होने पर भी ब्रह्म पर अपनी जड़ता आदि का प्रभाव नहीं डाल पाता, अतः दोनों में भेद भी है और अभेद भी।

निम्बार्क और रामानुज में एक अन्तर यह भी है कि रामानुज भेद को प्रमुख न मान कर 'अभेद' को मानते हैं परन्तु निम्बार्क इसके विपरीत 'भेद' पर अधिक जोर देते हैं। रामानुज तथा निम्बार्क की भक्ति में अन्तर यह है कि जहाँ रामानुज ध्यान योग पर अधिक अवलम्बित रहते हैं और उपनिषद का आधार लेते हैं वहाँ निम्बार्क की

साधना अपने मूलभाव का त्याग नहीं करती। *

निम्बार्क का प्रभाव उत्तरी भारत पर अधिक पड़ा। मथुरा व बङ्गाल प्रान्त उनके प्रभाव क्षेत्र रहे। उनकी प्रेम लक्षणा प्रधान भक्ति का बङ्गाल में बहुत आदर हुआ। जिसका मुख्य आधार राधा, कृष्ण की उपासना थी। सभी वैष्णव भक्तों ने शूद्र जनता को अपनाया है। निम्बार्क ने कहा है कि 'मधुविद्या', 'शांडिल्यविद्या' जैसी वैदिक अनुष्ठानों की भक्ति वैदिक कही जाती है और उस पर तीन उच्च वर्णों का अधिकार है। पौराणिक भक्ति केवल भगवदाराधना से सम्बन्ध रखती है और उस पर शूद्रों का भी अधिकार है।‡

---

* वैष्णव धर्म—परशुराम चतुर्वेदी पृष्ठ ८५।

‡ वही।

द्वैतवाद और मध्वाचार्य

शङ्कर ब्रह्म को ही निमित्त व उपादान कारण मान कर चले परन्तु जगत जीव व ब्रह्म तीनों की एकता सिद्ध करने में 'माया' की कल्पना करनी पड़ी, जो 'रामानुज' को मान्य न हुआ, रामानुज ने 'ब्रह्म' के स्वगत भेद स्वीकार कर जगत व जीव को ब्रह्म का शरीर (अंश) घोषित किया और इस प्रकार जगत व जीव की पारमार्थिक सत्ता सिद्ध की। रामानुज में स्पष्टतः द्वैतवाद आ गया था। भेद तो रामानुज ने सिद्ध कर दिया पर अभेद सिद्ध करने के लिए उन्हें 'अपृथक स्थिति' की कल्पना करनी पड़ी जैसा कि हम पीछे देख आये हैं अतः उनका सिद्धान्त वस्तुतः 'भेदाभेदवाद' है। द्रष्टा को साधारण अनुभव में जगत, जीव व ईश्वर तीनों का अलग-अलग अनुभव ही होता है अतः द्वैतभाव प्रत्यक्षतः सिद्ध है। अद्वैत सिद्ध करने में ऊहापोह करना पड़ता है। मध्वाचार्य ने 'अद्वैतमत' के विरुद्ध इसी 'द्वैतमत' का प्रचार किया।

माध्वमत का दूसरा नाम 'ब्रह्म सम्प्रदाय' था, मध्व का दूसरा नाम था 'आनन्दतीर्थ'। दक्षिण भारत के 'उडुपी' नामक स्थान में ११९९ ई० में आपका जन्म हुआ। इनकी मृत्यु १३०३ में हुई। मध्व ने ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखा। उपनिषद, गीता, भागवत, महाभारत आदि पर भाष्य व टीकाएँ लिखीं। मध्व के बाद जयतीर्थ ने मध्व के ग्रन्थों पर भाष्य प्रस्तुत किये। इस सम्प्रदाय में अन्य आचार्य व्यासतीर्थ, रामाचार्य, पूर्णानन्द आदि प्रसिद्ध हुये।

हमने देखा है कि जहाँ दार्शनिक क्षेत्र में उपनिषद का बुद्धिवाद बढ़ता रहा था वहाँ भक्ति का पादप भी उग रहा था। दार्शनिकों ने प्रायः साधन मान कर भक्ति को स्वीकार कर लिया था। जैसे महा-

भारत में पाँचरात्र मत का अस्तित्व मिलता है तब इसके बहुत से अनुयायी रहे होंगे, किन्तु पुराणों पर आधारित होने के कारण तथा महापुरुषों—वासुदेव, अनिरुद्ध, संकर्षण आदि को प्रतीक रूप में ग्रहण करने के कारण स्वयं शङ्कर ने अवैदिक मत कह कर इसकी कड़ी आलोचना की थी, किन्तु भक्ति का वेग दब न सका। रामानुज ने स्पष्टतः पाँचरात्र से अनेक तत्व ग्रहण किये। शङ्कर के पश्चात् यह भक्तिमत दक्षिण में इतना प्रबल हो चुका था कि ज्ञान-वादियों तथा भक्त-आचार्यों में प्रतिस्पर्धा तक लग चुकी थी। ये परस्पर एक दूसरे के मतों का घोर खण्डन करते थे, रामानुज ने शङ्कर का खण्डन अवश्य किया है परन्तु हैं वे अद्वैतवादी ही उन्होंने भेद को स्वीकार कर के भी 'अभेद' को ही मुख्य माना है। निम्बार्क ने भी अद्वैत को माना है परन्तु ज्ञान व भक्ति की होड़ में 'मध्व' पहले आचार्य थे जिन्होंने शङ्कर की कठोर आलोचना की है। इसी सम्प्रदाय के पूर्णानन्द चक्रवर्ती के 'मायावाद शत दूषिणी' नामक ग्रन्थ में मायावाद के अनेक दोष दिखाये गये हैं और द्वैतभाव की पुष्टि कर भक्ति पर जोर दिया गया है। इस प्रकार रामानुज के समय से भक्ति को शास्त्रीय आधार प्राप्त हो गया। पुराणों में ज्ञान का खण्डन कहीं नहीं मिलता। भागवत आदि ग्रन्थों में ज्ञान की पूर्ण प्रतिष्ठा है। कपिल जैसे सांख्य दार्शनिक तक को भागवत ने 'भक्त' के रूप में दिखाया है। वहाँ ज्ञान व भक्ति में अवरोध है। शायद भक्तों ने ज्ञानियों को भक्त सिद्ध करने में गौरव अनुभव किया हो या उससे भक्ति मत की प्रतिष्ठा बढ़ने की बात हो किन्तु रामानुज और उनके बाद स्पष्टतः 'ज्ञान' के विरुद्ध आन्दोलन खड़ा हुआ। अद्वैतमत की शव-परीक्षा रामानुज से प्रारम्भ हो चुकी थी, उसे माध्व-मत ने पूर्णता दी। कुछ विद्वान् यह समझते हैं कि सूरदास आदि ने जो योग व ज्ञान का खण्डन किया है वह केवल योगियों की ही प्रतिक्रिया के कारण, परन्तु ऐसा नहीं है। ज्ञान के विरुद्ध प्रतिक्रिया तो 'माध्वमत' में ही तीव्र हो चुकी थी अर्थात् १२ वीं शताब्दी में भक्ति व ज्ञान की प्रतिस्पर्धा में भक्ति ऊपर आ चुकी थी। मध्वाचार्य के मन में शायद हठयोगियों, बज्रयानियों तथा संन्यासियों के ज्ञानवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई हो, परन्तु प्रतीत यही होता है कि मध्वाचार्य का सीधा युद्ध ज्ञान-वादियों से ही था। हमने दिखाया है कि जनता की

माँग पर धर्म का रूप बराबर सरल होता आ रहा था, विभिन्न कठिन साधनाओं से लोग ऊब चुके थे, वैष्णव आचार्य यह बात समझते थे अतः वे जनता को सरल भक्ति-मार्ग का उपदेश देते रहे। शङ्कर मत और भक्तिवाद के सीधे सङ्घर्ष में माध्वमत ने अद्वैतमत पर तीव्र प्रहार किये और भक्ति-मत की वकालत की।

अपने वेदान्ती गुरु शुद्धानन्द से वेदान्त का अध्ययन कर ये मठाधीश बन कर रहे और दक्षिण में कई शास्त्रार्थ किये।* गीता-भाष्य की रचना के बाद ये वैष्णव सम्प्रदाय का प्रचार करने लगे। उद्दीपि नामक स्थान में मध्व ने आठ मन्दिर स्थापित किये जिनमें राम-सीता, लक्ष्मण-सीता, कालिय-दमन, चतुर्भुज कालिय-दमन, विट्ठल की मूर्तियाँ स्थापित कीं। मध्व ने यज्ञ में पशु हिंसा निवारण की और बकरे के स्थान पर 'चावलों के बकरे' की बलि-प्रथा प्रचलित की। नारायण ने 'मध्व' की प्रशंसा में "मध्व-विजय" नामक ग्रन्थ लिखा।

सिद्धान्त—ब्रह्म सगुण और जीव 'अणु परिमाण' वाला है, वेद नित्य और अपौरुषेय है, पाञ्चरात्र ही जीव का आश्रय है। यहाँ तक रामानुज और मध्वाचार्य में अविरोध है परन्तु पदार्थ निर्णय व तत्व निर्णय दोनों में भेद है। मध्व द्रव्य बीस प्रकार का मानते हैं जिनमें परमात्मा और लक्ष्मी भी शामिल हैं। गुणों में शम, दम, सौन्दर्य की भी गणना है। इस प्रकार मध्वमत एकदम नवीन प्रतीत होता है। वस्तुतः इस मत पर पुराणों का बहुत अधिक प्रभाव है।

साधना—ऊपर कहे हुये पाँच प्रकार के भेदों का ज्ञान मुक्ति साधक है। उपासना के दो रूप हैं, १—शास्त्रानुशीलन, २—ध्यान। जीव मोक्ष के लिए ईश्वर के अधीन है, संसार का भी कोई कार्य बिना भगवान के अनुग्रह के नहीं हो सकता।

* हिन्दुत्व पृष्ठ ६६३-६६४।
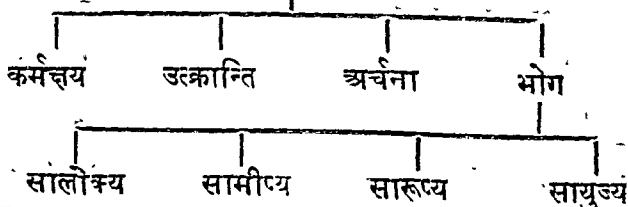
सायुज्य मुक्ति—ईश्वर के साथ एकाकार होकर आनन्द भोग सायुज्य मुक्ति है। इसमें भगवान के दिव्य स्वरूप में प्रवेश पाने से आनन्द मिलता है। यह सब भोगों में श्रेष्ठ है। सायुज्य का अर्थ लवण जल का मिल कर अभिन्न बन जाना नहीं है, क्योंकि मध्व प्रत्येक अवस्था में द्वैत मानते हैं। जीव भगवान के शरीर में प्रवेश कर उनके गुणमय अलौकिक शरीर के साथ भोग करता है। मध्व अभेद के शत्रु हैं, वे कहते हैं कि 'अहं ब्रह्मास्मि' 'मैं ब्रह्म हूँ' यह कहने पर ईश्वर साधक को दण्ड देते हैं। (यदि मध्व को मंसूर मिल जाता तो पुनः सूली पर चढ़ा देते।) स्वतन्त्र भगवान की प्रसन्नता प्राप्त करना ही पुरुषार्थ है। वस्तुतः मध्व की ईश्वर कल्पना एक महान शासक की कल्पना है। शासित की क्या मजाल जो स्वामी के साथ बराबरी का दम भरे। यहाँ मध्व रामानुज के पथ पर ही चल रहे हैं, यही प्रवृत्ति तुलसी में सुरक्षित रही। मध्व कहते हैं कि 'तत्वमसि' आदि वाक्यों के सुनने से कुछ भी ज्ञान नहीं होता ज्ञान प्राप्त करने का साधन है हरि-स्मरण, भजन, नाम-जप और रूप-ध्यान। निर्वाण, जीवन्मुक्ति व्यर्थ का दम्भ है, सारूप्य व सालोक्य मुक्ति ही यथार्थ है।

त्याग, भक्ति व ईश्वर की प्रत्यक्ष अनुभूति मुक्ति का एक मात्र साधन है। भक्ति, वेदाध्ययन, संयम, आशा व भय से उदासीनता, सांसारिक पदार्थों में नश्वरता का ज्ञान, आत्म-समर्पण ही मुक्ति के साधन हैं। सेवा से स्वामी (ईश्वर) प्रसन्न होता है। मध्व ने सेवा के रूप बड़े विचित्र बतलाये हैं, उनके अनुसार शरीर पर भगवान के अस्त्र-शस्त्रों को छाप लेना चाहिये। यह प्रथम सेवा है, पुत्रों आदि के नाम भगवान के नाम पर रखना द्वितीय सेवा है और तीसरी सेवा भजन है। (आज के युग में यदि मध्व की शिक्षा मान ली जाय अर्थात् आयुधों की छाप और पुत्रों के नाम भगवान के नाम पर रखने का आदेश मान लिया जाय तो मुक्ति प्राप्त हो सकती है।)

मध्व चार प्रकार की शक्तियाँ मानते है—(१) अचिन्त्य शक्ति, (२) आधेय शक्ति, (३) सहज शक्ति, (४) पद शक्ति। इनमें प्रथम शक्ति केवल भगवान में ही होती है जिसके बल पर वे विचित्र कार्य कर सकते हैं, लक्ष्मी वायु आदि अन्य देवताओं की शक्तियाँ भगवान से न्यूनकोटि की होती हैं।

मध्वाचार्य अद्वैत व द्वैत का समन्वय नहीं मानते जैसा कि रामानुज ने किया है। पाँच प्रकार के भेद शाश्वत हैं‡ —

१—ईश्वर व जीव का भेद—ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान है और जीव अल्पज्ञ, अल्प शक्तिवान्।

२—ईश्वर व जड़ जगत—ईश्वर चेतन और जगत जड़ है, प्रथम स्रष्टा है, द्वितीय सृष्टि।

३—जीव व जगत—जीव चेतन है, जगत जड़ है।

४—जीव व जीव—जीव अनेक हैं, उनके अनुभावों में भेद है, मोक्षावस्था में भी जीवों के अनुभवों में भेद होता है।

५—जड़ और जड़—पत्थर व पेड़ में भेद है।

मध्व दो मूल तत्व मानते हैं स्वतन्त्र और परतन्त्र। जीव व जड़ जगत परतन्त्र है, भगवान स्वतन्त्र।

ईश्वर—निर्गुण ब्रह्म मिथ्या है, ब्रह्म तो सगुण है जो अनन्त गुणों का भण्डार है, 'निर्गुण' सूचक वेद की श्रुतियाँ केवल ईश्वर के हेय गुणों का निराकरण करती हैं। ईश्वर की शक्ति लक्ष्मी है वह भी परमात्मा से भिन्न है पर भगवान के पूर्ण आश्रित है। ज्ञान, आनन्द व कल्याणमय गुण भगवान के शरीर हैं, वे एक होकर भी नाना रूप धारण करते हैं, सभी अवतार पूर्ण हैं। अवतारों और भगवान के नित्य स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है।

तान्त्रिकमतों में शक्ति को पुरुष के साथ अभिन्न मानते हैं। माध्व मत में लक्ष्मी विष्णु से बिल्कुल भिन्न हैं, वे नानारूप धारिणी हैं। ब्रह्मा, रुद्रादि के शरीर क्षयशील हैं पर लक्ष्मी अक्षय हैं। मध्व की लक्ष्मी व विष्णु की उपासना से स्पष्ट है कि उन्होंने रामानुज की तरह 'विष्णु' की उपासना पर ही जोर दिया है, अर्थात् उनके आराध्य 'विष्णु' ही थे। विष्णु के अवतारों में राम तथा कृष्ण को भी लिया है परन्तु गोपाल की उपासना का 'मध्व' ने उल्लेख नहीं किया। रामानुज ने तो पाँचरात्र मत को बहुत अधिक महत्व दिया था, परन्तु 'मध्व' के यहाँ आकर वह महत्व हीन हो गया था, और अब एक

‡ दर्शनशास्त्र का इतिहास—डा० देवराज।

नवीन वैष्णव मत चला जो आगे के लिये आदर्श बन गया। पाँच-रात्र के व्यूहवाद का यहाँ ज़िक्र तक नहीं आया। भण्डारकर कहते हैं—"मध्व के मत में व्यूह, वासुदेव तथा अन्यों के लिए कोई स्थान नहीं था। वे विष्णु को ही परब्रह्म के रूप में मानते थे, राम और कृष्ण को भी यहाँ प्रतिष्ठा मिली है, परन्तु गोपाल कृष्ण की उपासना यहाँ नहीं है। राधा का नाम भी नहीं आया। प्राचीन भागवत सम्प्रदाय यहाँ तक आकर लुप्त हो गया और सामान्य वैष्णव-धर्म को स्थान मिल गया।" (वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड अदर सिस्टम्स, भण्डारकर) परशुराम चतुर्वेदी ने 'वैष्णव-धर्म' में भण्डारकर के उक्त अंश का ग़लत अनुवाद किया है। उनके अनुवाद से ऐसा लगता है कि मध्व राम, कृष्ण, गोपाल, विष्णु किसी के उपासक नहीं थे। परन्तु भण्डारकर ने स्पष्ट 'मध्व' को विष्णु का उपासक माना है देखिये:—
"In his creed there its no place for the व्यूह, वासुदेव and others and the name by which the supreme spirit is spoken of is mostly Visnu. Some of his incarnation especially Rama and Krisna are also adored but the Gopal Krisna element seems to be entirely absent from his system." परशुराम चतुर्वेदी ने इसका सारांश यों लिखा है—"उनके मत मे व्यूह, वासुदेव आदि को स्थान नहीं है, और न उनके उपास्यदेव विष्णु एवं उनके राम तथा कृष्ण नामक अवतार हैं......" (वैष्णव धर्म पृष्ठ ८८) ऐसा प्रतीत होता है कि चतुर्वेदीजी ने जल्दी में अनुवाद किया है या प्रेस की भूल है। जो हो भण्डारकर मध्व को विष्णु का उपासक मानते हैं। स्वयं चतुर्वेदीजी उन्हें 'हरि या भगवान' का उपासक मानते हैं।

जीव—मध्व ने जीवों को तीन कोटि में बाँटा है, १—मुक्ति योग्य देव, ऋषि आदि, २—नित्य संसारी—सामान्य जन, ३—तमो योग्य—यथा पिशाच, राक्षसादि। जब संसार में ही जीव समान नहीं हैं तो जीव ईश्वर के समान कैसे हो सकता है? जीव सेवक व ईश्वर सेव्य है, स्वामी व सेवक में समानता कैसी? मुक्तावस्था में भी भिन्न-भिन्न जीव भिन्न-भिन्न प्रकार का आनन्दानुभव करते हैं, यही माध्वमत की विशेषता है। जिस प्रकार शङ्कर ने अद्वैत सिद्ध करने में कोई प्रयत्न शेष

उसकी प्रतिष्ठा पुनः न हो सकी। आगे के साहित्य में 'अभेद' का विकास अधिक हुआ। 'द्वैत' रहा पर उसे जो महत्व एक बार माध्व-मत में मिल गया वह उसे फिर कभी प्राप्त न हो सका। अंशांशी की रामानुजीय भावना ने कुछ ऐसा प्रभाव डाला कि 'वल्लभ' ने भी जीव को अणु माना। भक्ति के क्षेत्र में द्वैत-अद्वैत को ही प्रमुखता मिली। पर यह द्वैताद्वैत निम्बार्क का नहीं रामानुज का था। रामानुज और माध्व सम्प्रदायों के ऐतिहासिक महत्व पर विचार करते हुए श्री रानाडे ने लिखा है:—

The movement originated in the efforts made by a galary of saints and prophets who then adorned the land. "To make the nation more humane and at the same time to hold together by mutual toleration, and to suggest and partly carry out a plan of reconciliation with the Mohamadans, with the result that it tended to raise the nation generally to a higher level of capacity both of thought and action."

शुद्धाद्वैत और वल्लभाचार्य

शङ्कर अद्वैत मत के प्रवर्त्तक थे पर अद्वैत ब्रह्म में 'माया का सकाश मानते थे। रामानुज ने विशिष्ट ईश्वर का प्रतिपादन किया। वल्लभ ने 'माया' के कारण अशुद्ध ब्रह्म से माया को अलग कर उसे शुद्ध किया। अतः 'अद्वैत' शुद्ध होगया, इसीलिए वल्लभ का मत 'शुद्धाद्वैत' कहलाया।

वल्लभ रुद्र सम्प्रदाय के पुनरुद्धारक थे। इस सम्प्रदाय के आदि आचार्य थे 'विष्णु स्वामी'। ये गोपाल के उपासक थे। कहा जाता है कि विष्णु स्वामी के सम्प्रदाय में ही ज्ञानदेव, त्रिलोचन व नामदेव जैसे प्रसिद्ध सन्त हुये। इसी मत का वल्लभ ने अनुसरण किया और अपना प्रसिद्ध 'पुष्टिमार्ग' चलाया।

वल्लभ का जन्म १४७९ ई० में चम्पारण्य में रायपुर, मध्य-प्रान्त में हुआ। पिता का नाम लक्ष्मण-भट्ट तथा माता का नाम श्रीमती इलम्मागारु था। ये भारद्वाज कुल के ब्राह्मण थे और इस कुल में लक्ष्मणभट्ट तक १०० सोमयज्ञ पूर्ण हो चुके थे। अतः वल्लभ के पिता लक्ष्मण ने काशी में सोमयज्ञ की पूर्णाहुति देने के लिए काशी को प्रस्थान किया। रास्ते में ही वल्लभ का जन्म हुआ। विश्वास है कि जिस कुल में १०० सोमयज्ञ हो जाते हैं, उसमें भगवान् स्वयं अवतार लेते हैं। अतः वल्लभ के रूप में स्वयं भगवान् ने ही जन्म लिया था। काशी में माधवेन्दुपुरी में आपने अध्ययन किया। वल्लभ ने विजयनगर के राजा कृष्णदेव की सभा में विद्वानों को शास्त्रार्थ में परास्त किया और पूजित हुये। वल्लभ ने विजयनगर से क्षिप्रा के तट पर एक अश्वत्थ वृक्ष के नीचे विश्राम किया था, अतः आज भी यह स्थान 'आचार्य कुआँ'

कहलाता है (हिन्दुत्व पृष्ठ ६७६) अन्त में आचार्य वृन्दावन में रहने लगे। श्री चैतन्य महाप्रभु से आपका साक्षात्कार हुआ था।

आचार्य ने ब्रह्म सूत्र पर अणुभाष्य, भागवत की टीका, आदि अनेक ग्रन्थों की रचना की।

विट्ठलनाथ—(१५१६–१५८६ ई०) ये आचार्य के द्वितीय पुत्र थे, इन्होंने शृङ्गार-रस मण्डन, सुबोधिनी टिप्पणी आदि ग्रन्थ लिखे। विट्ठलनाथ को 'गोसाईं जी' कहते थे। इनके सात पुत्रों ने अलग-अलग गद्दियाँ स्थापित कीं। इनके नाम ये है—गिरधरराय, गोविन्द-राय, बालकृष्ण, गोकुलनाथ, रघुनाथ, यदुनाथ, घनश्याम। वल्लभ सम्प्रदाय की शिष्य परम्परा में कृष्णचन्द्र व पुरुषोत्तम प्रख्यात आचार्य हुए हैं। पुरुषोत्तम का 'भाष्य प्रकाश' ग्रन्थ बहुत विद्वत्तापूर्ण है। विट्ठल के पुत्रों में गिरधर का 'शुद्धाद्वैत मार्त्तण्ड' बहुत प्रसिद्ध है।

स्नेह, आसक्ति और प्रीति के बल पर भगवान को दुलराने वाले भक्त वल्लभ सम्प्रदाय ने ही दिये। साधना को सरल करने की प्रवृत्ति जो 'रामानुज' से प्रारम्भ हुई उसकी चरम पूर्णता वल्लभ में ही दिखायी पड़ी। रामानुज के सम्प्रदाय में यद्यपि 'टैंकले' सम्प्रदाय के भक्त 'मार्जार शिशु' भाव के अनुसार भक्त के लिए केवल 'प्रपत्ति' पर जोर देते हैं भगवान ही मार्जारी की भाँति अपने शिशु (भक्त) की देखरेख करते है परन्तु 'वड़कलैं' मत ने कर्म का स्पष्टतः विधान किया था। मध्व व निम्बार्क ने भी भक्ति की महत्ता में कर्म की पूर्ण अव-हेलना नहीं की। वल्लभ ने इस दिशा में क्रान्ति की, उन्होंने भक्त के लिए केवल 'आत्मसमर्पण' की शर्त रक्खी, और शेष सब भगवान के ऊपर छोड़ने की बात कही। भगवान की प्राप्ति, 'प्रयत्न' से नहीं किन्तु 'प्रीति' से होती है यह घोषणा वल्लभ ने की।

वल्लभ की दूसरी देन भक्ति के क्षेत्र में भगवत प्राप्ति के लिये रागात्मक वृत्तियों को माध्यम बनाने का कार्य था। जीवन में दो भावनाएँ मुख्य हैं, प्रेम व वात्सल्य। आचार्य ने भगवान के दो रूपों 'स्वामी' और 'शिशु' को ही आराध्य बताया। रामानुज व मध्व के सेव्य-सेवकवाद को महत्व नहीं दिया। रञ्जनात्मक प्रवृत्तियों के पोषण तथा भगवान की केवल मधुर लीलाओं को ही ध्येय मान कर चलने

से विषाद-ग्रस्त जनता में वल्लभ-मत का प्रचार सर्वाधिक रूप से हुआ। वल्लभ की एक और देन है—संन्यास धर्म का खण्डन। गृहस्थ रह कर भी भगवद्-भक्ति सम्भव है, यह बात संन्यास-धर्म से कहीं अधिक सामाजिक है। प्रत्येक गृहस्थ कृष्ण मन्दिर की दैनिक पूजा में सम्मिलित हो कर, कीर्तन से, हरिलीला श्रवण आदि के द्वारा उद्धार पा सकता है। कीर्तन आदि अधिक सामाजिक इसलिए हैं क्योंकि इनमें सामूहिक साधना रहती है। वल्लभ कोरी व्यक्तिगत साधना गृहस्थों को नहीं बतलाते। यह बात दूसरी है कि आगे विकृतियाँ आ जाने पर ये कृष्ण-मन्दिर दम्भ व वैभव के केन्द्र बन कर रह गये।

वल्लभ ने दार्शनिक दृष्टि से 'भेदाभेदवाद' को महत्व न देकर शुद्ध अद्वैत का मण्डन किया। अतः वल्लभ रामानुज व शङ्कर दोनों को स्वीकार नहीं करते, वल्लभ की प्रक्रिया उनकी अपनी है। उन्होंने भी श्रुतियों में सामञ्जस्य खोजने का प्रयत्न किया है। शङ्कर को 'माया' का आश्रय लेना पड़ा था, रामानुज को ब्रह्म के स्वगत भेद स्वीकार करने पड़े थे। वल्लभ ने ब्रह्म को परस्पर विरोधी गुणों का आश्रय मान कर सगुण-निर्गुण की समस्या को ही समाप्त कर दिया, ब्रह्म सब कुछ हो सकता है। जगत जीव व ब्रह्म का अभेद दिखलाने तथा जगत की सत्ता सिद्ध करने के लिए वल्लभ ने आविर्भाव व तिरोभाव का सिद्धान्त निकाला। इस प्रकार मध्व, निम्बार्क से कहीं अधिक मौलिकता के दर्शन हमें 'वल्लभ' में होते हैं। मध्व की कृष्णोपासना तथा विष्णुस्वामी की गोपालोपासना में भी विस्तार न था। उसमें वह मनोवेग न था जो वल्लभ और चैतन्य में दिखाई पड़ा। वल्लभ व चैतन्य का ऐतिहासिक कार्य था भजन, कीर्तन, पूजा पद्धति द्वारा जन-समाज के निकट पहुँचना। (वैष्णव धर्म, पृष्ठ ६८)

वल्लभ, रामानुज व रामानन्द के समान ही एक चतुर लोक-नायक थे। साधारण जनता की वृत्ति को वे खूब पहचानते थे। वे जानते थे कि योगमार्ग, ज्ञानमार्ग, वाममार्ग जैसे कठिन और दुःसाध्य मार्ग व्यर्थ ही नहीं हानिकर भी हैं। साथ ही परिस्थिति बदल चुकी थी। मध्व, निम्बार्क के समय यवन आक्रमणों से उत्पन्न दुरवस्था का प्रश्न ही नहीं था। रामानुज ने दलित समाज की समस्याओं को देखा

था। शङ्कर के सम्मुख केवल समाज की वैदिक शुद्धि का प्रश्न था। अतः बल्लभ में आत्म-रक्षण प्रवृत्ति का रूप ऐतिहासिक क्रम में चला। उन्होंने समाज, धर्म की गति को देख कर रामानुजीय 'दैन्य' के मार्ग को छोड़ा। भगवान के आगे दीनता-प्रदर्शन से दयासागर को दया हो आये यह ठीक है परन्तु बल्लभ के समय तो हिन्दू जनता के मान का प्रश्न था। १६ वीं शताब्दी में जनता के आकर्षण के केन्द्र थे आगरा व देहली के वैभव से ओत-प्रोत दरबार जहाँ काञ्चन-कामिनी, सौन्दर्य व सुरा का बोलबाला था। बल्लभ ने देखा कि कोरी दीनता से दरबारों के प्रति आकर्षण और भी बढ़ेगा। अतः उन्होंने लौकिक बादशाहों के भी बादशाह, अलौकिक गोलोकवासी कृष्ण की सौन्दर्य, सङ्गीत और वैभव से ओत-प्रोत लीलाओं को ब्रजधाम पर उतार कर जनता के मन को द्रुत-गति से आकर्षित किया। भगवान की मोहनी छवि में निमग्न रहने वाले भक्त लोगों को वृन्दावन का अञ्चल इतना मधुर लगा था कि एक सन्त (कुम्भनदास) ने खीज कर कहा था:—

> सन्तन कौं कहा सीकरी सौं काम,
> आवत जात पनहियाँ टूटैं, बिसरि गयो हरि नाम।

जैसे लौकिक वैभव में मदोन्मत्त बादशाही को जनता के अटूट विश्वासों की यह खुली चुनौती थी। कृष्ण के मोहक और सुकुमार रूपों को आराध्य बना कर आनन्द की अजस्र वर्षा से अद्भुत आशा का सञ्चार हुआ। बल्लभ का सम्प्रदाय १६ वीं शताब्दी में हिन्दू-संस्कृति का 'संरक्षण शिविर' था। जिसमें आसेतु फैली हुई हिन्दू जनता को आत्म-रक्षा का गम्भीर आश्वासन छिपा था।

प्रायः कहा जाता है कि बल्लभ ने यवनों के आक्रमणों से पराजित हिन्दू जनता के सम्मुख बाल गोपाल की आराधना रक्खी जिससे वह वात्सल्य-लीला में अपना दुःख भूल सकी। किन्तु ऐसे लोग यह भूल जाते हैं कि जहाँ पराजित जाति अपना दुख भूल सकी वहाँ बल्लभ ने हिन्दू, मुसलमान दोनों को कितना निकट ला दिया। बल्लभ के आराध्य की कल्पना ने ही रहीम, आलम, ताज आदि मुसलमान हरिजनों को प्रभावित किया था। इस प्रभाव का मूल कारण कृष्ण के मोहक रूप की कल्पना थी। इसीलिए कृष्ण भक्तिधारा इतनी पल्लवित

और पुष्पित हुई। वस्तुतः कृष्ण-भक्ति के प्रचार के पीछे मनोवैज्ञानिक कारण था। वल्लभ ने इसे पहचान लिया था। कबीर खण्डन कर चुके थे पर उसका क्या प्रभाव पड़ा। जायसी ने अलबत्ता प्रेम का मार्ग अपनाया था पर वहाँ ब्रह्म निर्गुण था जिसका आभास तो हम पा सकते थे पर १६ हज़ार योगियों के साथ रत्नसिंह की तरह सिंघल जाने का साहस जनता में न था। साथ ही इस सूफी धर्म में एकान्तिकता भी अधिक थी। कबीर ने खण्डन की पद्धति पर जो एकता का मार्ग निकाला था उस पर वल्लभ ने जनता को एक दूसरी पद्धति से चलाया। सुधार प्रायः कटुता का आश्रय पकड़ कर कलुषित हो जाता है। वल्लभ ने एकता का आन्दोलन नहीं चलाया। शूद्रों व यवनों को ब्रह्म-विद्या का अधिकार भी नहीं दिया, परन्तु उन्होंने मोहक आराध्य की कल्पना से जनता की वृत्ति से 'घृणा' का नाश किया। कृष्ण-भक्तों की अपनी तन्मयता का, भगवान के प्रति आसक्ति व लगन का, सङ्गीत के सुललित पदों से गाई हुई मधुर लीलाओं का, सौन्दर्य से स्नात कृष्ण के मधुर रूपों के ध्यान से उत्पन्न सौन्दर्य की भावना का दुहरा प्रभाव पड़ा। हिन्दुओं की वह वृत्ति जो विधर्मियों को म्लेच्छ कहती थी, शिथिल हुई। यवनों की वह वृत्ति जो पराजितों से नफ़रत करती थी, स्वयंमेव कृष्ण में निमग्न होती गई। अकबर बीरबल के साथ कृष्ण-भक्तिके पद बनाया करता था। रहीम व रसखान ने वैराग्य धारण कर लिया था, ताज 'मुसलमानी' हो कर भी 'हिन्दुआनी' होने को तैयार होगई थी। कृष्ण में सौन्दर्य था, सङ्गीत का मोहक आकर्षण था, हृदय की प्रीति का भगवान के लिए मूल्य था। अतः एक ऐसा वातावरण बनता गया जिससे घृणा, धर्म व विद्वत्ता का दम्भ, एक दूसरे पर हावी होने की प्रवृत्ति कम होती गई। तुलसी जागरूक प्रहरी थे। उन्हें चिन्ता थी कि यदि कृष्ण ने धनुष बाण न लिया तो उनका सिर न झुकेगा। समाज की रक्षा न होगी। सूरदास को कृष्णलीला में रत रहने से यह सब सोचने का अवकाश ही कहाँ था। वे तो सर्व-लय-कारिणी तन्मयता में अपने को खो चुके थे। इसीलिए उनके प्रेम गीत हिन्दू-मुसलमानों को अधिक निकट ला सके। कृष्ण तो सौन्दर्य व काम के अवतार थे और उस वातावरण में यह आकर्षण घृणा का सर्वाधिक नाश करने में पूर्ण सफल प्रमाणित हुआ।

सर्व साधारण जनता को, जो आक्रमण से पराजित होकर लुटी हुई थी, जो उच्च वर्ग के सामन्ती अत्याचार से पिसी हुई थी, जो राजनैतिक ही नहीं सामाजिक विषमता से भी पीड़ित थी, कृष्ण जैसा आराध्य मिला। प्रत्येक आँगन में बाल-भगवान किलकने लगे। प्रत्येक प्रेमिका को उसका प्रेमी मिल गया। प्रत्येक जननी को यशोदा का गौरव मिला, बाल सखाओं को 'गोपाल' मिला। तात्पर्य यह कि कृष्ण की कल्पना ने जनता के हृदय को जीत लिया। क्या हिन्दू, क्या मुसलमान सभी उनके प्रेम में डूब गये।

प्रश्न उठेगा कि समाज-कल्याण की यह पद्धति क्या खतरों से पूर्ण नहीं थी? अवश्य थी, क्योंकि वल्लभमत में 'आसक्ति' को ही माध्यम बनाया गया था। प्रयत्न व पुरुषार्थ की आवश्यकता ही न थी। केवल क्रीड़ा-विनोद, जिनकी ओर स्वतः मनुष्य आकर्षित हो जाता है, का बाहुल्य था। और वह खतरा उसी अनुपात में बढ़ता गया जिस अनुपात में साधना के प्रति उदासीनता बढ़ी। चूँकि वल्लभ ने भगवान के वैभव व भोग प्रदर्शन को सीमा निर्धारित नहीं की थी, अतः साधक की वृत्ति में स्खलन आना स्वाभाविक था। फलतः दम्भ को आगे चल कर प्रश्रय मिलता गया। गद्दियाँ भोग-विलास का साधन बनती गईं और इधर राजनैतिक वातावरण भी विलासी होता गया। फलतः भक्त गायकों के स्थान पर 'राधाकृष्ण' के बहाने से श्लील, अश्लील शृङ्गार का एकछत्र राज्य स्थापित हो गया। यही रीतिकाल था।

अपनी रोचकता और जन-साधारण की प्रवृत्तियों की अनुकूलता के कारण वल्लभमत का इतना अधिक प्रचार हो सका किन्तु विलासिता के युग में प्रवृत्तियों के पतन होते ही वल्लभ सम्प्रदाय का पतन हुआ। वल्लभीय-मत में मुख्यतः 'बाल-गोपाल' की ही पूजा प्रचलित थी, कृष्ण की बाललीलायें ही वल्लभ को विशेष प्रिय थीं किन्तु आगे 'राधा' का भी प्रवेश हो गया। तब से राधा कृष्ण के प्रेम-विहार का महत्व बढ़ता गया। राधा की महत्व वृद्धि ने काम-वासना की ओर उन्मुख होने का मार्ग शीघ्रता से प्रशस्त किया जैसा कि 'सखी भाव' की उपासना में आगे चलकर हुआ। वल्लभ ने 'बालकृष्ण' व चैतन्य ने युगल मूर्ति को आराध्य चुना। चैतन्य ने पहले से ही

राधाभाव को स्वीकार किया था, परन्तु वल्लभ के यहाँ 'राधा' कुछ समय बाद आई। किन्तु एक बार 'जुगल-प्रिया' की आराधना बढ़ने पर सखी-भाव का भी प्रवेश हुआ जिसे 'भारतेन्दु' मानते थे और परिणामतः इस सम्प्रदाय में रसिकता की सीमा का अतिक्रमण होने लगा। गद्दी धारियों में चरित्र-पतन एक सामान्य गुण हो गया। गुजरात मे इसी विकृति की प्रतिक्रिया में 'सहजानन्द' का उद्धवि या नारायणी सम्प्रदाय उठा था, परन्तु कुछ हो न सका। वल्लभ मत ने आगे रीतिकाल में विलासिता के लिये राधा, कृष्ण व गोपी का आदर्श दिया।

वल्लभीय दर्शन

वल्लभ के अनुसार ब्रह्म माया से अलिप्त है। ब्रह्म परस्पर विरुद्ध धर्मों का आश्रय है। शङ्कर निर्गुण ब्रह्म को माया के सकाश से सगुण बतलाते हैं। परन्तु वल्लभ ब्रह्म के दोनों रूपों को नित्य मानते हैं। माया से ब्रह्म सगुण नहीं होता बल्कि ब्रह्म के दोनों रूप स्वाभाविक हैं, जो ब्रह्म अणोरणीयान् है वह महतो महीयान् भी है। ब्रह्म एक होकर भी अनेक है। स्वतन्त्र होकर भी भक्तों के अधीन है। वल्लभ सजातीय, विजातीय व स्वगत भेदों से ब्रह्म को रहित मानते हैं, "सजातीय चेतन सृष्टि उससे अलग नहीं, विजातीय जड़ सृष्टि उससे भिन्न नहीं और स्वगत अन्तर्यामी रूप भी उससे भिन्न नहीं।" वह ब्रह्म 'रथ' भी है, रथी भी और सारथी भी—एक ही सत्ता के तीन रूप हैं, तीनों तत्त्वतः एक हैं। रथी, रथ पर बैठकर सारथी को आज्ञा देता है तो मानो वह स्वयं अपने आप को ही आज्ञा देता है, आज्ञादाता से आज्ञापालक भिन्न नहीं है। इसी प्रकार लीला निमित्त कृष्ण पर-ब्रह्म इस जगत के रूप में अपने अंश रूप से बदल जाता है और स्वयं ही जीव बनता है, और इस प्रकार वह जीव जगत के साथ क्रीड़ा करता है, मानो वह अपने आप से ही खेल रहा हो। ब्रह्म या कृष्ण लीला रूप में चार रूपों को धारण कर लेता है—वासुदेव (मुक्तिदाता का रूप) संकर्षण (शत्रुनाशक का रूप) प्रद्युम्न (जीवनदाता का रूप) तथा अनिरुद्ध (धर्म रक्षक का रूप)। जिस प्रकार कृष्ण के सत्व, रज, तमस गुणों के सकाश से विष्णु, ब्रह्म व रुद्र में क्रमशः

बदल जाता हैं इसी प्रकार उपर्युक्त चार रूप भी उसी एक सत्ता के हैं। इस प्रकार लीलार्थ ही भगवान अनेक रूप धारण करता है और सबसे अलग भी बना रहता है, ऐसा करने में उसमें विकार नहीं आता। क्योंकि वह विरुद्ध धर्मों का आश्रय है। ब्रह्म के तीन प्रकार है—१—आधिदैविक परब्रह्म, २—आध्यात्मिक अर्थात् अक्षर परब्रह्म, ३—आधिभौतिक अर्थात् जगत् रूपी परब्रह्म। अतः जगत सत्य है क्योंकि लीला-धाम भगवान स्वयं जगत के रूप में फैला हुआ है। ब्रह्म कारण है, जगत् कार्य, जब कारण सत्य है तो कार्य भी सत्य ही होगा। वल्लभ ने जगत व ब्रह्म के सम्बन्ध को लपेटे गये वस्त्र से समझाया है। जिस प्रकार वस्त्र को फैलाने पर वस्त्र वही रहता है उसी प्रकार ब्रह्म जगत् के रूप में फैल गया है और प्रलय काल में यही वस्त्र सिमट कर "कारण ब्रह्म" के रूप में सूक्ष्म रूप हो जाता है। इस प्रकार ब्रह्म का आविर्भाव जगत के रूप में होता है, और तिरोभाव की अवस्था में केवल ब्रह्म रह जाता है।

गीता में क्षर पुरुष अर्थात् प्रकृति से अक्षर ब्रह्म को श्रेष्ठ बताया गया है, परन्तु इस अक्षर ब्रह्म से भी परब्रह्म श्रेष्ठ है। कृष्ण साक्षात् परब्रह्म है, उनका रूप माया की उपाधि का परिणाम नहीं है। अक्षर ब्रह्म में आनन्द कम रहता है। पूर्ण आनन्द की प्रतिष्ठा तो पुरुषोत्तम (कृष्ण) में ही रहती है। अक्षर ब्रह्म केवल ज्ञान से प्राप्त हो सकता है परन्तु पुरुषोत्तम केवल अनन्य भक्ति से ही मिलता है। यहाँ शङ्कर की पद्धति को उलट दिया गया है। शंकर सगुण भगवान की प्राप्ति के लिये भक्ति को आवश्यक मानते हैं परन्तु निर्गुण निर्विशेष ब्रह्म की प्राप्ति केवल ज्ञान से ही हो सकती है। वल्लभ शंकर के अक्षर (निर्गुण) ब्रह्म को पुरुषोत्तम (साकार ब्रह्म) से हीन बताकर ज्ञान से भक्ति का महत्व बढ़ा देते हैं। ज्ञान से पुरुषोत्तम की प्राप्ति नहीं हो सकती। रामानुज भी भक्ति को ही मुख्य मानते हैं परन्तु वल्लभ का विभाजन भक्ति को और भी ऊँचा उठा देता है वल्लभ ने क्षर, अक्षर तथा 'पुरुषोत्तम' की कल्पना गीता से ग्रहण की है। गीता में पुरुषोत्तम' को 'अक्षर' से बड़ा माना गया है (यस्मात् अक्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः, अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः)। वल्लभ इसी आधार पर सृष्टि कर्त्ता ब्रह्म को 'अक्षर' कहते हैं। परन्तु प्रश्न यह है कि पुरुषोत्तम

या परब्रह्म में तो सत्, चित्, आनन्द, तीनों गुणों का आविर्भाव रहता है, 'अक्षर ब्रह्म' में आनन्द का तिरोभाव रहता है या नहीं, अन्यथा दोनों में एक की उच्चता कैसे स्थापित होगी। वल्लभ इस प्रश्न का उत्तर देते हैं। उनके अनुसार 'अक्षर ब्रह्म' भी सत्, चित् आनन्दमय है, परन्तु अक्षर ब्रह्म का आनन्द उसी प्रकार का आनन्द नहीं है जिस प्रकार का आनन्द परब्रह्म में रहता है। अक्षर ब्रह्म के आनन्द को वल्लभ 'गणितानन्द' कहते हैं, अतः अक्षर ब्रह्म तथा पुरुषोत्तम (परब्रह्म) के आनन्द में 'मात्रा' का अन्तर है। जीव ज्ञान मार्ग से अक्षर ब्रह्म में मिलकर एक हो सकता है, यही सायुज्य मुक्ति है। परन्तु वह परमधाम में जहाँ पुरुषोत्तम नित्य लीला करते हैं, भगवान की निकटता की प्राप्ति केवल पुष्टि मार्ग द्वारा ही कर सकता है। देवताओं की कृपा को अधिक महत्व नहीं दिया गया, क्योंकि वे तो अक्षर ब्रह्म के अवतार हैं, मुख्यतः ब्रह्मा, विष्णु, महेश तो अक्षर ब्रह्म के ही अवतार माने जाते हैं। इस प्रकार एक ही ब्रह्म के निम्नलिखित रूप होते हैं—

ब्रह्म

पूर्ण पुरुषोत्तम—	अक्षर ब्रह्म	अन्तर्यामी
रस रूप श्रीकृष्ण—	काल, कर्म, स्वभाव	रूप २४
उपनिषदों में परब्रह्म	प्रकृति, जीव, देवादि	अवतार
इसी को कहा है।	के रूप में प्रकट होने वाला।	धारी

परब्रह्म सत्, चित्, आनन्दमय है। वल्लभ ने अद्वैत सिद्धि के लिए तीनों गुणों के आविर्भाव व तिरोभाव की कल्पना की है, परब्रह्म में उक्त तीनों गुण नित्य रूप से रहते हैं किन्तु लीला की इच्छा होने पर ब्रह्म अपने आनन्द गुण का तिरोभाव (लोप) कर जीव रूप में उसी प्रकार विस्तृत हो जाता है जैसे अग्नि से चिनगारियाँ निकल कर फैल जाती हैं। चिनगारी व अग्नि अभिन्न हैं उसी प्रकार ब्रह्म व जीव में भी अभेद है। इसी प्रकार ब्रह्म चित् (चेतना) तथा आनन्द दोनों का लोप कर जगत के रूप में अपना विस्तार करता है। अतः जड़ जगत में केवल 'सत्यता' का गुण रहता है। प्रलयकाल में जगत व जीव के गुण परब्रह्म में मिल जाते हैं। इस प्रकार सत्, चित्,

आनन्दमय ब्रह्म लीला करता है। यह जगत उसी का लीला-धाम है। जीव व जगत ब्रह्म के अंश होने से नित्य हैं। 'तत्त्वमसि' वाक्य से भी अंशांशी भाव ही पुष्ट होता है। जीव के दुःखों का कारण उससे ऐश्वर्य, यश, श्री तथा ज्ञान का तिरोधान (लोप) है। इससे जीव में क्रमशः दीनता, हीनता, विपत्ति और अज्ञान की उत्पत्ति हो जाती है। वल्लभ जीव को अणु रूप मानते हैं। वह ज्ञाता तथा ज्ञानस्वरूप है।

जीव तीन प्रकार के हैं—(१) शुद्ध, (२) मुक्त, (३) संसारी। यश, श्री, ज्ञानादि के तिरोधान के पूर्व जीव शुद्ध रहता है। अविद्या से युक्त हो जाने से जीव संसारी हो जाता है। संसारी जीव दो प्रकार के होते हैं— १) आसुर, (२) दैव। दैव जीव दो प्रकार के हैं—मर्यादा मार्गीय, (२) पुष्टि मार्गीय। इस विभाजन को समझने के लिए हम यहाँ तालिका प्रस्तुत करते हैं—
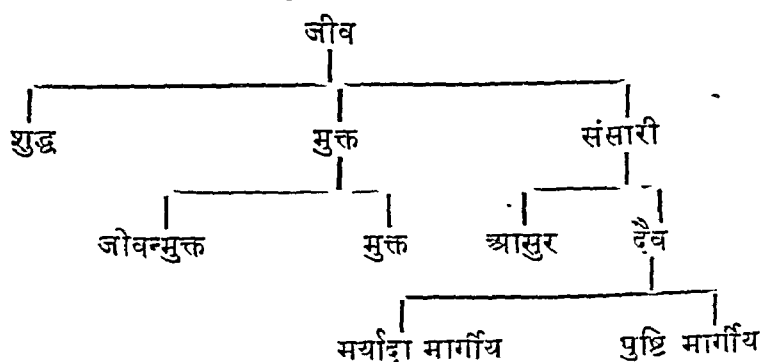
हम कह चुके हैं कि जीव में सत् व चित् रहता है, आनन्द का अभाव हो जाता है परन्तु भगवान के अनुग्रह से वह आनन्द पुनः जीव में उत्पन्न हो जाता है यदि जीव पुष्टि मार्ग का अनुगमन करे। मुक्त अवस्था में जीव सच्चिदानन्द बन जाता है क्योंकि उसे लुप्त 'आनन्द' अंश पुनः मिल जाता है। यही अभेद अवस्था है। 'तत्त्वमसि' महावाक्य इसी ओर संकेत करता है। सोने से बने आभूषण सोने से अभिन्न हैं, इसी प्रकार जीव व ब्रह्म भी अभिन्न हैं।

जगत—रामानुज 'जगत' की कल्पना में 'परिणामवाद' को मानते हैं—यह हम देख चुके हैं। वल्लभ भी 'परिणामवाद' को मानते हैं, परन्तु उनका परिणामवाद 'अविकृत परिणामवाद' कहलाता है।

अर्थात् ब्रह्म कारण है और जगत उसका परिणाम है, परन्तु जगत के रूप में ब्रह्म परिवर्तित होने पर भी वह अविकारी ही रहता है। उसमें विकार नहीं आता। प्रश्न होगा जब दूध दही में परिणत होता है तब तो उसमें विकार आ जाता है, फिर ब्रह्म जगत के रूप में परिणत होते समय अविकारी कैसे रहेगा ? उत्तर होगा ब्रह्म विरुद्ध गुणों का आश्रय है, इस कारण ब्रह्म जगत के रूपों में कुछ गुणों का तिरोधान कर परिणत हो जाता है अतः अविकारी रहता है। जैसे सुवर्ण से आभूषण बनते हैं पर सुवर्ण अविकारी ही रहता है, वैसे ही ब्रह्म अविकृत रहता है। वल्लभ जगत को नित्य मानते हैं। उसकी उत्पत्ति व विनाश नहीं होता केवल आविर्भाव व तिरोभाव होता है।

वल्लभ जगत व संसार में अन्तर मानते हैं यह एक सर्वथा नवीन विचार है। उनके अनुसार ईश्वर की इच्छा से ईश्वर के केवल सत् अंश का विस्तार जगत है। किन्तु 'संसार' अविद्या के कारण ममता रूप पदार्थ है। संसार की प्रत्येक वस्तु नश्वर है। कांचन, कामिनी, वैभव, शरीर ये सब संसार हैं। किन्तु सृष्टि का अनादि प्रवाह 'जगत' है, जो नित्य पदार्थ है और ब्रह्म के सत् अंश से निर्मित है। ज्ञान के उदय होने पर ममतामय संसार का नाश हो जाता है, परन्तु 'जगत' का नाश नहीं हो सकता क्योंकि वह तो ब्रह्म रूप है। वृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है 'एकाकी न रमते', अर्थात् ब्रह्म अकेले रमण नहीं करता। वह अपनी अनन्त शक्ति से जीव व जगत के रूप में अपना विस्तार करता है। अतः सब कुछ ब्रह्म ही है 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'। जगत शक्ति है ब्रह्म शक्तिमान्। शक्ति का शक्तिमान् से अभेद है

संसार व जगत के अन्तर को वल्लभ ने माया व अविद्या में अन्तर करते हुये बतलाया है कि जगत तो ईश्वर का ही रूप है। स्वयं ब्रह्म ही जगत के रूप में, अपने चित् व आनन्द गुणों का तिरोभाव करके बदल गया है, इस रूप परिवर्तन में 'माया' नामक शक्ति से सहायता ली गई है, परन्तु जहाँ जगत 'माया' नामक शक्ति का परिणाम है वहाँ संसार जीव की अविद्या का परिणाम है, अतः जगत ईश्वर कृत व संसार जीव कृत है। इसीलिये संसार का नाश हो जाता है, जगत का नहीं, क्योंकि वह ब्रह्म का ही सत्रूप है। संसार चूँकि

जीव के अज्ञान का फल है अतः झूठे संसार को जीव मोहवश सत समझता है, यही भ्रम है। सूरदास इस भ्रम का वर्णन अनेक पदों में शङ्कर व कबीर की पद्धति पर करते हैं तब पाठकों को यह भ्रम हो जाता है कि सूर जगत को भ्रम समझते हैं। संसार का उपादान कारण है अविद्या और निमित्त कारण है माया-प्रच्छन्न जीव। यह अविद्या या अज्ञान वल्लभ मत में अध्यास भी कहा गया है।

स्पष्ट है कि वल्लभ माया, अविद्या, अध्यास आदि शङ्कर के द्वारा प्रयुक्त शब्दों का प्रयोग करते हैं परन्तु उनका अर्थ भिन्न है। वल्लभ जगत को जिस माया का परिणाम मानते हैं वह एक शक्ति है, अनिवर्चनीय पदार्थ नहीं। वे जिस अध्यास की चर्चा करते हैं वह संसार की प्रतीति है, जगत की नहीं। इस अविद्या को हटाने का एकमात्र उपाय पुष्टि मार्ग है।

वल्लभ के अनुसार श्रीकृष्ण की प्राप्ति ही मुक्ति है। श्रीकृष्ण की पति रूप से सेवा करना तथा सब में ब्रह्म भाव रखना ही कल्याणकर है। शुद्ध जीव, जगत को कृष्णमय देखता है, स्वामी रूप में कृष्ण की सेवा करके परमानन्द में तल्लीन रहता है।

वल्लभ निवृत्ति मार्ग से प्रवृत्ति मार्ग को श्रेष्ठ मानते हैं।

पुष्टि मार्ग—वल्लभ मत पुष्टिमार्ग कहलाता है।[1] पुष्टि या पोषण भगवान के अनुग्रह को कहते हैं, 'पोषणं तदनुग्रहः'[2]। जीव जब तक भगवान के अनुग्रह या पुष्टि को प्राप्त नहीं करता तब तक वह आनन्द की प्राप्ति नहीं कर सकता। साधन मार्ग तीन प्रकार के हैं—(१) आधिभौतिक, कर्ममार्ग कहलाता है, (२) आध्यात्मिक, ज्ञानमार्ग

१ समस्त विषयत्यागः सर्व भावेन यत्रहि।
समर्पणं च देहादेः पुष्टि मार्गः स उच्यते।

२ भागवत अ० २/१०

है, (३) परममार्ग भक्तिमार्ग है जो पुष्टिमार्ग कहलाता है। ज्ञानमार्ग से अक्षर ब्रह्म की ही प्राप्ति हो सकती है, पुरुषोत्तम तो परम-मार्ग से ही प्राप्त होता है।

आध्यात्मिक ज्ञान मार्ग वेद की वाणी से उत्पन्न हुआ है यह मर्यादा मार्ग है। इसमें शास्त्रानुमोदित ज्ञान तथा श्रवण आदि के द्वारा सायुज्य मुक्ति की प्राप्ति होती है। यह मार्ग पुष्टि मार्ग से हीन है। पुष्टि मार्ग में भगवान का पोषण प्राप्त करने के लिये आत्म समर्पण किया जाता है।[1] रसात्मिका प्रीति ही साधन है। इसका फल भगवान कृष्ण के साथ रति क्रीड़ा या विहार है। अणुभाष्य में कहा गया है कि पुष्टि मार्ग के लिये ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। यह पुष्टिमार्ग प्रामाणिक मर्यादा मार्ग से विलक्षण है। मर्यादा भङ्ग करके भगवान के आगे तन, मन आदि का समर्पण ही ध्येय है। इसीलिये सूर ने गोपियों के वर्णन में मर्यादा मार्ग को विघ्न मानकर उसकी अवज्ञा कराई है। दुःखों से पूर्ण संसारी जीव के लिये पुष्टि मार्ग ही एकमात्र अवलम्बन है, जिसमें वर्ण, जाति, तथा देश के भेद-भाव के विना सब प्राणियों के लिये उपादेयता प्राप्त है। यह पुष्टि मार्ग भागवत के द्वारा उपदेशित है। वल्लभ ने प्रस्थान त्रयी—उपनिषद्, गीता, तथा ब्रह्मसूत्र के साथ भागवत को भी रखकर 'प्रस्थान चतुष्टयी' की चर्चा की है। पुष्टिमार्ग में किसी भी फल की इच्छा नहीं रहती। मर्यादा मार्ग में फलाशा नष्ट नहीं होती। मर्यादा मार्ग में प्रयत्न अपेक्षित है, पुष्टि मार्ग में समर्पण से ही 'अद्वैत् की कृपा' प्राप्त हो जाती है। मर्यादा मार्ग के योग व ज्ञान भक्ति के आगे हेय हैं। मर्यादा मार्ग से सायुज्य मुक्ति प्राप्त होती है, पुष्टि मार्ग के द्वारा पूर्ण अभेद प्राप्त हो जाता है, ब्रह्म की नित्य लीला जो वैकुण्ठ धाम में हो रही है उसमें जीव प्रवेश पा जाता है।

पुष्टि मार्गीय भक्ति भी चार प्रकार की होती है—

मर्यादा पुष्टि भक्ति—इसमें भक्त भगवान के गुणों को जानता हुआ भक्ति करता है।

प्रवाह पुष्टि—इसमें भक्त कर्म में विशेष रुचि रखता है।

---

१ अनुग्रहैकसाध्यः प्रमाणमार्गाद् विलक्षणः—अणुभाष्य।

पुष्टि पुष्ट भक्ति—इसमें भक्त स्नेह सम्पन्न हो जाता है।

शुद्ध पुष्टि भक्ति—पूर्ण प्रेम पूर्वक हरि की परिचर्या करता हुआ गुण श्रवण रूप ध्यान में दत्तचित्त रहता है।

पुष्टिमार्ग की पूजा पद्धति बहुत ही विशद है, 'आठों याम' श्रीकृष्ण सेवा विषयक कुछ न कुछ कार्यवाही होती ही रहती है, व्रतों, पर्वों को बड़ी धूम-धाम और शान से मनाया जाता है। बिट्ठलनाथ ने सम्प्रदाय के प्रचार के लिये अनेक उत्सवों की योजना की। मन्दिरों में बड़े समारोह के साथ पूजा कार्य चलने लगा। वैदिक कर्मकाण्ड की तरह इसके भी अनेक नियम उपनियम बनाये गये, लाखों रुपये व्यय किये जाने लगे, मन्दिरों में बड़ी-बड़ी जागीरें धनी मानी व्यक्तियों ने लगाईं, गद्दियों पर बैठे महन्तों में अधिकारों के लिये झगड़े होने लगे। स्वयं वल्लभ के पुत्र गोपीनाथ व विट्ठलनाथ में गद्दी के लिये झगड़ा हुआ था और दोनों बादशाह के पास भी गये थे परन्तु सौभाग्य से गोपीनाथ की मृत्यु होगई और विट्ठल को गद्दी मिल गई। बिट्ठल के बाद उनके सात पुत्रों द्वारा गोवर्द्धन पर स्थापित सात मूर्तियाँ भिन्न-भिन्न स्थानों में पधराई गईं। इनमें श्रीनाथ द्वारे में श्रीनाथ जी की, काँकरोली में द्वारिकानाथ जी की, कोटा में मथुरेश जी की, जयपुर में मदनमोहन जी की, गोकुल में गोकुलनाथ जी की, सूरत में बाल-कृष्ण जी की तथा अहमदाबाद में नटवर लाल की मूर्तियाँ हैं। इन स्थानों में पूजनविधि के बड़े विराट आयोजन होते हैं। पूजा के ८ प्रकार हैं—मङ्गलारति, शृङ्गार, गोपाल, राजभोग, उत्थान, भोग, सांध्य एवम् शयन।

डा० भण्डारकर ने १४ प्रकार की पूजायें लिखी हैं—१—घण्टी बजाना, २—शङ्ख फूँकना, ३—भगवान को जगाना, ४—आरती, ५—स्नान, ६—वस्त्र परिवर्तन, ७—गोपी-वल्लभ का भोजन, ८—गोचारण, ९—मध्याह्न का भोजन, १०—आरती, ११—पर्दा गिराना, १२—झाँकी, १३—सन्ध्या का भोजन, १४—शयन। मन्दिरों में प्रायः जागरण से शयन तक बालकृष्ण की सेवा होती रहती है। उत्सवों में कृष्ण के अतिरिक्त वल्लभ तथा उनके पुत्रों के लिये भी अत्यधिक आदर प्रकट किया जाता है।

पुष्टि मार्ग के अनुसार श्रीकृष्ण गोलोक में राधा व गोपियों के साथ आनन्द भोग में लीन रहते हैं। भक्तों का पुरुषार्थ यह है कि वे सखी भाव से उपासना करें और लीला में प्रवेश पाकर भगवान के साथ विहार करें यही मोक्ष है। जैसा कहा गया कि इस स्थिति को प्राप्त करने के लिये केवल भगवान का अनुग्रह ही अपेक्षित है, अन्य साधन नहीं। अणुभाष्य व तत्वदीप निबन्ध नामक ग्रन्थों में वल्लभ ने भगवत् कृपा को ही सर्वस्व ठहराया है।[1] इस सम्प्रदाय के सिद्धांत अद्वैत परक हैं अतः ब्रह्म के सभी अवतारों को एक विशेष दृष्टि से देखा गया है, उसे समझ लेने से पुष्टि मार्ग स्पष्ट हो जाता है। पुष्टि मार्ग में ब्रह्म का मर्यादावादी अवतार स्वीकृत तो है परन्तु पुष्टि-मार्गी भगवान के रस-रूप अवतार पर विशेष जोर देते हैं, अतः श्रीकृष्ण के रूप में साक्षात ब्रह्म अवतरित होकर दोनों कार्य करता हुआ दिखाया गया है। वह एक ओर तो धर्म-स्थापना के लिये शत्रु-संहार आदि कार्य करके मर्यादा की रक्षा करता है और दूसरी ओर 'रस-रूप' होने के कारण मधुर-लीलायें भी करता है जिनमें सम्मिलित होना ही 'आनन्दप्राप्ति' है। इसीलिये कृष्ण के दो रूप हैं। (१) लोक-वेद कथित पुरुषोत्तम (२) लोकवेदातीत पुरुषोत्तम। यह जो दूसरा रूप है, वही भक्तों का आराध्य है जिसमें मर्यादा मार्ग बाधक है। गोपियाँ इसी लोकातीत रूप को मानती थीं। तात्विक दृष्टि से गोपी व कृष्ण में द्वैत न था क्योंकि 'पुरुषोत्तम' ब्रह्म अपनी शक्तियों के साथ अवतार लेता है और उनके साथ क्रीड़ा करने का अर्थ है अपने ही साथ क्रीड़ा करना, क्योंकि गोपी-गोप आदि जन तात्विक दृष्टि से कृष्ण से भिन्न नहीं है। इस लीला में 'माया' का प्रवेश हो ही नहीं सकता, अतः ब्रह्म कृष्ण की लीलायें माया से रहित शुद्ध आध्यात्मिक हैं, इनमें प्रवेश पाना ही भक्त का लक्ष्य है।

लक्ष्य की प्राप्ति—पुष्टिमार्गीय पूजा तथा आत्म समर्पण आदि से क्या मिलता है? अंततः हम पुष्टिमार्ग को क्यों अपनायें? इसका उत्तर वल्लभ ने दिया है। मुक्ति की अवस्था में शंकर के यहाँ प्रारब्ध कर्मों का क्षय नहीं हो सकता, वे तो जीवन्मुक्त को भोगने ही पड़ते हैं।

---

१ पुष्टिमार्गोऽनुग्रहैकसाध्यः—देखिये अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय डा० दीनदयाल गुप्त।

पुष्टिमार्गी के सारे सञ्चित प्रारब्ध कर्म भगवद् कृपा से नष्ट हो जाते हैं, और भक्त भगवान के साथ गोलोक में रहने का अवसर पा जाता है। उसका स्थूल शरीर यहीं छूट जाता है, और वह सूक्ष्म, दिव्य शरीर को प्राप्त करता है, और रस रूप पुरुषोत्तम के साथ क्रीड़ा में रत हो जाता है। कलियुग में पुष्टिमार्ग इसलिये ध्येय है कि ज्ञान व योग कष्ट साध्य हैं। ज्ञान, योग आदि से सायुज्य मुक्ति मिलती है अर्थात् जीव, ब्रह्म में मिलकर तदाकार हो जाता है, परन्तु बल्लभ इस अवस्था को आदर्श नहीं मानते क्योंकि इसमें जीव आनन्द का अनुभव नहीं कर सकता। अतः बल्लभ सालोक्य, सामीप्य, तथा सारूप्य मुक्ति को अधिक महत्व देते हैं, हाँ ज्ञानियों व योगियों के लिये सायुज्य मुक्ति को वे अवश्य स्वीकार करते हैं। परन्तु जैसा हमने देखा है कि बल्लभ परम्परागत शब्दावली को लेकर उससे सर्वथा नवीन अर्थ लेते हैं और उसका सामञ्जस्य शास्त्रों से स्थापित कर देते हैं। बल्लभ भी 'सायुज्य' मुक्ति को आवश्यक मानते हैं पर उसका तात्पर्य इस प्रकार है—

(१) *सायुज्य मुक्ति*—ज्ञानियों के लिये आवश्यक, ब्रह्म व जीव का एक हो जाना, दोनों में अन्तर न रहना। इसे बल्लभ भक्त के लिये आवश्यक नहीं मानते।

(२) *सायुज्य मुक्ति*—भक्तों के लिये आवश्यक—इसमें जीव, जैसा ऊपर कहा, गोलोक में पुरुषोत्तम की लीला में प्रवेश कर 'परमानन्द' लाभ करता है, ज्ञानियों को सायुज्य मुक्ति में केवल ब्रह्मानन्द मिलता है, किन्तु बल्लभ द्वारा प्रतिपादित भक्तों की सायुज्यमुक्ति में 'परमानन्द' की प्राप्ति होती है। इसे 'स्वरूपानन्द' भी कहा गया है।

जीवन्मुक्ति—इस अवस्था में जीव कृष्ण के लीला गान में निमग्न रहता है। वह भगवत् लीला का साक्षात् अनुभव कर अपने को उसी का भोगी समझता है। शांकर वेदान्त में जीव को किसी गोलोक में भगवान के पास नहीं जाना पड़ता। जीव स्वयं ब्रह्म ही है। अज्ञान के नाश होने के पश्चात् वह अपने स्वरूप को प्राप्त हो जाता है, यही मुक्ति है। ज्ञानियों की मुक्ति 'लयात्मक' होती है। पुष्टिमार्गी भक्तों की प्रवेशात्मक' अर्थात् जीव का भगवल्लीला में प्रवेश। लीला में प्रवेश

के अनन्तर जीव भगवान के अंगों के आभूषण आदि का रूप पा जाते हैं या दिव्य शरीर से आनन्द भोग करते हैं। ज्ञान मार्गियों की मुक्ति को 'क्रम मुक्ति' (क्रमशः साधनाओं के सोपान पार कर लेने के बाद प्राप्त मुक्ति) तथा भक्तों को 'सद्यो-मुक्ति' मिलती है। 'सद्योमुक्ति' हरि कृपा से सहसा ही प्राप्त हो जाती है क्योंकि प्रारब्ध आदि कर्मों का नाश शीघ्र ही हो जाता है। ज्ञानियों को ऊपर की चार मुक्तियाँ ही मिल सकती हैं, परन्तु पुष्टिमार्गी को इन सबसे श्रेष्ठ 'सायुज्य' मुक्ति मिलती है। यह भक्तों की सायुज्य मुक्ति है।

अचिन्त्य भेदाभेदवाद और महाप्रभु चैतन्य
(गौड़ीय सम्प्रदाय)

चैतन्य का समय १४८५-१५३३ ई० है। ये वल्लभ के सम सामयिक थे। इनका जन्म बङ्ग-प्रदेश के नदिया नामक स्थान में हुआ था। ये पिता के छोटे पुत्र थे और पहला नाम विश्वम्भर था, आगे श्रीकृष्ण चैतन्य कहलाये तथा गोरे होने के कारण 'गौराङ्ग महाप्रभु' कहलाये। १८ वर्ष तक गार्हस्थ जीवन व्यतीत किया, पहली पत्नी लक्ष्मीदेवी के देहान्त के बाद दूसरा विवाह किया। श्राद्ध करने गया-धाम गये वहाँ से विरक्ति प्रारम्भ हुई। इन्होंने कर्मकाण्ड की कड़ी आलोचना की। मुक्ति के लिये केवल हरिनाम स्मरण तथा कीर्तन को पर्याप्त बतलाया। इनके सहोदर नित्यानन्द इनके सहयोगी हो गये। १५१० में केशव-भारती से संन्यास की दीक्षा ग्रहण की। ये कृष्ण की साक्षात प्रेम-मूर्ति थे, बाह्य ज्ञान लुप्त हो जाने के कारण कृष्ण के प्रेम में उन्मत्त रहा करते थे। १५३३ में समुद्र की तरङ्गों में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब देख कर कृष्ण के स्मरण में विभोर होकर समुद्र में कूद पड़े और स्वर्ग-वासी हुए।

प्रेम में उन्मत्तावस्था के कारण ये कोई ग्रन्थ न लिख सके। उन दिनों वङ्ग-प्रदेश में मध्वाचार्य के मत का प्रचार था। माधवेन्द्रपुरी जो चैतन्य के गुरु कहलाते थे, इसी मत के अनुयायी थे। चैतन्य पर निम्बार्क, बिल्वमङ्गल, जयदेव, चण्डीदास तथा विद्यापति के हरि लीला वर्णनों का भी प्रभाव था अतः चैतन्य प्रेममय कृष्ण की शृङ्गारिक भक्ति में रँग गये। उन्होंने राधा-भाव स्वीकार किया।

महाप्रभु चैतन्य के शिष्य रूपगोस्वामी तथा श्रीसनातन ने प्रामाणिक ग्रन्थों का निर्माण किया। सनातन के छोटे भाई श्री जीवगोस्वामी

ने भी अनेक ग्रन्थ लिखे। विश्वनाथ, कृष्णदास तथा बलदेव विद्याभूषण आदि अन्य अनेक व्याख्याकार हुये। इस सम्प्रदाय में भागवत पर तो बहुत लिखा गया-पर ब्रह्मसूत्र पर कोई भाष्य नहीं लिखा जा सका। रूप और सनातन ने वैष्णव साधना की भी आलोचना की।

श्री जीव गोस्वामी ने ही वृन्दावन में राधा-दामोदर के मन्दिर की स्थापना की। ये वाद-विवाद से दूर रह कर भगवान के प्रेम में निमग्न रहते थे। एक दक्षिणी ब्राह्मण द्वारा शास्त्रार्थ के लिये प्रचारित होने पर बिना शास्त्रार्थ किये ही इन्होंने उसे विजय पत्र लिख दिया। ये कर्मकाण्ड से दूर रहते थे। संध्या न करने का कारण पूछने पर कहा था:—

हृदाकाशे चिदानन्दम्, मुदा भाति निरन्तरम्।
उदयस्तम् न पश्यामः, कथम् सन्ध्यामुपास्महे।
सद्भक्तिदुहिता जाता, माया भार्या मृताधुना।
अशौचद्वयमाप्नोति कथम् सन्ध्यामुपास्महे॥

अर्थात् "हृदयाकाश में चिदानन्द स्वरूप भगवान का निरन्तर वास है, उनका न उदय होता है न अस्त, सूर्य का उदयास्त होते देख-कर सन्ध्या की जाती है, परन्तु मेरे हृदयाकाश में भगवान रूप सूर्य का उदयास्त ही नहीं होता अतः मैं सन्ध्या किस तरह, कब करूँ?"

"मेरे सद्भक्ति रूपी कन्या उत्पन्न हुई है, और माया रूपी पत्नी की मृत्यु हो गई है, जन्म के समय के अशौच तथा मृत्यु-समय के अशौच के समय सन्ध्या कैसे करूँ* ?

रामानुज ने कर्मकाण्ड आवश्यक बतलाया था। मध्वादि ने भी उसे स्वीकार किया था। वल्लभ मत में पूजन-पद्धति अत्यन्त विस्तृत है, यह हम देख चुके हैं; परन्तु चैतन्यमत में कर्मकाण्ड, पूजा-पद्धति की आवश्यकता ही नहीं, भक्ति रस में डूबे रहने वाले के लिए आचार की क्या आवश्यकता? चैतन्य कहा करते थे कि भागवत के रहते हुए ब्रह्मसूत्रों के भाष्य की क्या आवश्यकता है?

चैतन्य सम्प्रदाय वस्तुतः उससे पहले विकसित सभी वैष्णव दार्शनिक विचार-धाराओं का परिणाम था, जैसे भक्ति का चरम-विकास-चैतन्य में ही हुआ हो। वल्लभाचार्य की पुष्टि-साधना तथा

* हिन्दुत्व, पृष्ठ ६८०

चैतन्यमत का 'मधुरभाव' प्रायः मिलता-जुलता है। ब्रह्म का स्वरूप माध्वमत के अनुसार ही है। जगत व जीव सम्बन्धी धारणायें भी माध्वमत से मिलती हैं। अन्तर यही है कि इस मत में भेद के साथ अभेद भी माना जाता है। इस भेदाभेद पर निम्बार्क का प्रभाव प्रतीत होता है।

दार्शनिक आधार के लिये बलदेव का भागवत पर 'गोविन्द-भाष्य' ही प्रमुख है।

ब्रह्म—ब्रह्म अखिल गुणों का आधार है, गुण व गुणी में भेद नहीं होता अतः भगवान में अनन्तगुणों का निवास है। भगवान का शरीर भी नित्य है अतः उनके स्वरूप-शरीर (विग्रह) तथा गुणों में अभेद है। पृथकता लौकिक दृष्टान्तों के लिये ही है। जल और कल्लोल की तरह वे अभिन्न हैं। शङ्कर की तरह चैतन्यमत में सजातीय, विजातीय व स्वगत भेदों से शून्य ब्रह्म, अखण्ड और एक रस माना जाता है। चूँकि ब्रह्म में अचिन्त्यशक्ति का निवास रहता है अतः नानारूप धारण करने पर भी वह मूलतः अखण्ड और एक रहता है। इसलिए ब्रह्म 'वैदूर्य-मणि' के समान है जो नाना रङ्ग प्रदर्शित कर एक बनी रहती है। इसी 'अचिन्त्य शक्ति' के कारण भगवान साकार भी हैं और निराकार भी, स्थूल भी और व्यापक भी। भगवान की ये प्रमुख शक्तियाँ हैं—

१—सन्धिनी—इससे ब्रह्म स्वयं सत्ताधारण करता है।

२—संवित्—चेतनावान् होना इसी शक्ति से होता है।

३—ह्लादिनी—इससे ब्रह्म स्वयं आनन्दित रह कर दूसरों को भी आनन्द देता है।

४—जीव शक्ति—अणु रूप जीवों का आविर्भाव इसी शक्ति से होता है, यह 'तटस्था' भी कहलाती है।

इन तीनों शक्तियों का समुच्चय 'पराशक्ति' भी कहलाता है। ब्रह्म 'स्वरूप शक्ति' के रूप में जगत का निमित्त कारण तथा माया-जीव-शक्तियों के रूप में उपादान कारण है। भक्तों की अभिरुचि के अनुसार भगवान अवतार लेते हैं। श्रीकृष्ण साक्षात परब्रह्म हैं, अवतार नहीं।

शङ्कर ने निर्गुण व सगुण ब्रह्म में भेद स्थापित किया था। उनकी दृष्टि में निर्गुण ब्रह्म ही सत्य था। वे ब्रह्म को ही निमित्त-उपादान कारण मानते थे। चैतन्य मत में निर्गुण-सगुण दोनों रूप सत्य माने गये थे। ब्रह्म स्वरूप-शक्ति से सब कुछ हो सकता है। शक्तियों की कल्पना से ब्रह्म सम्बन्धी सारे विवाद चैतन्य-मत में शान्त कर दिये गये। वल्लभ ने तो शङ्कर के विपरीत सगुण ब्रह्म को श्रेष्ठ और 'अक्षर ब्रह्म' को हीन कोटि का बताया था पर चैतन्य को ऐसा करने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ी, उनकी दृष्टि से भगवान् के सभी रूप नित्य और माननीय हैं।

चैतन्य मत की सब से बड़ी विशेषता श्रद्धा, विश्वास और प्रेम है। 'दर्शन' को भी प्रेम से निभा ले जाना इस मत की सरलता का पुष्ट प्रमाण है।

जगत सत्य है, पर अनित्य है। वल्लभ जगत को सत्य व संसार को असत्य मानते हैं। चैतन्य मत जगत को ब्रह्म की बाह्य शक्ति का विकास मानता है। प्रलय-काल में वन में छिपे हुये पक्षी की भाँति जगत सूक्ष्म रूप से भगवान् में छिपा रहता है। अचिन्त्य शक्ति के कारण भगवान के साथ यह प्रपञ्च न तो भिन्न ही प्रतीत होता है, न अभिन्न ही। भेद व अभेद दोनों को इस प्रकार लेकर चलने वाला चैतन्य मत 'भेदाभेद' का समर्थक है। इस मत में सारे विरोधों को भगवान की 'अचिन्त्य शक्ति' से समझा दिया जाता है।

प्रश्न—ब्रह्म यदि निर्गुण है तो सगुण कैसे होगा ?

उत्तर—उसकी 'अचिन्त्य शक्ति' के कारण।

प्रश्न—भेद और अभेद दोनों विरोधी वस्तुयें हैं, वे एक स्थान पर कैसे रह सकती हैं ?

उत्तर—'अचिन्त्य शक्ति' के कारण।

प्रश्न—यह 'अचिन्त्य शक्ति' क्या है जिसने प्रत्येक पूर्व निश्चित धारणा की सिद्धि हो जाती है ?

उत्तर—भगवान् की वह शक्ति जिसके विषय में कुछ भी नहीं सोचा जा सकता।

इस मत के अनुसार जीव अणु रूप है, ईश्वर जीव में व्याप्त है, जीव एक नहीं अनेक हैं। जीव नित्य है।

पदार्थ चार हैं—ईश्वर, जीव, प्रकृति और काल। अन्तिम तीन ईश्वर के अधीन हैं। सत्व, रज, तम की सम्भावना ही प्रकृति है। प्रकृति, जीव, काल शक्तियाँ हैं, ब्रह्म शक्तिमान है।

तत्त्वमसि का अर्थ है = उनके तुम हो—'तस्य त्वम् असि' इससे जीव की भिन्नता ही सूचित होती है मूलतः अभिन्नता है।

भक्ति मुख्य साधन है। चैतन्य हरिनाम स्मरण व कीर्तन को मुख्य साधन मानते थे और वर्ण-व्यवस्था का घोर खण्डन करते थे। ज्ञान व वैराग्य भक्ति के साधक हैं। ज्ञान से भक्ति श्रेष्ठ है। ज्ञान से केवल 'सायुज्य मुक्ति' ही मिलती है किन्तु भक्ति से भगवान वश में हो जाता है। भक्ति भगवत् रूपिणी है। भगवान के दो रूप हैं—(१) ऐश्वर्य, (२) माधुर्य। माधुर्य में भगवान मनुष्य के समान ही चेष्टा करता है, ऐश्वर्यावस्था में जीव के मन में भगवान के प्रति आदर भाव बढ़ता है। भक्ति भी दो प्रकार की होती है—

१—विधिभक्ति—में शास्त्र निर्दिष्ट उपायों का आलम्बन होता है।

२—रुचिभक्ति—में रागात्मिका भक्ति मानी जाती है। आर्त भक्तों पर भगवान 'अहैतुकी कृपा' करते हैं। रागात्मिका भक्ति में भक्त भगवान को अपना पति मानता है। गोपियों की भक्ति ऐसी ही थी।

इस मत में 'सेवानन्द' धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के अतिरिक्त पञ्चम पुरुषार्थ माना गया है। भगवान की सेवा करते हुए आनन्दित रहना ही 'सेवानन्द' है। भक्तिमार्ग की तीन अवस्थाएँ हैं—साधन, भाव, प्रेम। इन्द्रियों की प्रेरणा द्वारा की जाने वाली भक्ति साधन-स्वरूपा है। 'साधन' भक्ति के बाद चित्त में भगवान के प्रति स्निग्धता बढ़ती है यही 'भाव' भक्ति है। 'भाव' प्रेम की प्रथमावस्था है, यही भाव जब घनीभूत हो जाता है तो 'प्रेम' उत्पन्न हो जाता है, जो भक्त का पुरुषार्थ है।

चैतन्य मतानुसार वे मूर्ख हैं जो जगत का कारण अज्ञान की विशेष शक्ति मानते हैं क्योंकि जगत भगवान की 'अचिंत्य शक्ति' से

रचा जाता है। शंकर की माया मिथ्या पदार्थ है परन्तु चैतन्य मत की माया ब्रह्म की शक्ति मानी जाती है। जो यह समझते हैं कि जगत भ्रम है वे यदि जगत को भगवान का शरीर मानकर उसमें 'प्रियतम' की छवि देखें तो उद्धार हो जाय। शांकर वेदान्ती जो जगत को सत्य मानने वालों को अज्ञानी कहते हैं, चैतन्य मत द्वारा मूढ़ समझे जाते हैं। क्योंकि वे विश्व में 'विश्वेश' के दर्शन करते हैं।

इस मत में कीर्तन का महत्व सबसे अधिक है। हरि लीला विषयक पद गाते गाते मूर्च्छित हो जाना चैतन्य के लिये साधारण बात थी। विद्यापति का विरह वर्णन सम्बन्धी एक पद सुनकर महाप्रभु कई दिनों बेहोश रहे थे। इस बेहोशी पर सम्भवतः सूफियों का कुछ प्रभाव रहा हो। बल्लभ मत में भी भक्त 'बेहोश' होना जानते थे।

इस मत में प्रेम का महत्व अत्यधिक है। "प्रीति एक अत्यन्त मार्मिक आन्तरिक अनुभव है। उसके बाह्य लक्षण लौकिक शृङ्गार के समान प्रतीत होते हैं। आत्म-विस्मृति इसकी पराकाष्ठा है। उस अवस्था में इसे 'महाभाव' कहते हैं।"

भक्ति का एक और रूप है जिसमें 'ममत्व' के स्थान पर 'तवत्व' रहता है। ममत्व का अर्थ है 'भगवान् मेरा प्रिय है' और 'तवत्व' का अर्थ है 'मैं भगवान् का प्रेम-पात्र हूँ'। शान्त भक्ति में स्वामी या पालक का भाव रहता है।

एक और भक्ति का रूप है। उसे 'वात्सल्य-भक्ति' कहते हैं। परन्तु दाम्पत्य-भाव की प्रीति में ही हार्दिक-भाव की ऊष्मा सर्वाधिक रूप से रहती है, अतः वही श्रेष्ठ है। आनन्द की तीव्रता, भगवान् के लिए आकुलता, प्रेम विह्वलता जो 'दाम्पत्य भावना' में है वह सेवक सेवा भावादि में कहाँ? यद्यपि इसमें बाह्य लक्षण सब लौकिक रीति के ही रहते हैं, पर जहाँ लौकिक रति-क्रीड़ा में लिप्सा प्रधान होती है, इन्द्रिय तृप्ति पर ही लक्ष्य रहता है, वहाँ भक्ति की दाम्पत्य भावना में भगवान् को प्रसन्न करने की इच्छा होती है। भगवान भक्त रूपी नवेली से आकर विहार करें यही साधना का ध्येय है।

प्रायः दाम्पत्य भावना के अनुसार कविता करने वाले विद्यापति

चण्डीदास, सूरदास आदि कवियों के विषयों में यह प्रश्न उठता है कि वे शृङ्गार के कवि हैं या भक्ति के। परन्तु यह प्रश्न मूलतः अशुद्ध है क्योंकि जहाँ शृङ्गारमयी ही भक्ति होगी वहाँ अश्लील से अश्लील पद भी भक्त की साधना के ही प्रतीक होंगे। सूर-विद्यापति आदि ने राधा-गोपी विहार में जितना अश्लील लिखा है उतना रीतिकाल के शायद ही किसी कवि ने लिखा होगा। परन्तु हम विद्यापति व सूर को शृङ्गार का अश्लील कवि नहीं मानते। और जो मानते हैं वे निम्बार्क चैतन्य और वल्लभ की उस साधना-पद्धति से अपना अपरिचय ही प्रदर्शित करते हैं, जिसमें प्रेमलक्षणा भक्ति के अनुसार भक्त को 'सखी भाव' से कृष्ण के साथ विहार करने को ही सर्वस्व समझा जाता है, जिसमें पति या परपति के रूप में भगवान को मान कर उनसे आत्मा रूपी रमणी की सारी रति-चेष्टाओं का वर्णन उसी प्रकार होगा जिस प्रकार लौकिक रति में नायक व नायिका का। अतः जहाँ 'रति-विहार' को भक्ति ही मान लिया वहाँ 'शृङ्गार है या भक्ति' यह प्रश्न उठाना व्यर्थ है।

तब अन्ततः वह कौनसा मानदण्ड है जिनसे हम रीतिकाल के कवि सूर व विद्यापति को अलग-अलग पहचान सकें। इसकी एकमात्र कसौटी काव्य में प्रतिबिम्बित हृदय की प्रवृत्ति को देखना चाहिए। भगवान की रति का वर्णन करते समय भक्तकवि एक नैसर्गिक पवित्रता का वातावरण बनाये रखता है। हम यह नहीं भूलते कि यहाँ भगवान की लीला का वर्णन हो रहा है। कवि की वृत्ति भगवान की प्रसन्नता की ओर होती है, अश्लील वर्णन में आनन्द लेने में वह नहीं रमती। सूर की वृत्ति ऐसी ही है। रीतिकाल में कवि की वासनामयी वृत्ति साफ ऊपर उभर आती है। उसमें वह 'पवित्रता' रह ही नहीं गई। अतः काव्य राधाकृष्ण के 'सुमिरन' का बहाना मात्र रह गया है। विद्यापति बीच की स्थिति में हैं। राज दरबारी कवि होने के कारण किसी सीमा तक वे अश्लील-श्लील शृङ्गार-वर्णन में वासनामय आनन्द लेते थे, स्वयं राजा शिवसिंह और पट्ट महिषी भी। किन्तु विद्यापति के विरह वर्णन में वह कलङ्क धुल जाता है। इसी विरह-वर्णन का एक पद सुन कर चैतन्य उन्मत्त हो गये थे। अतः दुविधा की स्थिति में न रख कर विद्यापति को भक्त कवियों में रखा जा सकता है। वे रीतिकाल के कवि न थे।

जन साधारण की अनुकूलता तथा रोचकता की प्रवृत्ति ले कर जो भक्ति आन्दोलन चला उसकी चरम पूर्णता चैतन्य-मत में दिखाई पड़ी। इसमें कामवृत्ति को माध्यम बना लेने से आकर्षण तो बढ़ गया, सौन्दर्य व सङ्गीत के स्रोत भी बङ्गभूमि से प्रवाहित हुये और तप्त भारत को शीतलता प्रदान करते रहे, तथापि 'दाम्पत्य भावना' के प्रवेश ने पुनः वल्लभ व चैतन्य सम्प्रदायों में एकान्तिकता का प्रवेश कर दिया। समाज के लिए वृत्तियों की अनुकूलता आवश्यक है पर एक सन्तुलन की भी आवश्यकता है। वह सन्तुलन न रहा। सखीभाव की उपासना में भक्त भगवान रूपी प्रियतम को प्रसन्न रखने के लिए वेश भूषा भी ललिता, विशाखा व चन्द्रावली जैसी ही रखने लगे, वृत्तियों की सुकुमारता के अभ्यास से पुरुषत्व का नाश होने लगा, स्त्रियों के समान पुरुष भी शृङ्गारिक चेष्टाओं का अभिनय करने लगे। यह दाम्पत्य भावना की सीमा का अतिक्रमण था।

पहले वैष्णव-धर्म में कृष्ण व गोपियों का वर्णन होता था, यथा भागवत आदि पुराणों में। किन्तु १० वीं शताब्दी के बाद के वैष्णव-धर्म में मुख्य राधा हो गईं, गोपियाँ सखियाँ बन गईं, जिनका काम राधा-कृष्ण विहार के लिए साक्षी बनना था।

अन्य वैष्णव सम्प्रदाय

भक्ति विरोधी 'मायावाद' की प्रतिक्रिया में रामानुज, निम्बार्क, मध्व, वल्लभ तथा चैतन्य के सिद्धान्तों की चर्चा हम कर चुके। इन वैष्णव आचार्यों में कई सिद्धान्त सामान्य रूप से स्वीकृत हैं, कुछ बातों में मतभेद रहा। प्रायः सबने 'मायावाद' का खण्डन किया है, सभी ईश्वर के सगुण रूप के समर्थक हैं। सबने किसी न किसी रूप में ईश्वर, जीव, व जगत के भेद को स्वीकार किया है। 'मध्व' ने तो पूर्णतया 'द्वैतवाद' का समर्थन किया परन्तु अन्य भक्तों ने 'भेदाभेद' को ही माना। केवल उसकी सिद्धि में अन्तर अवश्य रहा। सब भक्त आचार्य भक्ति की श्रेष्ठता मानते हैं, ज्ञान को साधन रूप में ही स्वीकार करते हैं। जीव को सभी भगवान के आश्रित मानते हैं। अविद्या या ईश्वर विमुखता ही जीव के दुःख का कारण है। 'प्रपत्ति' जो पहले केवल शूद्रों के लिये स्वीकृत हुई वह सर्ववर्णों के लिये स्वीकृत होगई। चित्त की निर्मलता, शरणागति, जप, कीर्तन आदि के आगे विस्तृत कर्मकाण्ड यज्ञादि की अवहेलना हुई। और भक्ति सम्बन्धी अनेक पूजा-पद्धतियाँ चल पड़ीं। भक्ति के आन्दोलन में सभी जातियों और वर्णों ने भाग लिया।

यहाँ हम कुछ अन्य वैष्णव भक्तों की चर्चा करते हैं जिन्होंने भारतीय हृदय को थोड़ा बहुत प्रभावित किया, मुख्यतः उपर्युक्त पाँच भक्ति सम्प्रदायों का ही साहित्य पर विशेष प्रभाव रहा।

महापुरुषिया सम्प्रदाय: यह मत चैतन्यमत के पहले ही आसाम में प्रचलित था। सिद्धान्त की दृष्टि से यह रामानुजीय 'श्री सम्प्रदाय' पर आधारित था। भागवत इस सम्प्रदाय में 'गुरु ग्रन्थ साहब' की तरह पूज्य है। इसके प्रवर्तक 'शंकरदेव' के आदर्श 'उद्धव' थे। इस मत में

ब्रह्मचर्य को अधिक महत्व दिया गया था। पुरुषिया सम्प्रदाय की सब से बड़ी विशेषता सामाजिक सुधार है। हमने कहा था कि यह भक्ति-आन्दोलन एक क्रान्तिकारी आन्दोलन था। इसने समाज में समानता लाने का अद्‌भुत प्रयत्न किया। यह केवल दुःख व निराशा का ही परिणाम न था। पुरुषिया सम्प्रदाय के अनुसार कृष्ण के प्रति एकांतिक भक्ति में परम्पराओं अथवा वर्णाश्रम-धर्म की भिन्नता को स्थान नहीं है। भक्ति ही विश्व के लिये कल्याणकर है। (हरमोहनदास-रचित—'शंकरदेव' तथा 'वैष्णव धर्म', पृष्ठ १०७)

रामानन्द सम्प्रदाय—मूल प्रवर्तक 'रामानन्द' (जन्म १२९९ ई०)। ये सिद्धान्ततः विशिष्टाद्वैतवादी थे। ब्रह्म सूत्रों पर इनका 'आनन्द भाष्य' उत्तम ग्रन्थ है। इसमें राम को ब्रह्म सिद्ध किया गया है। निकृष्ट गुणों से रहित होने के कारण ब्रह्म निर्गुण कहा गया है। रामानुज के श्री सम्प्रदाय के कठोर नियमों को रामानन्द ने स्वीकार नहीं किया। इस सम्प्रदाय की सबसे बड़ी विशेषता हिन्दी में ग्रन्थ रचना की परम्परा को जन्म देना था ताकि सर्वसाधारण अधिक लाभ उठा सकें। रामानुज के उपास्य 'लक्ष्मी-नारायण' के स्थान पर रामानन्द ने 'सीता-राम' को उपास्य बनाया। रामानन्द का दूसरा ऐतिहासिक कार्य था भक्ति सम्बन्धी पूजा पद्धतियों को अधिक महत्व न देना। इन्होंने भजन-भाव को ही महत्व दिया। तुलसी इसी मत के अनुयायी थे जिन्होंने नाम की महिमा राम से भी अधिक बताई है।

"राम एक तापस तिय तारी।
नाम कोटि खल कुमति उधारी॥"
रामते अधिक राम कर नामा।

इसी सम्प्रदाय में कबीर, सेना, धना, रैदास आदि भी थे।

रामानन्द के आनन्दभाष्य में विशिष्टाद्वैत मत को ही आदर्श माना गया है। इसमें 'विशिष्ट' शब्द से सूक्ष्म चित् अचित् विशिष्ट ब्रह्म अर्थात् 'कारण ब्रह्म' का अर्थ लेते हैं तथा 'विशिष्ट' शब्द से स्थूल-चित् अचित् विशिष्ट अर्थात् 'कार्य ब्रह्म' का अर्थ लिया जाता है। अतः 'कारण ब्रह्म' व 'कार्य ब्रह्म' की तात्विक एकता ही प्रतिपाद्य है।

रामानन्द एक ही ब्रह्म को सगुण व निर्गुण मानते हैं।

तुलसी ने रामचरित मानस में सगुण राम को निर्गुण सिद्ध करने में सारी शक्ति लगादी है। रामानन्द वेदान्त दर्शन को सगुण ब्रह्म प्रतिपादक ही मानते हैं। जीव का नानात्व तथा ब्रह्म से भेद स्वीकार करते हैं। वर्णाश्रम व्यवस्था को भी स्वीकार किया गया है। विवर्तवाद की निन्दा की गई है और जगत को सत्य माना गया है। वैरागी व भक्त दोनों इस सम्प्रदाय में हैं। अयोध्या इनका मुख्य स्थान है।

कुछ विद्वान 'रामानन्द' का सम्बन्ध 'रामानुज' से नहीं मानते। उनके अनुसार दोनों आचार्यों की विचार-धारा में महान अन्तर है। उपासना पद्धति में भी दोनों में भेद बताया जाता है। (देखिये 'हिंदी साहित्य' हजारीप्रसाद द्विवेदी)

स्वसुखी सम्प्रदाय—रामायत वैष्णवों में १८ वीं शताब्दी के बाद मधुर भाव का प्रवेश हुआ। यह कृष्णभक्ति-धारा का प्रभाव था। रामचरणदास (१६ वीं शताब्दी) के प्रयत्न से मधुरभाव का प्रचार विशेष रूप से हुआ यद्यपि इस सम्प्रदाय को वहुत प्राचीन बताया जाता है। चैतन्य सम्प्रदाय में 'राधाभाव' की उपासना का प्रचार था परन्तु वहाँ भक्त सामान्यतः स्त्री रूप धारण न कर आन्तरिक भाव से ही अपने को कृष्ण की प्रियतमा मानते थे। परन्तु अयोध्या के स्वसुखी सम्प्रदाय में राम को 'लाल साहब' कहा गया। भक्त स्त्री वेश धारण कर उन्हें पति रूप में मानने लगे। सीता सपत्नी हैं। भक्तगण स्त्रियों के समान हावभावों से 'लाल साहब' को रिझाते हैं।

तत्सुखी शाखा—पत्नीभाव के साथ 'सखीभाव' का भी प्रचार हुआ। रीवाँ के महाराज रघुराजसिंह इसी शाखा के भक्त थे। राम व सीता की विलासलीला का गान उसी प्रकार होने लगा जैसे कृष्ण भक्तों में होता आ रहा था। जनकपुर के भक्तों ने 'जानकी' को विशेष महत्व दिया यथा हितहरिवंश ने 'राधा' को दिया था।

मधुरभाव के उपासकों का विश्वास है कि रामानन्द, तुलसीदास तथा हनूमानजी भी मधुरभाव के उपासक थे। इस दृष्टि से इनके नाम क्रमशः रामानन्ददायिनी, तुलसी-सहचरी तथा चारुशीला था।

कृष्णभक्तों की एकान्तिक भक्ति के बढ़ते हुए प्रभाव को देखकर ही अयोध्या के रामभक्तों ने मधुरभाव को स्वीकार किया और राम-

भक्ति-धारा के लोक-रक्षक, मर्यादा-स्थापक रूप के स्थान पर उनका विलासी रूप प्रचारित होने लगा। वैयक्तिक-साधनाओं तथा अन्ध-विश्वासों ने भारतवर्ष में ;घोर कुत्सित परम्पराओं को किस प्रकार जन्म देकर शताब्दियों तक जनता की श्रद्धा के साथ खिलवाड़ किया, किस प्रकार व्यक्तिगत साधनायें,सामाजिक स्तर से खिसक कर कहाँ जा पहुँची, वह मधुरभाव के विश्वासी भक्ति-सम्प्रदायों को देख कर स्पष्ट हो जाता है।

रामदासी सम्प्रदाय—रामदास (१६०८ – १६८१) इस मत के प्रवर्तक थे। शिवाजी इन्हीं के शिष्य थे। महाराष्ट्र को अपनी भक्ति से जगाने वाले यही सन्त थे। इनके मत में निवृत्ति व प्रवृत्ति मार्गों का सुन्दर समन्वय किया गया है। 'श्रीराम' इस सम्प्रदाय के इष्टदेव थे।

नरसिंह सम्प्रदाय—यह सम्प्रदाय दक्षिण में ही किसी समय प्रचलित था।

उद्धवि या नारायणी सम्प्रदाय—यह मत वल्लभ-सम्प्रदाय के सुधारक के रूप में गुजरात में प्रचलित हुआ। सहजानन्द इसके प्रवर्तक थे (१७८१– १८२६ ई०)। विशिष्टाद्वैत के सिद्धान्त ही इस सम्प्रदाय के सिद्धान्त हैं।

राधावल्लभ सम्प्रदाय—इसे हितहरिवंश ने १५२५ में प्रचारित किया था। इसमें राधा को अधिक महत्व दिया गया। राधा महा-शक्ति हैं और कृष्ण आज्ञानुवर्ती हैं। राधा की आज्ञा से ही कृष्ण जगत की सृष्टि, स्थिति व संहार करते हैं। सम्भवतः बिहारी के इस दोहे पर राधावल्लभ मत का ही प्रभाव है—

मेरी भव बाधा हरौ, राधा नागरि सोय।
जा तन की झाईं परै, श्याम हरित दुति होय॥

राधावल्लभ सम्प्रदाय में सखी या किङ्करी भाव की उपासना का प्रचार है। इस मत के सिद्धान्तों पर अभी तक प्रकाश नहीं पड़ सका। इस सम्प्रदाय के भक्त श्री किशोरीशरण अलिजी ने पं० हजारी-प्रसाद द्विवेदी को जो पत्र लिखा था उसके अनुसार कृष्ण राधा की सखियों से राधा की प्रसन्नता प्राप्ति के लिये सदा प्रार्थना करते रहते हैं। इस मत में 'परकीया' रूप मान्य नहीं है न राधा से सखियों

का सपत्नी भाव रहता है। श्रीकृष्ण को वेद और शास्त्र ठीक-ठीक नहीं समझ पाते। श्रीकृष्ण वृन्दावन में जो प्रेमक्रीड़ा करते हैं वह स्वकीया, परकीया भाव से परे है। भक्त राधा व कृष्ण की प्रेमलीला का ही ध्यान किया करते हैं, युगलमूर्ति का यही रस-रूप इस मत में मान्य है। निम्बार्क सम्प्रदाय में रागानुगा भक्ति बहुत बाद में आई, पहले उसमें वैधी भक्ति ही प्रचलित थी। राधावल्लभ सम्प्रदाय में शास्त्रों के विधि निषेध की अवज्ञा सबसे अधिक पाई जाती है।

श्री सातानी सम्प्रदाय—रामानुज के पहले से ही इस मत के भक्त आंध्र देश व तमिल नाड में पाये जाते हैं। ये अधिकतर शूद्र हैं परन्तु इन्हें ब्राह्मणों के कुछ अधिकार मिल गये हैं। मन्दिरों में पुजारी का भी ये काम करते हैं परन्तु उन मन्दिरों में पूजा नहीं चढ़ाई जाती।

उक्त सम्प्रदायों के अतिरिक्त परिणामी, हरिव्यासी, गोकुलेश, सखी भावक, मार्गी, टट्टी सम्प्रदाय आदि अन्य वैष्णव सम्प्रदाय भी प्रचलित रहे।

———

निर्गुणभक्ति-प्रधान वैष्णव मत

अब तक जिन सम्प्रदायों का उल्लेख हुआ वे प्रायः सगुणोपासक थे। किन्तु कुछ सम्प्रदाय ऐसे भी थे जिन पर बौद्ध धर्म का प्रभाव अवशिष्ट रह गया है। इनमें अधिकतर समाज के प्रति विद्रोही दृष्टि रखने वाले सन्त उत्पन्न हुए हैं।

महानुभाव पन्थ—यह एक क्रान्तिकारी भक्ति-सम्प्रदाय था। यह महाराष्ट्र में प्रचलित था। उत्तर में भी कुछ प्रचार था। उपास्य देव कृष्ण व दत्तात्रेय हैं। ये मूर्तिपूजा को नहीं मानते। ये ईश्वर को निर्गुण व निराकार ही मानते हैं तत्वतः द्वैतवादी हैं। वर्ण भेद को बिल्कुल नहीं मानते। महन्त छत्र, चमर, पालकी, मुहर धारण करते हैं। 'चक्रधर' इस मत के प्रवर्तक थे।

वारकरी सम्प्रदाय—यह निर्गुणोपासक मत है, जो नाथपन्थ से बहुत प्रभावित है। पुण्डरीक इसके प्रवर्तक थे। यह मत भी महाराष्ट्र में प्रचलित है। वर्तमान पंढरपुर इनका तीर्थ है। विट्ठलनाथ उपास्य देव हैं। विट्ठल शब्द विष्णु का रूपान्तर है और 'वारकरी' वारी या परिक्रमा से। इस मत के लोग अपने पुण्य-क्षेत्र की परिक्रमायें किया करते हैं। इसके प्रचारकों में प्रसिद्ध ज्ञानदेव (१२७५–१२९६), नामदेव (१२७०–१३५०), एकनाथ (१५२८–१५९९) तथा तुकाराम (१६०८–१६४९) जैसे सन्त हो चुके हैं। अतः यह सम्प्रदाय बहुत ही आदृत रहा है। ज्ञानदेव ने भागवत पर टीका लिखी है जो 'भावार्थ-दीपिका' के नाम से प्रसिद्ध है। यही इस मत के सिद्धान्तों की दीपिका है।

नामदेव विसोवा खेचर के शिष्य थे। इनके पदों में दैन्य, आत्म-समर्पण तथा भक्ति के तत्व ओत-प्रोत हैं। नामदेव कर्मकाण्ड को

महत्व न देकर कीर्तन के प्रशंसक हैं। वर्ण व जाति के शत्रु हैं, ये स्वयं छीपी जाति के थे।

'एकनाथ' को ज्ञानदेव का अवतार माना जाता है और तुकाराम को नामदेव का। तुकाराम वैश्य थे, 'अभंगों' के गायन में तल्लीन रहते थे।

इस सम्प्रदाय में भक्ति व ज्ञान का अद्‌भुत् सामञ्जस्य हुआ है। यहाँ भक्ति में द्वैत है पर सिद्धान्त में अद्वैतवाद का समर्थन है। जैसे कबीर में। ज्ञानदेव ने भक्ति व अद्वैत मत के एक साथ समर्थन को इस प्रकार समझाया है—"यदि एक ही पर्वत को काट कर उसकी गुफा के भीतर देवता, देवालय तथा भक्त परिवार का निर्माण एक साथ किया जा सकता है तो अद्वैत भाव के साथ भक्ति क्यों नहीं सम्भव है।" (अमृतानुभव) ये भक्ति को मूल तथा ज्ञान को फल मानते थे। इस सम्प्रदाय में कृष्ण उपास्य देव रहने पर भी 'शिव' से विरोध नहीं है तथा इसकी योग-साधना पर शैव मत का प्रभाव भी है

हरिदासी सम्प्रदाय—इसे 'दासकूट' सम्प्रदाय भी कहते हैं। विट्ठल उपास्य हैं। सबसे प्राचीन सन्त थे नरहरि तीर्थ (मृत्यु १३३१ ई०)। विद्वानों का विचार है कि दक्षिण के इन शैव-वैष्णव दोनों में अविरोध देखने वालों पर प्राचीन द्रविड़-संस्कृति का प्रभाव था जो मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा में प्रचलित थी। यह मत निवृत्ति-मार्गी है।

कबीर पन्थ, नानक पन्थ आदि भी वैष्णव सन्त ही थे। ज्ञानदेव की तरह ये भी निर्गुण भक्ति मानते हैं। कबीर पर बौद्ध-धर्म का भी प्रभाव था, जिसे हम यथा-स्थान देखेंगे।

उड़ीसा के वैष्णव कवि—ये जगन्नाथ को उपासना का केन्द्र मानते हैं। जगन्नाथ को कृष्ण वासुदेव का प्रतीक माना जाता है। ५ वीं शताब्दी में उड़ीसा में वैष्णव धर्म प्रचलित हो गया था। पंचरात्रों के संकर्षण व वासुदेव क्रमशः बलराम व जगन्नाथ हो गये हैं।* सुभद्रा कृष्ण की बहिन व पत्नी दोनों मानी गई हैं (स्कन्द-पुराण—उत्कल खण्ड)। अतः वे शक्ति के रूप में स्वीकार करली गईं।

---

* वैष्णव धर्म, पृष्ठ १२४।

उड़ीसा में नागार्जुन का 'शून्यवाद' बहुत प्रचलित रहा। दक्षिण उड़ीसा के राजा बौद्ध थे। अतः यह माना गया कि जगन्नाथ की काठ की मूर्ति के भीतर गौतम-बुद्ध की अस्थियाँ अवशेष हैं। शैव-धर्म का प्रवेश भी यहाँ हो गया था, परन्तु ११ वीं शताब्दी में वैष्णव धर्म पुनः प्रबल हो उठा। शैव मत व बौद्ध-धर्म इसी में समा गये। अनेक अवतारों की पूजा चल पड़ी। यहाँ के 'पञ्चशिखा' कवि प्रसिद्ध हैं, इन्होंने भक्ति-भाव पूर्ण पद गाये हैं। ये बौद्धों से प्रभावित रहे हैं। अच्युतानन्द ने तो 'शून्य संहिता' तक रच डाली थी। किन्तु यहाँ वैष्णव धर्म व शून्यवाद एक हो गये हैं। बलरामदास तथा जगन्नाथ के 'भागवत' में भी बौद्ध प्रभाव अवशिष्ट है। परन्तु ये भक्त हैं, शुष्क दार्शनिक नहीं।

तत्व ज्ञान :—इस मत की विचारधारा बहुत महत्वपूर्ण है। किस प्रकार भारतीय धर्म साधना में बौद्ध व वैष्णव मत एक हो रहे थे इस बात का यह प्रतीक है। इस मत के अनुसार परमतत्व का वास्तविक रूप शून्य पुरुष का है। वह अवाङ्ग-मनस् गोचर है। वही महाविष्णु है। जगत् को उसी ने बनाया है। विराट पुरुष के रूप में वह शून्य पुरुष का ज्योति स्वरूप है। वही आदि ब्रह्म भी है जो बिन्दु ब्रह्म के रूप में भौतिक रूप धारण करता है। यहाँ योग मत, शैवमत तथा प्राचीन वैदिक विराट् कल्पना को मिला दिया गया है। बिन्दु ब्रह्म से निःसृत बिन्दु दो रूपों में दिखाई पड़ता है जो क्रमशः 'रा' एवम् 'म' अक्षरों में निहित है जो क्रमशः राधा और कृष्ण के रूपों में परिणत होकर नित्य लीला में लीन रहता है। ३२ अक्षर ही सखियों के प्रतीक हैं। जो पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड में है इसे ये सत्य मानते हैं। वैष्णव धर्म ने सहजिया सम्प्रदाय की बहुत सी बातों को अपना लिया था। इस प्रकार इन वैष्णवमतों का विभाजन हम इस प्रकार कर सकते हैं। इनके प्रवर्तक, समय, आराध्य तथा सिद्धान्तों का विवरण इस प्रकार है:—

(तत्त्व ज्ञान प्रधान) वैष्णव सम्प्रदाय (शंकर के विरुद्ध प्रतिक्रिया)

वेदान्त परक सम्प्रदाय

श्री सम्प्र०	ब्रह्म सम्प्र०	सनक सम्प्र०	रुद्र सम्प्र०	गौड़ीय सं०
रामानुज	मध्व	निम्बार्क	वल्लभ	चैतन्य
१०३७-११३७	११९९-१३०३	११वीं शताब्दी	११वीं शता०	१४८५ १५३३
लक्ष्मीनारायण	विष्णु	कृष्ण	कृष्ण	कृष्ण
विशिष्टाद्वैत	द्वैतवाद	द्वैताद्वैत	शुद्धाद्वैत	अचिंत्य भेदाभेदवाद

अन्य वैष्णव सम्प्रदाय

महापुरुषिया	रामदासी	उद्धवि	राधावल्लभीय	टट्टी सम्प्रदाय
शंकर देव	रामदास	सहजानन्द	हितहरिवंश	हरिदास
१४४९-१५६८	१६०८-१६८१	१७८.-१८२९	१५८५ ई०	१६वीं शता०

सगुण-निर्गुण भक्ति-प्रधान वैष्णव मत

हरिदासी	कबीर नानक आदि	वारकरी	महानुभाव पन्थ	उड़ीसा के
१३वीं शता०	सन्त सम्प्र०	१३ वीं शता०	११ वीं शता०	वैष्णव कवि
	१५ वीं शता०			पूर्वेसा प्रथम
				शताब्दी से

सूरदास के दार्शनिक विचार

वैष्णव भक्तों की विभिन्न दार्शनिक धारणाओं तथा धार्मिक विश्वासों का विवेचन हम कर चुके हैं। यहाँ हम भक्त कवियों में प्रमुख सूर व तुलसी की दार्शनिक विचार धाराओं पर किंचित विस्तार से विचार करेंगे। प्रथम सूरदास में प्रतिबिम्बित दार्शनिक धारणाओं को लीजिये।

वल्लभ के शुद्धाद्वैत मत के प्रतिपादन के पश्चात् स्वतः यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या सूर पूर्णतया उक्त मत के अनुयायी थे? भक्तिकाल के दो महान कवि सूर व तुलसी में दार्शनिक दृष्टि से मुख्य अन्तर यह है कि सूर ने अपना ध्यान लीला-गान पर ही अधिक रखा, विभिन्न दार्शनिक धारणाओं का ऊहापोह कर एक नवीन मत स्थापित करने का प्रयत्न नहीं किया। चिन्तन की अतल गहराइयों से अपनी रुचि के रत्नों को निकाल कर, विचारों का नूतन रत्नहार तुलसी ही सजा सके। वे ही १७ वीं शताब्दी के पूर्व की वैदिक तथा वैदिक मतों में अन्तर्भुक्त अवैदिक विचारावली में सामञ्जस्य स्थापित कर सके। ऐसी उद्भट कल्पना, तथा विराट दृष्टि उन्हें प्राप्त थी। तुलसी इसीलिए किसी एक विचार परम्परा में नहीं रखे जा सकते। सूर का मार्ग अपेक्षाकृत निश्चित था। वल्लभ का तत्त्वज्ञान ही उनका आधार था।

कवि प्रभावों के भार से दब सकता है, और उनसे सार-ग्रहण भी कर सकता है। सूर ने दूसरा कार्य किया था। सूर के समय एक ओर नाथ पन्थ था, दूसरी ओर शाङ्कर वेदान्त, तीसरी ओर वैष्णव सहजयान (विद्यापति, चण्डीदास, जयदेव)। साथ ही १५ वीं शताब्दी में नवोत्थित कबीर की वाणी चिन्तन के मन्दिर में गूँज रही थी, वल्लभ की वाणी एक ओर थी और लोक की विभिन्न दार्श-

निक ध्वनियाँ एक ओर। प्रश्न यह है इनकी कोई प्रतिध्वनि सूर में है?

इस सम्बन्ध में प्रथम संकेत यह है कि सूर पर कबीर व अद्वैत-वेदान्त का कुछ प्रभाव परिलक्षित होता है।

(१) चकईरी, चलि चरन सरोवर जहाँ न प्रेम-वियोग।

(२) चलि सखि, तेहि सरोवर माहिं।

(३) भृङ्गीरी, भजि स्याम कमलपद, जहाँ न निसि कौ त्रास।

उक्त अन्योक्तियाँ कबीर की पद्धति पर हैं इनमें कबीर के उसी 'परमपद' का वर्णन है जो द्वैताद्वैतविलक्षण है, जहाँ शिव, ब्रह्मादि प्रवेश नहीं कर पाते, न रवि-ससि वहाँ पहुँच पाते हैं। और भी—

धोखे धोखे ही डहकायो,
ज्यों कुरङ्ग जल देख अवनि को, प्यास न गई चहूँ दिसि धायो।
सूरदास भगवन्त भजन बिन, काल ब्याल लै आपु डसायो॥
—सूर

कस्तूरी बन में मृग खोजत, सूँघि फिरत बहु घासी।
कहत कबीर सुनो भई साधो, हरि बिनु कटत न फाँसी॥
—कबीर

× × × ×

जौ लौं सत्त स्वरूप न सूझत,
तौ लौं मृग-मद नाभि बिसारे, फिरत सकल बन बूझत।

× × × ×

अपुनपौ आपु ही विसरयो।
जैसे स्वान काँच मन्दिर में, भ्रमि-भ्रमि भूँकि मरयो॥
ज्यों सपने में रङ्क भूप भयो, तसकर अरि पकरयो।
ज्यों केहरि प्रतिविम्ब देखिकैं, आपनु कूप परयो॥

× × × ×

अपुनपौ आपुन ही में पायो।
सब्दहिं सब्द भयो उजियारो, सतगुरु भेद बतायो॥
राजकुमारि कंठ मनि भूपन, भ्रम भयो, कहूँ गँवायो।

दियो बताय और सखियन तब, तन को ताप नसायो ॥
सूरदास समुझे की यह गति, मन हीं मन मुसुकायो ।
कहि न जाय या सुख की महिमा, ज्यों गूँगे गुर खायो ॥

इन पदों में कबीर व शांकर वेदान्त का प्रभाव स्पष्ट है। इन उदाहरणों में जीव ब्रह्म की एकता, जगत का मिथ्यात्व, जीवन्मुक्ति, तत्त्व की अनिर्वचनीयता तथा 'परमपद' की विलक्षणता का वर्णन है। बाह्य उपासना के स्थान पर निर्गुणी सन्तों द्वारा प्रतिपादित अन्तर्मुखी वृत्ति पर जोर है। कहीं कृष्ण भक्ति का कोई उल्लेख नहीं है केवल 'धोखे ही धोखे डहकायो' की अन्तिम पंक्ति में अवश्य भगवंत भजन बिनु' का प्रयोग होता है। इस सम्बन्ध में निम्न बातें कही जा सकती हैं—

१—ये पद वल्लभ-मत में दीक्षित होने से पहले के हैं, सूर पहले जगत की असारता, वैराग्य आदि का उपदेश देते हुये यत्र तत्र भ्रमण करते थे, वल्लभ से दीक्षा लेने के पश्चात् सगुण भक्ति का उपदेश देने लगे।

२—सूर ने कबीर की शैली में कौतुक वश ये पद लिखे।

३—सूर के पदों में संग्रहकर्त्ताओं ने इन्हें मिला कर इन पर सूर की छाप लगादी।

४—केवल विरक्ति उत्पन्न करने, और जीव को ब्रह्म की ओर उन्मुख करने के लिये ये पद लिखे गये। सम्भव है कि वल्लभ से दीक्षा लेने के पूर्व ऐसे पद लिखे गये हों। परन्तु इसके अतिरिक्त एक सम्भावना स्वयं वल्लभ के दर्शन में मिलती है। वल्लभ भी तत्त्व की अनिर्वचनीयता पर जोर देते थे, और यह अनिर्वचनीयता तो वस्तुतः उपनिषद में ही विद्यमान है—

पूरन ब्रह्म पुरान बखानैं, चतुरानन सिव अन्त न जानैं।
गुन गन अगम, निगम नहि पावै, ताहि जसोदा गोद खिलावै।
जलधर, अनिल, अनल नभ, छाया, पंचतत्त्व तें जग उपजाया।
माया प्रगटि सकल जग मोहै, कारन करै सो सोहै।

शङ्कराचार्य का ब्रह्म श्रुतिप्रतिपादित निर्गुण ब्रह्म था, बल्लभ श्रुतियों के द्वार नगुण ब्रह्म को निम्न कोटि का और सगुण ब्रह्म को

उच्चकोटि का ब्रह्म मानते थे। शङ्कर सगुण को मायोपाधि युक्त कहते थे और निर्गुण को शुद्ध बतलाते थे, अर्थात् वल्लभ ने शङ्कर के विरुद्ध सगुण को निर्गुण से एक कक्षा ऊपर कर दिया। पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ही अक्षर ब्रह्म बनकर सृष्टि का कारण बनते हैं। ब्रह्म के दो रूप हैं (१) जो व्यापक वैकुण्ठ में नित्य लीलायें करता रहता है जिसका एक भाग व्रज है। (२) जो अनादि, अनन्त निर्गुण, और निर्विशेष है, इसमें 'पुरुषोत्तम' ब्रह्म के दिव्य गुण तिरोहित रहते हैं, ज्ञानियों को यही रूप मिलता है। हमने 'वल्लभीय-दर्शन' के प्रसंग में बताया है कि वल्लभ 'अक्षर ब्रह्म' (निर्गुण ब्रह्म') से 'पुरुषोत्तम' (पूर्ण ब्रह्म या पर-ब्रह्म) को एक सोपान ऊँचा मानते हैं। अक्षर ब्रह्म में सत्, चित्, आनन्द, तीनों तत्व रहते तो हैं, पर यह आनन्द 'गणितानन्द' रहता है। अतः अपरिमित आनन्द के आविर्भाव से युक्त गोलोकवासी पुरुषोत्तम के लोक की प्राप्ति ही उच्चतम स्थिति है, जिसे पाने के लिये देवता भी लालायित रहते हैं। ज्ञानियों को यह वैकुण्ठ-लाभ नहीं हो सकता, वे अक्षर-ब्रह्म में लय तो हो सकते हैं परन्तु नित्य-लीलाधाम में प्रवेश नहीं पा सकते।

स्पष्ट है कि वल्लभ सगुण भगवान-पुरुषोत्तम-कृष्ण को ही पूर्णरूप से सत्चित् आनन्दमय मानते हैं और उनके लीला स्थान 'व्यापी वैकुण्ठ' को ही भक्तों की परमगति मानते है। सूर अनिर्वचनीय पुरुषोत्तम के लोक की चर्चा तो 'चलि चकई री चरन सरोवर, जहाँ न प्रेम वियोग' इस पद में नहीं करते? या वे निर्गुणवादी कबीर के द्वारा प्रतिपादित विलक्षण मोक्षावस्था का वर्णन करते हैं? इसका एक मात्र उत्तर यह है कि सूर निश्चित रूप से उक्त 'पुरुषोत्तम' के अवर्णनीय, अलौकिक, रसरूप गोलोक की ओर ही संकेत करते हैं—परन्तु यह अन्योक्ति पद्धति निश्चित रूप से कबीर की है। यदि काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित 'सूरसागर' का पाठ आदर्श माना जाय तो अन्योक्ति प्रधान पदों में भी कुछ न कुछ सगुण ब्रह्म से सम्बन्धित संकेत मिल जाते हैं—

भृङ्गी री भजि श्याम कमल पद, जहाँ न निसि को त्रास।
जहाँ विधु भानु समान, एक रस, सो वारिज सुख रास।

× × ×

चकई री चलि चरन सरोवर, जहाँ न प्रेम वियोग।
लक्ष्मी सहित होति नित क्रीड़ा, सोभित सूरजदास।
अब न सुहात विषय रस छीलर, वा समुद्र की आस॥

यह तो हुई 'नित्यलोक' की ओर संकेत करने की बात।

वेदान्त सम्बन्धी पदों के सम्बन्ध में जिन पदों के नीचे भक्ति की प्रार्थना की गई है उनमें संसार के मिथ्यात्व का वर्णन है, 'जगत' का नहीं, वल्लभ जगत को शाश्वत तथा संसार को मिथ्या व भ्रममय मानते थे, अतः संसार का ही वर्णन कबीर की पद्धति पर विरक्ति उत्पन्न करने के लिये किया गया है। परन्तु जिन पदों में भक्ति की याचना नहीं है, उनमें तीर्थ, देवोपासनादि का खण्डन कर अन्तर्मुखी वृत्ति पर ध्यान दिया गया है, केवल सत्गुरु के 'सबद' पर विश्वास प्रकट किया गया है।

आपुनपौ, आपुन ही में पायो
सब्दहिं सब्द भयो उजियारो, सत्गुरु भेद बतायो।

इसके विषय में हमारा अनुमान इस प्रकार है—

१—वल्लभ मत में भी गुरु महिमा सन्तमत से कम नहीं है।

२—'पुरुषोत्तम' को जानने का रहस्य केवल गुरु ने ही बताया है। वेद-शास्त्र भी उसका रहस्य नहीं बता पाये। गुरु के 'सबद' ने ही इस गोपनीय तथ्य पर प्रकाश डाला है।

उक्त सारे उदाहरण आत्म तत्व को ही पहचानने पर जोर देते हैं। बिना अपने को जाने हुये तत्व का साक्षात्कार नहीं हो सकता, यह कबीर का सीधा अनुकरण कहा जा सकता है, क्योंकि वल्लभ में गुरुकृपा लीला गायन पर ही विशेष जोर है न कि आत्म-अनात्म के विचार पर। परन्तु सत्य यह है कि यहाँ भी शैली मात्र का ही अनुकरण है। सूर ने कबीर की शैली का अनुकरण (केवल शैली का अनुकरण) इसीलिये किया कि एक तो इसका जनता पर प्रभाव था। संसार से जीव का मन हटा कर ईश्वर की ओर ले जाने के लिए यह एक उत्तम उपाय था, दूसरे पुरुषोत्तम के वैकुण्ठ-की विचित्रता, ब्रह्मानन्द से भी महान लीला में प्रवेश पाकर भगवदा-नन्द की प्राप्ति, गुरु की महत्ता, अनात्म को आत्म समझने का भ्रम

आदि तत्त्वों के कारण कबीर की शैली उनके बहुत विरुद्ध नहीं पड़ती थी। पर ऐसे पद बहुत नहीं हैं।

इस प्रकार 'सूर' पर कबीर के वेदान्त के निर्गुणवाद, मायावाद, जीव ब्रह्मैक्य का कोई प्रभाव न था। शैली मात्र का अनुकरण ही 'सूर' में मिलता है। जो लोग सूर के पदों का अर्थ शंकर के अनुसार करते हैं, वे भूल करते हैं। बल्लभाचार्य के दर्शन में यह विशेषता है कि उन्होंने शङ्कर की शब्दावली माया, अध्यास, अविद्या आदि का प्रयोग तो किया है पर उनका अर्थ बदल दिया है। इसी प्रकार 'अपुनपौ आपुहि ही में पायो' आदि में प्रयुक्त उदाहरण, तथा शब्दावली से 'मायावाद' का भी समर्थन किया जा सकता है। परन्तु वह अर्थ ग़लत होगा क्योंकि यहाँ उन्हीं शब्दों का तात्पर्य बल्लभ के अनुसार होगा। एक पद हम यहाँ अर्थ सहित देते हैं।

जबलों सत्त स्वरूप न सूझत।
तौ लों मृग-मद नाभि-बिसारे, फिरत सकल बन बूझत।
अपने ही मुख मलिन मन्दमति, देखत दर्पन माँहिं।
ता कालिमा मेटबे कारन, पचत पखारत छाँहिं।

अर्थ—जब तक जीव को यह ज्ञान नहीं होता कि वह पुरुषोत्तम ब्रह्म श्रीकृष्ण का ही चिदंश है, तब तक उसे शांति नहीं मिलती। तब तक वह उसी प्रकार संसार के नश्वर पदार्थों में शांति खोजने का असफल प्रयत्न करता फिरता है, जिस प्रकार कस्तूरी हरिण अपनी नाभि में कस्तूरी को रखकर भी, उससे अपरिचित रह कर इधर उधर विकल होकर भ्रमण करता रहता है। संसार के सुखों (काञ्चन, कामिनी, मान, अभिमान आदि) को भ्रम के कारण सच्चा समझता है, और उस भ्रान्ति को नष्ट करने के लिये सांसारिक उपायों को ही उपयोग में लाता है। उसी प्रकार जिस प्रकार कोई व्यक्ति दर्पण में अपने मलिन मुख को देखकर, दर्पण स्थित प्रतिबिम्ब का प्रक्षालन करे और मुख को स्वच्छ करने का प्रयत्न न करे। अतः संसार को सत्य समझना भ्रमजन्य ज्ञान है उससे कभी आनन्द नहीं मिल सकता। भ्रम मय प्रतीति का नाश तो केवल भगवान की कृपा से ही हो सकता है, जिसे प्राप्त करने का प्रयत्न करना जीव का धर्म है।

एक विचार और है कि सूर पर मुसलमानों के एकेश्वरवाद का प्रभाव था, उनका ईश्वर, इस्लाम के 'खुदा' से मिलता जुलता है, क्योंकि जैसे 'खुदा' को मनमानी करने के अधिकार प्राप्त है, उसी प्रकार सूर का ईश्वर भी सब कुछ कर सकता है।

धर्म अधर्म, अधर्म धर्म करि, अकरन करन करै।
दयानिधि तेरी गति लखि न परै॥
जय और बिजय कर्म कह कीन्हों, ब्रह्म सराप दिवायो।
असुर जोनि दीन्हीं ता ऊपर, धर्म-उछेद करायो॥
पिता बचन खण्डे सो पापी, सोइ प्रहलादहिं कीन्हों।
निकसे खम्भ बीच तैं नरहरि, ताहि अभयपद दीन्हों।

मुसलमान खुदा के क़हर व रहम दोनों का बहुत बढ़ा चढ़ा कर वर्णन करते हैं, सूर भी ऐसा ही करते हैं। तुलसी ने भी ईश्वर को 'परम स्वतन्त्र न सिर पर कोई' कहा था और उनके बालिवध, विभीषण से मन्दोदरी के विवाह आदि कार्यों की आलोचना कर यही कहा था कि 'समरथ कों नहिं दोष गुसाईं'। तो क्या सारे मध्यकालीन ईश्वर की भावना पर इस्लामी-प्रभाव था? उत्तर होगा, नहीं, क्योंकि ईश्वर की लीला को मुसलमानों के आने के पूर्व ही रहस्यमय, गूढ़ और मानव बुद्धि के परे बता दिया गया था। भागवत में भी लीला की विचित्रता का वर्णन है। अतः सूर ईश्वर की मनमानी का वर्णन नहीं करते, लीला की विचित्रता दिखाते हैं और विभोर हो उठते हैं। वे जानते हैं कि उनके 'दयानिधि' ने जो कुछ किया था वह ठीक था।

नाथ पन्थ की सूर ने कड़ी आलोचना की है, वेदान्त के मायावाद, ब्रह्म तथा मुक्ति के स्वरूप का उपहास वे डट कर करते हैं। अतः 'मायावाद' की पुष्टि के उदाहरणों में 'संसार' का वर्णन समझना चाहिए। सूर भी विद्या व अविद्या माया को मानते हैं, अविद्या माया भ्रममय है। मृगतृष्णा, बन्दर व घड़ा, सुआ व पिंजड़ा, सुआ व सेमर आदि के उदाहरणों द्वारा वे 'संसार' की जो कांचन, कामिनी-स्वरूप है, निन्दा करते हैं। यह माया भी भगवान के वश में है—

माधव जू, नैंकु हटको गाय॥

तुलसी की तरह सूर भी 'माया' को जीव से विरत करने का

कार्य स्वयं भगवान ही करते हैं, ऐसा मानते हैं। पर सूर ज्ञान को महत्व नहीं देते, उनके यहाँ हरि कृपा ही सब कुछ है। इनकी भक्ति विरति, विवेक युक्त नहीं, प्रेम-लक्षणाभक्ति है जो सर्वस्व समर्पण पर आधारित है। वहाँ जग से विरति व भगवान के प्रति आसक्ति पर जोर दिया गया है, विवेकादि गुण तो स्वयं आ जाते हैं अतः ज्ञान को सूर सोपान के रूप में स्वीकार नहीं करते।

सूर ने सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन सांख्य-दर्शन के आधार पर किया है, माया से युक्त ईश्वर से प्रथम आकाश तथा उससे अपञ्चीकृत महाभूतों की उत्पत्ति का क्रम सूर नहीं अपनाते। स्पष्ट है कि जगत की सत्यता का आधार इससे पुष्ट होता है, जगत तो ब्रह्म का ही विग्रह है। सूर ने सूरसागर के तृतीय स्कन्ध में, भागवत के अनुकरण पर कपिल के सांख्य-दर्शन के अनुसार ही सृष्टि-प्रक्रिया का वर्णन किया है, परन्तु इसमें शुद्ध सांख्य नहीं है, क्योंकि सांख्य में तो प्रकृति ही सृष्टि का आदि कारण है पर सूर महत्तत्व से पूर्व निर्गुण ब्रह्म को मानते हैं—

निर्गुणतत्व — महत्तत्व — अहङ्कार — मन, इन्द्रियादि, पञ्चतन्मात्रायें — [पञ्चतन्मात्रा से] — पञ्चभूत।

इस प्रकार सांख्य-दर्शन व वेदान्त को मिला दिया गया है, साथ ही सत्, रज, तम को प्रकृति का गुण कहने का कारण डा० दीनदयालु गुप्त यह बताते हैं कि 'सर्वज्ञ सूर वल्लभ का पूर्णतया अनुकरण नहीं करते यथा उक्त सृष्टि प्रक्रिया में, परन्तु मुख्य-मुख्य सिद्धांतों में वे वल्लभ के ही अनुयायी हैं। उन पर शङ्कर के मायावाद, सांख्य दर्शन तथा अन्य किसी दर्शन का प्रभाव नहीं था। रही सृष्टि-प्रक्रिया की बात सो स्वयं वेदान्तियों ने इस सम्बन्ध में स्वतन्त्रता दिखाई है।

जगत, जीव व ब्रह्म की तात्विक एकता सूर मानते हैं। क्योंकि वे शुद्धाद्वैतवादी हैं परन्तु जीव, ब्रह्म से भिन्न भी है, यह भी मानते हैं। मुक्ति की अवस्था में ज्ञानी भले ही निराकार अक्षर ब्रह्म से एकात्म्य स्थापित कर, बूँद व समुद्र की तरह एक होना चाहें परन्तु सूर 'अक्षर ब्रह्म' से भी एक सोपान ऊपर 'पुरुषोत्तम' के 'व्यापी वैकुण्ठ' में भगवान और मुक्त जीवों के साथ नित्य लीला में प्रवेश कर ब्रह्मानन्द

से भी श्रेष्ठ 'परमानन्द' की प्राप्ति करना चाहते हैं। सूर की दृष्टि में अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति भी श्रेष्ठ वस्तु है पर पुरुषोत्तम की प्राप्ति, सर्वश्रेष्ठ है, यही भक्तों की 'सायुज्य मुक्ति' है—

सदा एक रस एक अखण्डित, आदि-अनादि अनूप।
कोटि कल्प बीतत नहिं जानत, विहरत युगल-स्वरूप॥
सकल तत्त्व ब्रह्माण्ड देव पुनि, माया सब विधि काल।
प्रकृति पुरुष श्रीपति नारायण, सब हैं अंश गुपाल॥

अन्तिम पंक्ति से स्पष्ट है कि प्रकृति, जीव आदि सब को सूर ब्रह्म का ही अंश मानते हैं।

निम्नलिखित पंक्ति में भक्तों की इसी सायुज्य मुक्ति (गोलोक प्राप्ति) का वर्णन है—

"सूर समाय जाय महानिधि में, बहुरि न उलटि जगत में नाँचे।"

वल्लभीय दर्शन का प्रभाव सूर के अतिरिक्त अष्टछाप के अन्य कवियों पर भी था। प्रायः कृष्णभक्त कवियों का उद्देश्य लीलागान होने के कारण तात्विक विवेचन व दार्शनिक क्षेत्र में स्वमत स्थापना की प्रवृत्ति उनमें नहीं मिलती। अष्टछाप के कवियों में सूर से भी अधिक नन्ददास में वल्लभ सम्प्रदाय की विचारधारा को वाणी मिली है, नन्ददास सम्प्रदाय के विचारों को कविता का आवरण पहनाने में अधिक प्रवीण थे, इसीलिये उनकी कविता में साम्प्रदायिकता अधिक है। परन्तु नन्ददास में न तो सूर जैसी कवि प्रतिभा थी न कबीर व तुलसी जैसी विचार-शक्ति, अतः हम अष्टछाप के अन्य कवियों में भी वल्लभाचार्य के सिद्धान्तों की ही घोषणायें पाते हैं।

सूर तुलसी की तरह बहुदेवोपासना तथा सेवक-सेव्य-भाव में विश्वास नहीं करते, उनकी भक्ति सखा भाव की है, राधा कृष्ण के विलास व गोपियों के सङ्ग रङ्ग-रास का वर्णन वे आध्यात्मिक जोश के साथ करते हैं। वैष्णवमत में सहजिया व शाक्त साधनाओं की अन्तर्भुक्ति का ही यह परिणाम था कि वैष्णव आचार्यों ने राधा व कृष्ण की भक्ति को ही सर्वाधिक महत्व दे दिया और स्वच्छन्द काम क्रीड़ा का गायन ही भक्तों के लिये महान साधना मानली गई। ऐसा प्रतीत होता है कि सूर पर यह प्रभाव कुछ बाद में पड़ा था। वल्लभ के पूर्ववर्ती

आचार्य विष्णु-स्वामी 'गोपाल' के उपासक थे। कृष्ण की शिशु-लीलायें ही उन्हें प्रिय थी। भागवत से भी गोपी-गोपाल की ही परम्परा आ रही थी। परन्तु सहजिया व शाक्त साधनाओं में स्त्री को ही साधना का आधार मानकर उसे 'शक्ति' मान लिया गया था, अतः उनसे प्रभावित वैष्णवों ने गोपाल के साथ राधा को मिला दिया और इस प्रकार राधा कृष्ण की स्वच्छन्द काम कला का वर्णन हुआ, सूर के पहले, जयदेव, विद्यापति व चण्डीदास इसी पथ पर चल चुके थे अतः इस आन्दोलन का प्रभाव सूर पर भी पड़ा। बल्लभ ने विष्णुस्वामी का अनुगमन करके पहले 'गोपाल' की ही उपासना प्रचलित की थी। बाद में विट्ठलनाथ जी के समय राधाभाव बहुत बढ़ गया, हितहरिवंश, तथा हरिदास, राधाभाव के प्रसिद्ध भक्त थे, सम्प्रदाय में राधाभाव का प्रभाव बढ़ते देख सूर ने राधा व कृष्ण के विलास को अपनाया और प्रेम का सागर उत्पन्न कर दिया।

जयदेव ने गोपियों की आध्यात्मिक रति को लौकिक रति के रूप में चित्रित किया, पर सन्तुलन न रह सका। विलास और काम-कला के कौतूहल में आध्यात्मिकता केवल खोजने से ही मिल सकी। विद्यापति भी जयदेव की तरह कमनीयता; प्रेमोद्वेग तथा केलि-कौतूहल को तो काव्य में उतार सके, परन्तु वह पाठक के मन में वह मनोभावना उत्पन्न न कर सके, जो लौकिक को अलौकिक में बदल देती है। चण्डीदास ने सर्वप्रथम राधा के विरह में वह व्याकुलता भरी। जब कवि लौकिक प्रसङ्गों का वर्णन कर उनसे अलौकिक की अनुभूति कराना चाहता है तो एक अद्भुत् सन्तुलन को आवश्यकता पड़ती है। यह सन्तुलन तभी आता है जब कवि की अनुभूति अलौकिक में डूब जाती है, अन्यथा सारा वर्णन अलौकिकता को एक ओर ढकेल कर प्रत्यक्ष रति का वर्णन हो जाता है। विद्यापति व जयदेव दरबारी कवि थे, अतः वे अपनी आसक्ति को उतना परिमार्जित न कर पाये। सूर की आध्यात्मिक अनुभूति विद्यापति से अधिक परिमार्जित थी। क्योंकि वे दरबारी कवि न थे। वे वस्तुतः राधा-कृष्ण के विहार को व्यापी वैकुण्ठ में पुरुषोत्तम की नित्य-लीला समझ कर ही वर्णन करते थे। उन तक आते-आते सहजिया-प्रभाव वैष्णव पवित्रता में अन्तर्भुक्त हो चुका था। वल्लभ के सम्प्रदाय में 'अनुराग और आवेश' का महत्व

अधिक था। अनुराग के आवेशमय क्षणों में, सूर के मानसिक क्षितिज पर उदित होकर राधा व कृष्ण की लीलायें उन्हें प्रेरणा देती थीं और वे उनका विभोर होकर वर्णन करते थे। इसी से सूर को पढ़ते समय उनमें हमें एक निर्दोष भोलापन मिलता है। हमें सदा स्मरण रहता है कि 'एकोऽहं बहुस्यामि, एकाकी न रमते' की घोषणा करने वाला परब्रह्म, कृष्ण का रूप धारण कर अपने ही अंशों के साथ क्रीड़ा कर रहा है। अतः सूर के द्वारा ब्रज का सारा चित्र एक पवित्र स्तर पर हमें उठाकर रख देता है। संयोग के समय घोर-से घोर शृङ्गारिक-चेष्टाओं के वर्णन में सूर हमें सदा याद दिलाते रहते हैं कि हम असाधारण पुरुष की असाधारण लीला देख रहे हैं। इसीलिए विनोद, कौतुक, क्रीड़ा और सबके पीछे विरह की कातरता ने सूर-सागर में एक सन्तुलन उत्पन्न कर दिया है। कवि की इस तटस्थता ने 'सूर' को रीतिकाल का कवि होने से बचा लिया। हिन्दी-रीतिकाल के कवि इस निरपेक्षता की रक्षा न कर सके, उसी प्रकार जिस प्रकार शराब, प्याला, सुराही आदि के प्रतीकों में वर्णित होने वाली सूफियों की आध्यात्मिक व्यञ्जना उर्दू के परवर्ती कवियों में आकर विकृत होगई।

तुलसी का दार्शनिक दृष्टिकोण

'सूर' के पश्चात् हम तुलसी की दार्शनिक धारणाओं पर विचार करते हैं। तुलसी 'मानस' में "नाना पुराण निगमागम" का ही नहीं "क्वचिदन्यतोऽपि" का भी समावेश करते हैं। विनयपत्रिका में वे मूलतः दार्शनिक चर्चायें ही करते हैं और मानव के लिये मुक्ति का मार्ग खोजते हैं। हम अब तक ऋग्वेद से लेकर वैष्णव भक्तों तक सारे दार्शनिक ऊहापोह पर विचार कर चुके हैं; कम-से-कम वे तत्व हमारे सम्मुख आ चुके हैं जो तुलसी के दर्शन पर व्यक्त या अव्यक्त रूप से प्रभाव डाल सकते हैं। अतः अब हम तुलसी के दार्शनिक स्रोतों की ओर संकेत कर उनके विचारों का संक्षिप्त विश्लेषण प्रस्तुत करेंगे।

तुलसी में एक ओर तो वेद-पुराण, आगमादि के सिद्धान्त हैं और दूसरी ओर कुछ सिद्धान्त अन्य स्थानों से भी आये हैं, इन प्रभावों में विद्वानों ने बताया है कि तुलसी पर प्राकृत-अपभ्रंश के काव्यों यथा स्वयंभू की रामायण आदि का प्रभाव पड़ा होगा पर यह तो साहित्यिक प्रभाव की बात हुई। क्या 'तुलसी' पर शास्त्रीय प्रभाव छोड़कर अवैदिक सम्प्रदायों के भी प्रभाव थे? उत्तर होगा जहाँ तक सिद्धान्तों का सम्बन्ध है तुलसी शास्त्रों पर ही अवलम्बित रहते हैं, शैवों व शाक्तों को तो तुलसी वेद का अविरोधी बताकर अपनी साधना में सम्मिलित ही कर लेते हैं, अब शेष रहे सिद्ध, नाथ और सन्त सम्प्रदाय इनके वे कठोर आलोचक हैं ही।

जहाँ तक शास्त्रों का प्रश्न है वहाँ तक उन पर कौन-कौन से प्रभाव पड़े हैं? तुलसी ने बताया है कि वे वेदवादी हैं। किस अर्थ में? तुलसीदास यज्ञ, योग का समर्थन करते हैं, वेदों को सारी विद्याओं का आदि स्रोत मानते हैं, उन्हें अपौरुषेय मानते हैं, वेद का स्वतः प्रामा-

थवाद भी जो मीमांसक मानते थे, तुलसी को अक्षरशः मान्य है। जो सिद्धान्त वेद विरुद्ध है उसे वे स्वीकार नहीं करते। वे स्थान-स्थान पर वेद की दुहाई देते नहीं तृप्त होते, वे पुराण, आगम की बात भी वेद के नाम पर ही कह जाते हैं क्योंकि पुराण, आगमादि को वे वेद के विरुद्ध नहीं मानते। सारी हिन्दू जाति के प्रेरणा-स्रोत वेद ही हैं, तुलसी वेदवादी हैं।

'पुराणों' को आर्य समाजी वेद के विरुद्ध मानता है पर तुलसी उन्हें वेद का अविरोधी मानते हैं, "वेद के सत्य को ही पुराणों ने काल्पनिक शैली में समझाया है"। तुलसी की भक्ति पुराणों में ही परिपक्व होती है। पुराण जिस काल में बन रहे थे (बौद्धधर्म के अभ्युदय से लेकर शंकराचार्य के समय तक) उस समय भारतीय साधना क्षेत्र में विकट उथल पुथल थी, अतः पुराणों में समन्वय की प्रवृत्ति मिलती है, कम से कम उन पुराणों में जो अनुकरणीय हुये। जब जिस जाति पर संकट समुपस्थित होता है तो वह जाति अपने विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों का विरोध भूल जाती है, वह परस्पर विपरीत सिद्धान्तों के परिपोषकों को एक ही साथ श्रद्धा का विषय बनाती है। यह प्रवृत्ति सर्वाधिक रूप से गीता, व भागवत में दिखाई पड़ती है। सांख्य, निष्काम कर्म योग, ज्ञानमय संन्यासमार्ग तथा भक्ति मार्ग अलग-अलग सिद्धान्तों पर पुष्ट होते आ रहे थे। भक्तिमार्ग महाभारत में वर्णित सात्वतों द्वारा तथा सांख्य कपिल द्वारा प्रवर्तित और पुष्ट हुये थे। ज्ञान की धारा उपनिषद् से आई थी। गीता ने सांख्य, उपनिषद् को ज्ञान मार्ग, तथा भक्ति के सिद्धान्त को मिलाकर ज्ञान, कर्म, भक्ति का समुच्चय कर दिया जो आगे चलकर वैष्णव आचार्यों को भी मान्य हुआ और भक्तों को भी। गीता इसीलिये युग प्रवर्तक ग्रन्थ बना। क्योंकि गीता ने अपने समय तक की सारी दार्शनिक धारणाओं को पचाकर अपना सिद्धान्त निकाला था अतः उसमें एकांगिता के स्थान पर सार ग्राहिणी प्रवृत्ति होने के कारण उसे बहुमान्यता प्राप्त होगई। ठीक इसी प्रकार 'तुलसी' ने विभिन्न दार्शनिक धारणाओं को अपने सिद्धान्त में इस प्रकार मिलाया कि वह सिद्धान्त बहुमान्य होगया। तो गीता की यह समन्वय-मयी प्रवृत्ति तुलसी के सम्मुख थी।

साथ ही भक्तों का आधार था 'भागवत-पुराण'। तुलसी के युग

में ही कृष्ण भक्त कवि उसे वेद के समान मानते थे। गीता में सांख्य योग व कर्मयोग को केवल अविरोधी बताया गया था, यह नहीं कहा गया कि कपिल भक्त थे या कर्मयोगी थे, उन्हें सांख्य योगी ही बताया गया। परन्तु भागवत तो परवर्ती ग्रन्थ है और भक्ति के प्रचार तथा नास्तिक मतों के सम्मुख अपने को संगठित करने, अधिक प्रचलित होने, धर्म को सरल करने तथा नास्तिक मतों के प्रतिष्ठापकों को भी स्वीकार कर उन्हें भी अपने में समेट लेने की व्यापक प्रवृत्ति के परिणाम स्वरूप लिखा गया है, अतः भागवतकार ने सांख्यमार्गी, तपस्वी, ज्ञानी आदि सबको भक्त बना डाला है और भक्ति को ऊपर रखकर उनके अपने सिद्धान्त भी दे दिये हैं यथा कपिल के द्वारा सांख्य-तत्व ज्ञान का उपदेश कराने के पूर्व व पश्चात् भागवतकार उन्हें भक्त ही घोषित करता है। पुराणों की इस प्रवृत्ति का परिपालन तुलसी की 'रामायण' में सर्वत्र दिखाई पड़ता है। 'मानस' में उपनिषद युग के याज्ञवल्क्य, शैव मत के आराध्य, शंकर, शक्ति मत की अधिष्ठात्री 'पार्वती', तत्त्वज्ञानी काकभुशुण्डि आदि सब भक्त बताये गये हैं। यही नहीं यज्ञ और तपस्या के युग में निवास करने वाले अगस्त्य, शरभङ्ग, भारद्वाज विश्वामित्र, वशिष्ठ आदि सभी मुनि भी भक्त घोषित किये गये हैं और ये भी भगवान राम का रूप देखकर भावुकता में निमग्न हो जाते हैं, यद्यपि वे राग द्वेष से परे हो चुके हैं। तुलसी ने भक्ति की श्रेष्ठता ज्ञान पर इसी ढङ्ग से स्थापित की है। उन्होंने सूर की तरह ज्ञान का खण्डन नहीं किया क्योंकि 'तुलसी' जानते थे कि मत वही बहुमान्य होगा जिसमें सबका सार ग्रहण किया जाय। अतः जहाँ सूर के मत में ज्ञान की मर्यादा आदि का महत्व नहीं है, केवल प्रेम व समर्पण की ही मान्यता है, वहाँ तुलसी की भक्ति, ज्ञान की बैसाखी के बिना चलती ही नहीं।

श्रुति सम्मत हरि भक्त पथ, संजुत विरति विवेक।

'सूर' के यहाँ वेदमार्ग को, ज्ञान और तप को, मर्यादा और योग को महत्व ही नहीं मिला। मर्यादामार्ग वहाँ मध्यम मार्ग है, किन्तु 'तुलसी' तो अपने भक्ति पन्थ पर सर्वप्रथम वेद की मुहर लगाते हैं और वैराग्य व विवेक की आवश्यकता पर ज़ोर देते हैं इसीलिए सारे वैरागी, उदासी, तपस्वी, तत्त्वज्ञानी, यज्ञ-विश्वासी 'मानस' में राम

के भक्त दिखाये गये हैं, भक्ति का किसी से विरोध नहीं।

—ता तुलसी के सम्मुख गीता के बाद दूसरा आदर्श था पुराणों का जिनमें उक्त समन्वय की पूरी-पूरी प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है।

तीसरा स्रोत है 'आगमों' का। आगम वेद विरुद्ध मार्ग को अपनाते हैं। शङ्कर ने शैव व वैष्णव मतों को वेद विरुद्ध बतला कर उनका खण्डन किया है और केवल उपनिषद् पर आधारित ज्ञान-मार्ग का ही उपदेश दिया है। वस्तुतः आगमवादियों के भी दो रूप रहे हैं—(१) वे शैव और शाक्त जो उपासना में तान्त्रिक गुह्य साधनाओं से अपने को विरत रखते हैं। (२) वे शैव व शाक्त जो गुह्यसाधक थे और वाममार्ग में पड़ कर भ्रष्ट हो चुके थे।

तुलसी प्रथम प्रकार के शैव व शाक्त मतों को अपनाते हैं जो कि दक्षिण मार्ग को नहीं त्यागते। अतः 'आगम' द्वारा समर्थित मतों का भी 'मानस' में समन्वय है। वे स्मार्त-मत को भी अपनाते हैं जिसमें पञ्चदेवों की उपासना होती है।

हिन्दुओं की नीति व आचार स्मृतियों पर आधारित हैं। तुलसी ने अपनी सामाजिक व्यवस्था इन्हीं स्मृतियों पर ही स्थापित की है। वे लौकिक व्यवहार में सवर्णों को अधिक अधिकार देते हैं और शूद्रों आदि को कम परन्तु भक्ति के क्षेत्र में वे साम्यवादी हैं। हिन्दू-धर्म में उपनिषद् युग से ही विचार व व्यवहार परस्पर विरोधी रहे हैं। विचार की दृष्टि से ब्राह्मण "शुनिचैश्वपाके च, पण्डिताः समदर्शिनः" चाण्डाल, श्वान तथा पण्डितों में एक ही ब्रह्म की सत्ता स्वीकार करते हैं परन्तु व्यवहार के क्षेत्र में "स्वधर्मे निधनं श्रेयः, परधर्मो भयावहः" की घोषणा कर वे वर्णाश्रमधर्म का कड़ाई से पालन कर समाज के भेदभाव को स्थिर रखते हैं। वे "चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं, गुण कर्म विभागशः" को भी भूल जाते हैं। और गुण व कर्म की उपेक्षा कर जन्म से ही जाति को मान्यता देते हैं, यही भावना तुलसी के समाज-विधान में है। मानसिक समता के वे हामी हैं, भक्ति के क्षेत्र में व्यावहारिक समता भी वे स्वीकार कर लेते हैं, परन्तु सामाजिक रूप से वे कठोर भेदवाद के पोषक हैं।

इस प्रकार पुराण, निगम, आगम, स्मृति आदि सभी धाराओं

का समन्वय कर 'तुलसी' ने एक नया काव्यात्मक पुराण 'मानस' के रूप में रचा था।

तत्त्वज्ञान की दृष्टि से उपनिषद् का आत्मवाद तुलसी के पूर्व शङ्कर, रामानुज, मध्व, निम्बार्क तथा वल्लभ द्वारा विभिन्न रूपों में प्रतिपादित हो चुका था। जीव, जगत तथा ब्रह्म के सम्बन्ध में उक्त आचार्यों ने विभिन्न व्याख्यायें प्रस्तुत कीं। सूर ने 'वल्लभ' का पूर्णतया अनुगमन किया यद्यपि शङ्कराद्वैत तथा कबीर के द्वैताद्वैत विलक्षणवाद से प्रभावित कतिपय पद सूर में मिलते हैं परन्तु वे किसी प्रकार का भ्रम उत्पन्न नहीं करते क्योंकि सूर अनेक सिद्धान्तों को मिला कर एक मिला-जुला पन्थ नहीं निकालते, तुलसी यह करते हैं।

तुलसी के सम्बन्ध में प्रथम प्रश्न होता है कि वे अद्वैतवादी थे या विशिष्टाद्वैतवादी। अनेक विद्वानों ने इसके अनेक उत्तर दिये हैं। तुलसी में वस्तुतः इन दोनों मतों को पुष्ट करने वाले उदाहरण मिल जाते हैं। इसका अर्थ यह है कि तुलसी ने जान-बूझ कर उक्त मतों का मिश्रण किया है। हम कह आये हैं कि तुलसी अपने से पूर्व के दक्षिण-मार्गी आचार्यों के विचारों के परस्पर विरोध को भुला कर सामञ्जस्य खोजने वाले कवि हैं। अद्वैत और विशिष्ट अद्वैत का झगड़ा तो रामानुज व शंकर के लिये था तुलसी के लिये नहीं। तुलसी तो 'सीताराम मय' बनाकर सभी सिद्धान्तों का समावेश करते हैं। तब क्या तुलसी ने भ्रान्तियों की पुष्टि की है? हमें सतर्क होकर तुलसी के सिद्धान्तों को देखना होगा।

तुलसी रामानन्द के रामावत सम्प्रदाय के भक्त हैं। रामावत सम्प्रदाय का सिद्धान्त विशिष्टाद्वैतवादी है, किन्तु रामानन्द के आराध्य लक्ष्मी नारायण नहीं, राम व सीता हैं। रामानन्द ने राम को सगुण व निर्गुण दोनों ही रूपों में माना है। वे जीव का नानात्व तथा ब्रह्म से उसका भेद स्वीकार करते हैं। तुलसी सीताराम को उपास्य मानकर राम को सगुण व निर्गुण दोनों मानते हैं। राम व निर्गुण ब्रह्म को अभिन्न सिद्ध करने में तुलसी ने सारी शक्ति लगादी है, किन्तु तुलसी जगत व जीव व माया का वर्णन शङ्कर की पद्धति पर करते हैं और भक्ति व मायावाद में अविरोध स्थापित कर देते हैं।

तुलसी और मायावाद—(१) शङ्कर के अनुसार ब्रह्म निर्गुण, निरुपाधि, अगम और अगोचर है, तुलसी यह मानते हैं।

(२) मायावाद के अनुसार निर्गुण ब्रह्म माया से आवृत होकर सगुण बनता है अतः सगुण रूप मुख्य नहीं है। तुलसी इसका समर्थन नहीं करते, वे माया को एक शक्ति के रूप में स्वीकार करते हैं, सीता ही वह योग माया है, निर्गुण ब्रह्म अपनी शक्ति से सगुण रूप धारण करता है यथा नट अनेक रूप धारण करता है, अतः सगुण व निर्गुण दोनों ही रूप सत्य हैं, यहाँ तुलसी शङ्कर व रामानुज दोनों से भिन्न पद्धति प्रयोग में लाते हैं। रामानुज के यहाँ चिदंश से जीव, व अचित् अंश से जड़ जगत उत्पन्न होता है परन्तु तुलसी इसके विरुद्ध जगत को ब्रह्म की शक्ति माया से उत्पन्न बताते हैं। अतः इन्द्रजाल से उत्पन्न वस्तुओं के समान वह सच्चा नहीं है। अतः जगत के सम्बन्ध में उनकी धारणायें शङ्कर मत के ही अनुकूल हैं, परन्तु सगुण व निर्गुण को एक मानना यह शंकर मत के विरुद्ध पड़ता है। इस प्रकार तुलसी मत में निर्गुण ब्रह्म, सगुण रूप धारण कर सकता है।

शंकर के लिये सगुण ब्रह्म मायोपाधिजन्य है, तुलसी के लिये वह उपाधिजन्य नहीं, शुद्ध ब्रह्म ही अपनी शक्ति से संयुक्त होकर सगुण ब्रह्म बन जाता है।[1] इस सम्बन्ध में गीता का आदर्श तुलसी के सम्मुख है जहाँ सगुण व निर्गुण में अविरोध है, शंकर ने गीता के अर्थ में खींचातानी की है।

(३) जैसा कहा कि 'माया' का वर्णन शंकर की पद्धति पर है

१—चूँकि तुलसी सगुण रूप को भी शुद्ध मानते हैं, कुछ माया की उपाधि से संयुक्त नहीं अतः जो निर्गुण है वह सगुण कैसा? यह भ्रम उत्पन्न हो जाता है। तुलसी कहते हैं यही तो राम की विचित्र शक्ति (माया) है कि वे सगुण, निर्गुण दोनों हैं और दोनों से परे भी हैं। अतः इस रहस्य को न समझने के कारण ही भ्रम पैदा होता है। सगुण ब्रह्म को समझना निर्गुण से कठिन है :—

निर्गुन रूप सुलभ अति, सगुन जान नहिं कोय।
सुगम अगम नाना चरित, सुनि मुनिमन भ्रम होय॥

तथापि तुलसी उसे एक शक्ति के रूप में मानते हैं, जो नाना प्रकार के भ्रम उत्पन्न कर जीव में दुःखों की भ्रांति उत्पन्न कर देती है, और द्वैत ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। वे अध्यात्म रामायण के अनुसार माया को विद्या-माया और अविद्या माया में विभाजित करते हैं। विद्या माया सृष्टि की रचना करती है और अविद्या, काञ्चन, कामिनी, यश, आदि के प्रति आसक्ति उत्पन्न करती है, और तब 'जीव' को मिथ्या जगत में रमणीयता प्रतीत होने लगती है। वह ब्रह्म से अपने को भिन्न समझने लगता है, द्वैत बुद्धि से दुख का जन्म होता है। माया के इस सिद्धान्त में अविद्या माया का वर्णन शंकर के अनुसार ही है, 'विद्यामाया' को भक्ति की व्यावहारिकता के कारण तुलसी ने सीता मान लिया है अन्यथा उसका शंकर की 'माया' से जो ब्रह्म के साथ संयुक्त होकर आकाशादि प्रपञ्च को उत्पन्न करती है, सामञ्जस्य कर सकते हैं। तुलसी के अनुसार विद्यामाया कम हानि-कारक है, भ्रम तो रहता है पर भक्त का इससे नाश नहीं होता, शंकर माया के ऐसे भेद नहीं करते।[1] जैसे अयोध्या में राम ने काकभुशुण्डि को बालक रूप में ब्रह्माण्ड दिखाकर भ्रम में डाला था, यह विद्यामाया थी पर इससे भक्त का नाश नहीं हुआ वह राम की लीला को समझने योग्य बन गया, परन्तु अविद्या माया से जीव का नाश निश्चित है।

(४) तुलसी जीव व ब्रह्म में किसी प्रकार का अन्तर नहीं मानते, तात्विक दृष्टि से (शङ्कर की दृष्टि से) जीव व ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं है, भेद तो माया के कारण जान पड़ता है।[2] अतः जीव व ब्रह्म के अद्वैत का ही समर्थन तुलसी करते हैं परन्तु तुलसी मुक्ति का वर्णन करते हुये भी रामानुज की पद्धति पर मुक्ति की अवस्था में द्वैत को स्वीकर कर ब्रह्म के सीताराम रूप में मग्न रहना चाहते हैं। सारूप्य व

१—हरि सेवकहिं न व्याप अविद्या, प्रभु प्रेरित व्यापइ तेहि विद्या।
तातैं नास न होइ दासकर, भेद भगति बाढ़इ विहंगवर॥

२—ज्ञान अखण्ड एक सीतावर, माया वस्य जीव सचराचर।
जौ सबके रह ज्ञान एकरस, ईश्वर जीवहिं भेद कहहु कस।
माया वस्य जीव अभिमानी, ईस वस्य माया गुन खानी।
परबस जीव स्वबस भगवन्ता, जीव अनेक एक श्रीकन्ता।
मुधाभेद जद्यपि कृत माया, बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया॥

सालोक्य भक्ति सायुज्य से कहीं अधिक आनन्ददायिनी है। भक्त अनपायनी भक्ति चाहता है, मुक्ति नहीं। अतः तुलसी मुक्ति का अधिकारी संन्यासी को मानते हैं परन्तु भक्त तो 'भगवान के रूप में ही निमग्न रहता है। सायुज्य मुक्ति तो 'अनइच्छित बरआई'—बिना इच्छा के स्वयमेव आ जाती है।

(५) इस प्रकार तुलसी भक्तिवाद व मायावाद में विरोध नहीं मानते। रामानुज, वल्लभ, मध्वादि ने 'मायावाद' का खण्डन कर ज्ञान से भक्ति को अधिक महत्व दिया है, तुलसी माया के द्वारा (शक्ति के रूप में) ही जगत की उत्पत्ति मानते हैं और जगत के भ्रममय रूप की पहचान ज्ञान द्वारा ही सम्भव मानते हैं, ज्ञान और विज्ञान से जीव यह समझ लेता है कि द्वैतवाद भ्रान्तिमय है, अतः वह जगत को इन्द्रजाल के खेल के समान समझ कर मायापति ब्रह्म व स्वयं अपने में भेद नहीं समझता, 'सोऽहमस्मि' का अनुभव करता है। तब निर्गुण ब्रह्म के सगुण रूप राम के प्रति उसमें अखण्ड अनुराग जगता है। अर्थात् अज्ञान का नाश ज्ञान से होता है, और वैधी भक्ति उत्पन्न होती है, अतः तत्त्वज्ञानी भक्त बनता है। परन्तु सामान्य जन भी मायापति ब्रह्म की अहेतुकी कृपा से उस अचल अनुराग को पा जाते हैं और उन्हें तत्त्वज्ञान की आवश्यकता नहीं पड़ती। शबरी, निषाद की भक्ति ऐसी ही थी*। भगवान यदि कृपा करे तो ज्ञान-विज्ञान के बिना भी अखण्ड भक्ति का उदय मन में हो जाता है। भगवान स्वेच्छा से भक्त के हृदय से माया का हरण कर लेते हैं। इस प्रकार मायावाद व भक्ति का अवरोध तुलसी ने स्थापित कर दिखाया है।

इसीलिये तुलसी ने अपने भक्ति-भाव को 'श्रुति सम्मत' और 'विरति-विवेक' युक्त माना है। वे जगत की सत्ता को शंकर के समान शुक्ति में रजत के समान मिथ्या दिखाकर जीव में 'विरति'=वैराग्य जगाते हैं। ज्ञान से जब विरति का उदय होता है और जीव द्वैतभाव का नाश कर देता है तभी भक्ति उदित होती है। यह पद्धति तुलसी की अपनी है। तुलसी ज्ञान की महत्ता स्थापित करते हैं परन्तु सर्वस्व वे भक्ति को ही मानते हैं, कोरा तत्त्वज्ञान खतरनाक भी है क्योंकि

* देखिए अध्यात्म रामायण के अरण्यकाण्ड में राम द्वारा उपदेशित नवधाभक्ति।

उसमें समर्पण का भाव नहीं होता, सजग विवेक से अज्ञान को जीतने की भावना रहती है, अतः वह कार्य कठिन है, कृपाण की धार के समान कठिन ज्ञान के पथ से भ्रष्ट होने की आशंका रहती है, परन्तु भक्ति पथ में राम के ऊपर ही सर्वस्व उत्तरदायित्व छोड़ देने के कारण, रामकृपा पर ही भरोसा करने से, माया का नाश करने का कार्य मायापति का कर्त्तव्य हो जाता है। साथ ही भक्ति नारी है और माया भी नारी है। नारी पर नारी का जादू नहीं चलता पर पुरुष कितना ही विवेक युक्त हो, नारी (माया) के पाश में फस हो जाता है। माया का कटक बड़ा प्रचण्ड है, शिव व चतुरानन तक इसी के चक्कर में पड़ जाते हैं। ऋषि, मुनि इससे डरते हैं परन्तु भक्त निश्चिन्त रहता है। उसका उद्धार तो भगवान की कृपा पर रहता है जिसे प्राप्त करने के लिये वह नवधा भक्ति का पथ अनुसरण करता है * और दास भाव से भगवान के दर्शन लाभ की इच्छा करता है। इस प्रकार रामानुज के अनुसार भक्ति को श्रेष्ठ भी प्रमाणित कर दिखाया गया और ज्ञान की महत्ता भी स्वीकार कर ली गई। तुलसी को इसीलिये ज्ञान के खण्डन करने की कहीं आवश्यकता नहीं पड़ी जैसा कि सूर को 'भ्रमर गीत' में करना पड़ा। ×

मायावाद और भक्ति में अविरोध 'अध्यात्म रामायण' में भी दिखाया गया है। इसमें अनेक स्थानों पर शंकराचार्य की भाषा में ब्रह्म, जीव, जगत् का वर्णन हुआ है। सृष्टि प्रक्रिया का वर्णन सांख्य की पद्धति पर हुआ है, और अन्त में सगुण भक्ति का उपदेश दिया गया है। 'अध्यात्म रामायण' 'ब्रह्माण्ड पुराण' के उत्तरखण्ड के अन्तर्गत मानी जाती है। अध्यात्म रामायण व मानस की कथाओं में सबसे अधिक साम्य दिखाई पड़ता है, अतः 'अध्यात्म रामायण' का प्रभाव तुलसी की सिद्धान्त पद्धति पर भी सबसे अधिक पड़ा होगा। 'अध्यात्म रामायण' में अनेक प्रसंग उठाकर तत्त्वज्ञान का उपदेश किया गया है और भक्तिभाव को प्राप्त करने पर भी जोर दिया गया है। भक्ति व ज्ञान का सामञ्जस्य 'अध्यात्म रामायण' की विशेषता है।

'मानस' में बार बार यह शंका उठाई गई है कि क्या राम ब्रह्म

---

* तुलसी ने अध्यात्मरामायण की नवधाभक्ति को ही अपनाया है।

× तुलसीदास हरि गुरु करुणाबिनु विमल बिवेक न होई।
बिनु बिवेक संसार घोर निधि पार न पावै कोई॥

हैं, 'अध्यात्म रामायण' में भी मूल शंका यही है। पार्वती पूछती हैं—

वदन्ति रामं परमेक माद्यं, निरस्तमाया गुणसंप्रवाहम्।
भजन्ति चाहर्निशमप्रमत्ताः, परं पदं यान्ति तथैवसिद्धाः
वदन्ति केचित् परमोऽपि रामः, स्वाविद्यया संवृतमात्मसंज्ञम्।
जानाति नात्मानमतः परेण, सन्बोधितो वेद परात्मतत्वम्।
यदि स्म जानाति कुतो विलापः, सीताकृतेऽनेन कृतः परेण।
जानाति नैवं यदि केन सेव्यः, समोहि सर्वैरपि जीव जातैः

भाव यह है कि कोई राम को अद्वितीय, प्रकृति से परे बतलाते हैं, परन्तु कोई कहते हैं कि राम माया से आवृत हो गये थे, वशिष्ठ ने उन्हें आत्म ज्ञान दिया। यदि वे स्वयं आत्म ज्ञानी थे तो सीता के लिये विलाप क्यों किया? और यदि उन्हें आत्म-ज्ञान नहीं था तो वे अन्य सामान्य जीवों के समान ही हुये, उनका भजन क्यों कर?

शंकर इस प्रश्न का उत्तर जिस प्रकार देते हैं उसी प्रकार अनेक वार 'अध्यात्मरामायण' राम के ब्रह्मत्व को प्रमाणित करती है और जीव व ब्रह्म की अभिन्नता तथा जगत के मिथ्यात्व का प्रतिपादन करती है। तुलसी ने भी यही पद्धति अपनाई है—

"मूढ़ मायातीत शुद्ध परमात्मा में अपने अज्ञान को आरोपित कर देते हैं—अज्ञ अपने गले के हार को न जानने के समान हृदय-स्थित राम को नहीं जानते। चक्कर लगाते समय मनुष्य के नेत्र घूमने से गृह आदि भी घूमने लगते हैं, उसी प्रकार लोग देह व इन्द्रिय के अभिमान से कर्मों का आत्मा में आरोप कर देते हैं।*

'अध्यात्म रामायण' में शंकर के अतिरिक्त राम व हनुमान, नारद व राम, लक्ष्मण व राम, राम व कैकेयी, सुतीक्ष्ण व राम, अगस्त्य व राम, राम व सुग्रीव, हनुमान व रावण, विभीषण व रावण, विभीषण व राम, समुद्र व राम, शुक व रावण, कालनेमि व रावण, कुम्भकर्ण व रावण, रावण व मन्दोदरी, लक्ष्मण व विभीषण, ब्रह्मा व राम, भरद्वाज व राम, महादेव व राम के बीच यही आत्म-ज्ञान की चर्चा रहती है। इसमें—

---

* नौकारूढ़ चलत जग देखा। अचल मोहवस आपुहि लेखा॥
बालक भ्रमहिं, न भ्रमहिं गृहादी। कहहि परस्पर मिथ्यावादी॥

(१) राम का ब्रह्मत्व स्थापित किया गया है।

(२) उन्हें विष्णु रूप में अवतरित माना गया है, वैसे वे "विधि, हरि शम्भु नचावन हारे" हैं। "विश्वस्य सृष्टिलयसंस्थितिहेतुरेकस्त्वं मायया त्रिगुणया त्रिधिरीशविष्णू।" अर्थात् हे प्रभो, आप ही इस विश्व की उत्पत्ति, स्थिति, और प्रलय के कारण होते हुये, त्रिगुणमयी माया के कारण ब्रह्मा, विष्णु व महादेव के रूप में प्रकट होते हैं।

(३) जीव ब्रह्म की एकता प्रतिपादित की गई है।

(जीवश्च परमात्मा च पर्यायो नात्रभेदधीः)

(४) जगत का मिथ्यात्व प्रतिपादित किया गया है।

(५) शंकराचार्य की शब्दावली अपनाई गई है।

(६) भक्ति को महत्ता दृढ़ की गई है।

(७) भक्ति 'संयुत विरति विवेक' मानी गई है।

(ज्ञानं विज्ञान सहितं, भक्ति वैराग्य बृंहितम्)

(८) राम का 'मर्यादावाद' भी खूब निभाया गया है।

'मानस' में भी उक्त तत्व इसी रूप में मिलते हैं। तुलसी की सारी शक्ति भक्ति की महत्ता, राम के ब्रह्मत्व तथा ज्ञान व भक्ति के सामञ्जस्य स्थापित करने में ही लगी है। इतना अवश्य है कि 'अध्यात्म रामायण' शङ्कर के मायावाद पर जहाँ बहुत अधिक जोर देती है वहाँ तुलसी भक्ति की अनन्यता पर अधिक ध्यान देते हैं। विनयपत्रिका में भी माया के आधार पर संसार के मिथ्यात्व का प्रतिपादन शङ्कर की पद्धति पर करके वे भक्ति मार्ग का विवेचन करने लग जाते हैं। अतः यही सारांश निकलता है कि तुलसी तत्त्वज्ञान की दृष्टि से अद्वैतवाद का ही समर्थन करते हैं, किन्तु भक्ति के क्षेत्र में ब्रह्म के सगुणत्व, जीव के शेषत्व, भक्ति के श्रेष्ठत्व तथा सरलत्व का विवेचन करके भक्तिमार्ग को प्रशस्त करते हैं। भक्ति को सब प्रकार से उपयुक्त प्रमाणित करने के लिए वे युग, व्यक्ति, साधन, समय, सरलता सभी का विचार करते हैं। इस प्रकार तुलसी अद्वैतमत को तत्त्वज्ञान के लिए स्वीकार कर के भी भक्त होने का दावा करते हैं—

तुलसिदास परिहरिय तीन भ्रम सो आपन पहचाने।

विनय पत्रिका तो तुलसी का सिद्धान्त-ग्रन्थ ही कहलाता है, इसमें स्मार्त-मतानुसार अनेक देवी-देवताओं की वन्दना है। तुलसी की विराट दृष्टि में सर्वसाधारण जनता की सुविधाओं का विचार कर अनेक देवी-देवताओं की उपासना भी अपना मूल्य रखती थी। शङ्कराचार्य ने भी स्मार्तमत को स्वीकार किया था। तुलसी तो इसके बहुत बड़े प्रचारक थे। देवी-देवताओं की उपासना से राम की भक्ति पर कोई प्रभाव न पड़ता था क्योंकि वे सबसे राम की ही भक्ति माँगते थे।

तुलसी ने विनय पत्रिका में राम को अनघ, अद्वैत, अव्यक्त, अनिकेत, निर्भरानन्द, निःकंप, निःसीम, निरुपाधि बताया है। जगत को भ्रममय माना है—

सोवत सपने हूँ सहै, संसृति संताप रे।
बूड़लो मृग-वारि खायो, जेवरी को साँप रे।

× × × ×

हे हरि, कस न हरहु भ्रम भारी।
जद्यपि मृषा सत्यभासै, जब लगि नहिं कृपा तुम्हारी॥

× × × ×

अन विचार रमनीय सदा, संसार भयङ्कर भारी।
तुलसिदास सब विधि प्रपञ्च जग, जदपि झूठ श्रुति गावै।
रघुपति भगति, संत संगति बिनु, को भव त्रास नसावै॥

× × × ×

द्वैत ज्ञान का कारण अज्ञान है, दुःखों का कारण द्वैत भाव है।

जो निज मन परिहरै विकारा।
तौ कत द्वैत जनित संसृति-दुख, संसय सोक अपारा।

द्वैत भाव का नाश हरि कृपा से होता है, ज्ञान की प्राप्ति कठिन है, और सो भी वह हरि कृपा से ही प्राप्त होती है।

रघुपति भगति वारि छालित चित, बिनु प्रयास ही सूझै।
तुलसिदास कह चिद्-विलास जग बूझत बूझत बूझै॥

इस प्रकार तुलसी तात्विक दृष्टि से शंकर की पद्धति का अनुकरण करके भी भक्ति की दृष्टि से 'रामानुज' व 'रामानन्द' की परम्परा

को भी नहीं छोड़ते। वे अध्यात्म रामायण की पद्धति पर शंकर के विवेकवाद तथा रामानुज के भक्तिवाद का सामञ्जस्य कर, भक्ति को ही कलियुग के लिये सर्वस्व घोषित करते हैं और तत्वज्ञान को अधिकारी भेद पर छोड़ देते हैं (देखिये लोमस ऋषि का आख्यान—मानस). किन्तु उनकी सम्मति यही है कि बिना भक्ति के ज्ञान भार है, काकभुशुण्डि इसके आदर्श हैं। अतः तुलसी का यह भक्ति पथ शंकर, रामानुज, रामानन्द, स्मार्तमत सभी को समेट लेता है। यही तुलसी का ऐतिहासिक कार्य है। मुगलों के राज्य शासन में हिन्दू संस्कृति के रक्षक के रूप में तुलसी शंकर व रामानुज के साम्प्रदायिक मतभेदों में अविरोध स्थापित कर ज्ञान वैराग्य युक्त भक्ति मत के प्रवर्तक के रूप में हमारे सम्मुख उपस्थित होते हैं। एकांगी दृष्टि से देखने पर तुलसी की उक्तियों की मनमानी व्याख्या से विद्वान उन्हें कभी केवल अद्वैतवादी और कभी केवल विशिष्टाद्वैतवादी प्रमाणित करते हैं। उनमें न केवल इन दोनों मतों का अपितु अन्य धाराओं का भी सामञ्जस्य मिलता है। यथा सीता के रूप में 'शक्ति' का और 'शिवोपासना' के रूप में शैव मत का वे अपने मत में समाहार कर लेते हैं। तुलसी को पूर्णतया अद्वैतवादी प्रमाणित करने वाले कहते हैं कि शंकराचार्य भी शिव के भक्त थे। पर वे यह भूल जाते हैं कि शंकराचार्य के नाम पर भक्ति के अनेक स्तोत्र चल पड़े हैं। शंकर शुद्ध विवेकवादी थे। वे व्यावहारिक दृष्टि से ही भक्ति को मानते थे, जब कि तुलसी भक्ति को 'साध्य' मानते हैं और ज्ञान विज्ञान को भक्ति के सोपान रूप में स्वीकार करते हैं। तुलसी को पूर्णतया विशिष्टाद्वैत प्रमाणित करने वाले उनके द्वारा जगत की व्याख्या के सम्बन्ध में कहते हैं कि भक्त के लिये तो जगत ब्रह्म का विग्रह ही है। तुलसी तो केवल विरक्ति उत्पन्न करने के लिये जगत की ऐसी व्याख्या करते हैं। जगत तो सत्य है पर आसक्ति के कारण जीव उसकी नश्वरता की शाश्वतता मान लेता है, यही भ्रम है। अतः तुलसी जगत की नश्वरता व अस्थिरता ही दिखाना चाहते हैं, मूलतः वे जगत को ब्रह्म का ही अंश इस प्रकार हैं, परन्तु जैसा हमने 'अध्यात्म रामायण', 'विनय पत्रिका' व 'दोहावली' के उदाहरणों द्वारा देखा कि तुलसी जगत व जीव की व्याख्या शंकर की पद्धति पर ही करते हैं। किन्तु ऐसे भी विचारक हैं जो

कहते हैं कि तुलसी के सभी ग्रन्थों पर विचार करने से वे 'द्वैतवादी' प्रमाणित होते हैं। कारपेण्टर साहब की उक्तियों का खण्डन तो बलदेव प्रसाद मिश्र ने कर दिया है परन्तु अभी हाल में "तुलसीदास और उनका युग" नाम से प्रकाशित प्रबन्ध में राजपति-दीक्षित ने बड़ी दृढ़ता से तुलसी को द्वैतवादी प्रमाणित किया है। उनके अन्य उद्धरण तो पिष्टपेष्टित हैं केवल दो उद्धरण यहाँ दिये जा रहे हैं। दीक्षितजी के अनुसार विनय-पत्रिका में तुलसी जगत को सत्य मानते हैं—

जो जग मृषा ताप त्रय अनुभव होत कहहु केहि लेखें ?

अर्थात् यदि जगत मिथ्या है तो तीनों तापों का अनुभव क्यों होता है ? इससे प्रतीत होता है कि तुलसी जगत को सत्य मानते थे। परन्तु पूरा प्रकरण पढ़ने से उक्त पंक्ति का अर्थ बदल जाता है और 'अद्वैत' की ही पुष्टि होती है।

हे हरि, यह भ्रम की अधिकाई
देखत, सुनत, कहत, समुझत, संसय संदेह न जाई।
जो जग मृषा ताप-त्रय-अनुभव, होइ कवहुँ केहि लेखे।
कहि न जात मृग वारि सत्य, भ्रम ते दुख होय बिसेखे।
सुभग सेज सोवत सपने, वारिधि बूड़त भय लागै।
कोटिहुँ नाव न पार पाव सो, जब लगि आपु न जागै।
अनविचार रमनीय सदा, संसार भयङ्कर भारी।
सम-संतोष, दया, विवेक तैं, व्यवहारी सुखकारी।
तुलसिदास सब विधि प्रपञ्च जग, जदपि झूठ श्रुति गावै।
रघुपति-भक्ति संत-संगति बिनु, को भव त्रास नसावै॥

स्पष्ट है कि जगत की भ्रमोत्पादक सत्ता पर कवि आश्चर्य प्रकट कर रहा है, जैसै वह पहले "केशव कहि न जाय का कहिये" पद में कर चुका है। कवि कहता है "सब विधि प्रपञ्च जग"। फिर जगत की सत्ता कैसे सिद्ध हुई ! अब यदि कहा जाय कि तापत्रय का अनुभव क्यों होता है तो इसका उत्तर भी कवि देता है कि जैसे मृगवारि सत्य नहीं होता तथापि भ्रम से दुःख होता है उसी प्रकार अज्ञान जन्य भ्रम के कारण ताप त्रय का अनुभव होता है:—

कहि न जाय मृगवारि सत्य, भ्रम ते दुःख होइ विसेखे।

दीक्षितजी का दूसरा उद्धरण कवितावली से है। उनका दावा है कि तुलसी के सभी ग्रन्थों को पढ़कर द्वैत मत ही पुष्ट होता है परन्तु यह भी अयुक्त है:—

झूठो है, झूठो है, झूठो सदा, जग, संत कहंत जे अंत लहा है।
ताको सहै सठ संकट कोटिक, काढ़त दन्त करंत हहा है।
जानपनी को गुमान बड़ो, तुलसी के विचार गँवार महा है।

उक्त तीन पंक्तियों से दीक्षितजी ने सिद्ध कर दिखाया है कि तुलसी ने जगत को झूठा मानने वालों को 'गँवार' कहा है परन्तु बड़ी चतुरता से दीक्षितजी अंतिम पंक्ति को छोड़ गये हैं।

जानकी जीवन जान न जान्यो, तो जान कहावत जान्यो कहा है?

अर्थात् यदि जानकी जीवन को नहीं जाना, तो वह ज्ञान व्यर्थ है। हमने पहले कहा है कि विना भक्ति के तुलसी ज्ञान को व्यर्थ बतलाते हैं। ज्ञान व भक्ति का संयोग ही कवि चाहता है। अतः भक्ति के विना "जगत झूठा है, जगत झूठा है" की रट लगाना गँवारपन है। संसार की असत्यता दिखाने का उद्देश्य तो जानकी जीवन की भक्ति होना चाहिये न?*

एक और उद्धरण है—

यन्मायावशवर्ति विश्वमखिलं, ब्रह्मादिदेवा सुरा।
यत्सत्वादमृषैव भाति सकलं, रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः॥
यत्पादप्लव एक एव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावतां।
वन्देऽहं तमशेषकारणपरं, रामाख्यमीशं हरिम्।

प्रायः द्वैतवादी कहते हैं कि इसमें रज्जु सर्प के उदाहरण से प्रतीत होता है कि तुलसी अद्वैतवादी ही थे, परन्तु चूँकि अन्त में उस ब्रह्म को "रामाख्यमीशं" कह दिया अर्थात् राम व ब्रह्म को एक मान

---

* रामचन्द्र के भजन बिनु, जो चह पद निर्वान।
ज्ञानवन्त अपि सो नर, पशु बिनु पूँछ बिषान॥
× × × ×
जो असि भगति जानि परिहरहीं, केवल ज्ञान हेतु स्रम करहीं।
ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी, खोजत आकु फिरहिं पय लागी॥

लिया तो निर्गुणता कहाँ रही ? अतः यहाँ 'विवर्तवाद' नहीं है।

हम यह नहीं कहते कि तुलसी पूर्णतया शङ्कर का अनुगमन करते हैं। उन्होंने सिद्धान्तों को अपने ढङ्ग से मिलाया है, उनका अपने ढङ्ग से उपयोग किया है। वे शङ्कर के समान एक ही ब्रह्म को मानते हैं। जगत को मिथ्या बतलाते हैं और जीव व ब्रह्म की एकता घोषित करते हैं। इस प्रकार उनका तत्वज्ञान मूलतः शाङ्कर पद्धति पर है, पर उसमें कवि का निजत्व विद्यमान है जैसे ब्रह्म व राम को वे एक मानते हैं। सगुण व निर्गुण में अन्तर नहीं मानते, जैसे कि "यन्माया वशवर्ति विश्वमखिलं" में जगत को मिथ्या कह कर भी वे निर्गुण ब्रह्म व सगुण राम को एक मानते हैं। "सगुण रामाख्यमीशं हरिम्" तथा निर्गुण ब्रह्म में उनके लिए कोई अन्तर नहीं है। शङ्कर ब्रह्म-पक्ष में 'माया' को तथा जीव-पक्ष में 'अज्ञान' का वर्णन करते हैं। मायोपाधि ब्रह्म ही सृष्टि का कारणब्रह्म है, परन्तु तुलसी 'अध्यात्म रामायण' की पद्धति पर माया के दो रूप विद्या व अविद्या मान लेते हैं। विद्या वस्तुतः शङ्कर की 'माया' है, जो ब्रह्म की इच्छा से आवरण डाल कर ब्रह्माण्ड की सृष्टि करती है। 'अविद्या' शङ्कर का 'अज्ञान' है, जो जीव को भ्रम के कारण ताप त्रय का अनुभव कराती है। अतः तत्त्ववाद शङ्कर का ही है, केवल उसका रूप कुछ बदल गया है। कवि सीता को 'विद्या माया' बतलाता है और 'शक्ति' के रूप में उसका वर्णन करता है।

तुलसी ब्रह्म के स्वगतभेद रामानुज की तरह नहीं मानते। वे जगत् को अज्ञान का परिणाम बार-बार घोषित करते हुये नहीं थकते जो विनय-पत्रिका के उद्धरणों से प्रमाणित किया जा चुका है। अतः वे विवर्तवाद का एक विशेष रूप में प्रयोग करते हैं। परन्तु कहा जाता है कि तुलसी जगत को सीयराममय कह कर नतमस्तक होते हैं। यदि जगत उनके लिए मिथ्या है तो उसकी वन्दना कैसी ? इसका उत्तर यह है कि तुलसी माया को प्रणाम नहीं करते, माया युक्त ब्रह्म को प्रणाम करते हैं। ब्रह्म के श्रुतियों में दो रूप हैं। (१) अव्यक्त, (२) अन्तर्यामी। तुलसी ब्रह्म को अन्तर्यामी समझ कर ही सारे जगत का प्रणाम करते हैं और फिर यह प्रणाम भक्ति के व्यावहारिक दृष्टिकोण से ही है। तत्वतः जगत् की सत्ता मायामय ही है और सत्ता (राम) केवल एक है। दो (सीता व राम) या तीन (राम, लक्ष्मण, सीता)

नहीं। ज्ञान की दृष्टि से शङ्कर ने सारा कार्य अज्ञान की आवरण व विक्षेप शक्तियों से कराया और तुलसी ने राजा राम की ही एक शक्ति विद्या माया, सीता) द्वारा लीला के लिये मिथ्या जगत का सृजन कराया और ब्रह्म स्वयं अपने अंशों से क्रीड़ा करने लगा। अतः "जीव अनेक एक श्रीकन्ता" कहने से न जीव का बहुत्व सिद्ध होता है न ब्रह्म से उसका भेद। शत-शत घटों में पूरित आकाश तथा महाकाश को देख कर यदि कोई कहे कि महाकाश एक है और घटाकाश अनेक हैं तो यह उसी प्रकार भ्रमात्मक होगा जैसे यह कहना कि ब्रह्म एक हैं और जीव अनेक्। एक ही सूर्य अनेकों दर्पणों में पड़ कर, अनेक प्रतिबिम्ब उत्पन्न कर देता है। एक अग्नि से अनेक चिनगारियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। और फिर 'परबस जीव, स्वबश भगवन्ता, जीव अनेक, एक श्रीकन्ता" में मायोपाधि से युक्त जीव तथा माया से रहित शुद्ध चैतन्य से तुलना की गई है तत्वतः ईश्वर व जीव एक ही हैं।

तुलसी शंकर के निर्गुणमत को ज्ञान की कठिनता, नीरसता तथा असाधारणता के कारण स्वीकार न कर सगुण उपासना पर जोर देते हैं, इसीलिये काकभुशुण्डि लोमस ऋषि के निर्गुण ब्रह्म के उपदेश को नहीं सुनते:—

जेहि पूछौं सोइ मुनि अस कहई। ईश्वर सर्वभूत मय अहई ॥
निर्गुणमत नहिं मोहि सुहाई। सगुण ब्रह्म रति उर अधिकाई ॥

लोमस का उपदेश:—

अकल अनीह अनाम अरूपा। अनुभव गम्य, गिरा गोतीता ॥
सो तैं ताहि, तोहि नहिं भेदा। वारि-बीच-इव गावहिं वेदा ॥
विविध भाँति मोहि मुनि समझावा। निर्गुनमत मम हृदय न आवा ॥
मुनि पुनि कहि हरि कथा अनूपा। खण्ड सगुन मत अगुन निरूपा ॥

यह बात भक्त के लिये असह्य थी, 'सगुन मत का खण्डन न होता तो वह निर्गुणमत को कम से कम सुन अवश्य लेता। अतः तुलसी का मत निर्गुण सगुण मत में अविरोध स्थापित करता है। यही शंकर से भेद है। पर इसका अर्थ यह नहीं कि वे द्वैतवादी थे।

क्रोध कि द्वैत बुद्धि बिनु, द्वैत कि बिन अज्ञान।
माया बस परछिन्न जड़, जीव कि ईस समान ॥

माया के कारण ही द्वैत है, जीव व ईस में वही अभेद का भाव स्थापित नहीं होने देती। तुलसी के इस रहस्यमय मत के उपदेशक शिव थे जिनसे काक भुशुण्डि को भक्ति का प्रसाद मिला। यद्यपि भक्ति व ज्ञान में अन्तर नहीं है पर कुछ अन्तर अवश्य है। तुलसी व्यावहारिक दृष्टि से पुनः शंकर मत से यहाँ अलग होते हैं—

भक्ति माया से भी महान् है, वह भगवान की पटरानी है, माया नर्तकी है। भक्ति पर भगवान का स्वभावतः प्रेम अधिक होने से माया उससे डरती है। दूसरे नारी, नारी को नहीं मोह सकती पर पुरुष (ज्ञान) पर उसका जादू चल सकता है अतः भक्ति श्रेष्ठ है। तत्त्वज्ञानी भी इसीलिये भक्ति को शुद्धि का साधन मात्र नहीं मानते।

माया भगति सुनहु तुम्हँ दोऊ, नारि वर्ग जानैं सब कोऊ॥
पुनि रघुवीरहिं भगति पियारी, माया खलु नर्तकी बेचारी।
भगतहिं सानुकूल रघुराया, ता तें तिहि डरपत अति माया।
अस विचारि जे मुनि विज्ञानी, जाचहिं भगति सकल सुख खानी।

और भी एक भेद यह है कि ज्ञान मार्ग कठिन व भक्ति मार्ग सरल है। विज्ञान का दीपक भी बड़ी कठिनाई से प्रकाशित हो पाता है।* उस प्रकाश में अज्ञान की ग्रंथि छूट सकती है परन्तु माया अनेक विघ्न डालती है। ऋद्धियाँ, सिद्धियाँ, देवता आदि विघ्न उपस्थित करते हैं। अतः यह ज्ञानमार्ग—

कहत कठिन समुझत कठिन, साधन कठिन विवेक।
होइ घुणाक्षर न्याय जों, पुनि प्रत्यूह अनेक॥

ज्ञान को पंथ कृपाण कै धारा, परत खगेस लगत नहिं बारा॥

परन्तु यदि कोई ज्ञान मार्ग के विघ्नों को पार करले तो कैवल्य पद निश्चित रूप से मिलता है, यह तुलसी मानते हैं। परन्तु इतना कष्ट उठाने की आवश्यकता ही क्या है, 'कैवल्य पद' तो भक्त को स्वयमेव मिल जाता है—

अति दुर्लभ कैवल्य परम पद। संत पुरान निगम आगम बद॥

---

* देखिये उत्तरकाण्ड में दीपक का रूपक।

राम-भजत सोइ मुकुति गुसाँई। अनइच्छित आवइ बरियाई॥

मोक्ष का सुख बिना हरि भक्ति के रह ही नहीं सकता, अतः—

अस विचार हरि भगति सयाने। मुकुति निरादर भगति लुभाने॥

स्पष्ट है कि साधन-पद्धति में शङ्कर से तुलसी का मत भिन्न है। भक्ति-मार्ग से अनायास ही अज्ञान का नाश हो जाता है। यही इस 'तुलसी मत' का रहस्य है। ज्ञान दीपक है, भक्ति चिन्तामणि है, जिसके बुझने का भय नहीं है। अतः 'सेवक सेव्य भाव' से भक्ति को ही स्वीकार करना चाहिए। यह भक्ति सन्त-सत्सङ्ग से ही प्राप्त हो सकती है और सत्सङ्ग हरि-कृपा से ही मिलता है।

इस प्रकार तुलसी मत में पारमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म का निर्गुण रूप, जीव व ब्रह्म का अभेद, जगत का मिथ्यात्व प्रतिपादित होता है परन्तु भक्ति के व्यावहारिक दृष्टिकोण से, ब्रह्म का सगुण निर्गुण रूप, माया के द्विविध भेद, भक्ति की श्रेष्ठता, शास्त्रानुसार कथित नवधा भक्ति, स्मृति मतानुसार देवोपासना तथा योग, ज्ञान, भक्ति के अविरोध की स्वीकृति है। अतः तुलसी के दृष्टिकोण को समझने के लिए तटस्थ होकर विचार करने की आवश्यकता है। कोई एक सिद्धान्त यथातथ्य रूप से वहाँ विवेचित नहीं है। वस्तुतः तुलसी की महानता है अविरोधी दृष्टि से प्राचीन हिन्दू शास्त्रों व दार्शनिक धाराओं को देख कर एक मिले जुले मत का निर्माण करने में। शङ्कर ने उपनिषद् व वेदान्त सूत्रों में अविरोध स्थापित कर दिखाया था, परन्तु पुराण, महाभारत एक ओर पड़ गये थे। रामानुज ने उपनिषद्, वेदान्त सूत्र, पुराण, महाभारत, गीता इन सब में अविरोध स्थापित कर दिखाया।* अतः अब जो दो सम्प्रदाय बन गये थे (शङ्कर मत तथा रामानुज मत) उनमें अविरोध की स्थापना का भार वल्लभ, मध्व, निम्बार्क पर न था, क्योंकि ये तो शङ्कर के विरोधी थे ही, इसका भार था

---

* His chief aim (was) the reconciliation of the doctrines of the Upnisads, the Bhagavatgita, the Mahabharat, and the Puranas.

(India's Past, Macdoneli, Page 149)

तुलसी पर। तुलसी ने वेद, उपनिषद्, पुराण, गीता, स्मृति तथा शङ्कर, व रामानुज के सिद्धान्तों को इसी अविरोधिनी दृष्टि से देखा और इस प्रकार ज्ञान, भक्ति, द्वैतवाद, अद्वैतवाद आदि सभी सिद्धान्तों का रामचरितमानस व विनय-पत्रिका में प्रतिपादन किया। अतः तुलसी के इस दृष्टिकोण को समझ कर हम उन्हें समन्वयवादी ही ठहरा सकते हैं जो तत्वतः शाङ्कर पद्धति को अपना कर भी रामानुज का अञ्चल दृढ़ता से पकड़े रहते हैं।

बौद्ध-तांत्रिक मत

सिद्ध-सम्प्रदाय—हिन्दी साहित्य का "आदिकाल" सिद्धों की रहस्यमय वाणी से प्रारम्भ होता है। सिद्ध-काव्य ८वीं शताब्दी से १३ वीं शताब्दी तक रचा जाता रहा। सिद्धों में प्रथम कवि सरहपा का समय ७६० ई० है। सिद्ध चौरासी माने गये हैं। इनकी भाषा प्रायः अपभ्रंश है जो प्राचीन हिन्दी है। महा महो० हरिप्रसाद शास्त्री इसे बँगला मानते हैं।* राहुलजी इसे 'मगही' भाषा कहते हैं। वस्तुतः यह हिन्दी भाषा का एक प्राचीन रूप है। संस्कृत, पाली तथा प्राकृत भाषाओं के पश्चात् देशी भाषा का रूप सिद्धों की भापा में सुरक्षित है क्योंकि इनमें तद्भव शब्दों का प्रयोग बहुत अधिक मिलता है।

हर्षवर्धन के पश्चात् भारत में तीन राज्य प्रबल थे कन्नौज के प्रतिहार, दक्षिण के राष्ट्रकूट तथा बङ्गाल के पाल। नवीं तथा दशवीं शताब्दियों में ये ही भारत की प्रमुख शक्तियाँ थीं। इनमें प्रतिहारों तथा गहरवारों के दरबारों में देशी भाषाओं को उतना महत्व नहीं मिला, जितना बङ्गाल के पाल राजाओं के दरबारों में। पालवंश बौद्ध मत का अनुयायी था, अतः पाल राज्य ने ही हमें चौरासी सिद्ध दिये। सिद्ध सम्प्रदाय में बौद्ध धर्म का ही तांत्रिक रूप जीवित था। राष्ट्रकूटों के यहाँ जैन कवियों का अधिक सम्मान रहा। अतः वहाँ भी देशी भाषा का साहित्य वृद्धि पाता रहा।

अभी मुसलमानों के अधिकार में केवल पञ्जाब का कुछ भाग तथा सिन्ध प्रदेश ही आ पाया था। अतः पूर्व में बौद्ध साधना

---

* बहुमत से 'चर्यापदों' की भाषा बँगला तथा 'दोहों' की भाषा शौरसेनी अपभ्रंश मानी जाती है। दोनों के रचयिता सिद्ध ही थे।

निष्कण्टक रूप से चल रही थी और मुहम्मद बिन अख्त्यार के नालन्दा तथा विक्रम-शिला पर आक्रमण के समय तक उसका प्रभाव पूर्व में अखण्ड रहा।

बौद्ध धर्म के ब्रह्मचर्य तथा कठिन भिक्षुमय जीवन की प्रतिक्रिया सिद्ध काव्य में दिखाई पड़ती है। सिद्ध सिद्धान्ततः 'सहजयानी' थे। सहजयान, नागार्जुन के 'शून्यवाद' का एक विकसित रूप था। नागार्जुन स्वयं तान्त्रिक थे, श्रीपर्वत तांत्रिक उपासना का केन्द्र बन चुका था। इसी तांत्रिक मत का प्रचार व प्रसार होता गया। इसमें देवी, देवताओं, जंत्र, मंत्र, डाकिनी, शाकिनी, अभिचार, चक्रपूजा, पंच मकार का विकास हुआ। शुङ्ग वंश से ही जो ब्राह्मणधर्म पुनः प्रभाव जमा चुका था, तथा गुप्तकाल में जो बौद्धों के प्रभाव को हटाने में समर्थ हो चुका था, अब समाज का शासन कर रहा था। महायान सम्प्रदाय ने अपने को हिन्दुओं के अवतारवाद में ढालने का प्रयत्न किया था। गौतम बुद्ध की मूर्ति पूजा, -अवतार कथायें (बोधिसत्व) तथा अलौकिक चमत्कार प्रचार में आ रहे थे। कठोर ब्रह्मचर्य के स्थान पर बौद्ध सम्प्रदायों में सहज मार्ग का अवलम्बन होने लगा। 'मुक्त यौन सम्बन्ध के पोपक चक्र-संवर आदि देवता, उनके यंत्र और पूजा प्रकार तैयार किये गये' × हर्षवर्धन के पश्चात् धर्म में तांत्रिक उपासना बढ़ती गई। गुह्य साधनायें चल पड़ीं जिनकी अभिव्यक्ति रहस्यवादी वाणी में हुई। बौद्ध तांत्रिकों के साथ-साथ शैव तथा शाक्त तांत्रिकों ने भी गुह्य साधनाओं में भाग लिया। कौल, कापालिक, कालामुख तथा शाक्त मतों का प्रचार हुआ, जिनमें भक्ष्याभक्ष्य का विचार न रहा। सुरा-सुन्दरी सेवन, नरबलि, श्मशान-साधना आदि भयंकर और असामाजिक क्रियायें चल पड़ीं।

सिद्धों ने पवित्रतावादियों, पुजारियों और धर्माचार्यों की कड़ी आलोचना की है। ये लोग बाहरी पूजा विधान, स्नान, पूजा, व्रत, मन्त्र, वैदिक यज्ञ, होम आदि में विश्वास नहीं करते थे और वर्ण व्यवस्था तथा सामाजिक-दम्भ के घोर विरोधी थे। वेदों के अनुकूल चलने वाले ब्राह्मण वादियों को शायद चिढ़ाने के लिये ऐसी भाषा का

× हिन्दी काव्यधारा—राहुल सांकृत्यायन

प्रयोग करते थे जिसे सुन कर धर्म के ठेकेदार क्रोधित हों। सहज जीवन के, जिसमें काम-वृत्ति की संतुष्टि का आदर हो, ये प्रचारक थे। महायान का 'शून्यवाद' यहाँ आकर एक अनिर्वचनीय 'परमतत्त्व' के रूप में भावात्मक रूप पागया था। निर्वाण का भी अभावात्मक रूप समाप्त हो गया था। उसके स्थान पर 'महासुख' की कल्पना प्रवेश पा चुकी थी। साथ ही यौगिक क्रियाओं—"काया-साधन" को महत्त्व मिल चुका था। सिद्ध काव्य में इन्हीं तत्वों का वर्णन मिलता है।

सिद्ध-मत क्रान्तिकारी सुधारक बौद्धधर्म का ध्वंसावशेष था।

सिद्ध-दर्शन

वङ्गला के 'चर्या पदों' तथा पश्चिमी अपभ्रंश भाषा के 'दोहों' के रचयिता सिद्ध कवि सहजयान के अनुयायी थे जो, तांत्रिक बौद्धमत की एक शाखा थी। पाल राज्य के द्वारा सहायता प्राप्त नालन्दा विश्वविद्यालय सिद्ध-दर्शन का अखाड़ा था। सरहपा यहाँ के एक आचार्य रह चुके थे।

हीनयान मत की संकीर्णता तथा प्राचीनता-वादिता की प्रतिक्रिया में महायान सम्प्रदाय उठ खड़ा हुआ था। महायान-सम्प्रदाय समय की माँग पर सर्वदा अपने को बदलता रहा। इसी मत में 'बोधि सत्व' की कल्पना की गई कि बुद्ध अनेक जन्म जन्मान्तरों में जगत के दुःखी जीवों का उद्धार करते रहे हैं और तब अन्त में उन्हें 'निर्वाण' प्राप्त हुआ है। अतः केवल अपनी 'मोक्ष' का प्रयत्न करना स्वार्थ पूर्ति है, जब तक सारे विश्व के उद्धार करने का प्रयत्न न किया जाय। प्रत्येक व्यक्ति 'सम्यक सम्बुद्ध' हो सकता है, विश्व-प्रेम तथा अखिल जीवों पर करुणा की वर्षा करने से ही 'बुद्धत्व' प्राप्त कर सकता है। 'निर्वाण' से अधिक 'विश्व-प्रेम' के प्रचार को महत्व दिया गया।

महायानियों ने अपने मत को जन-प्रिय बनाने का हर सम्भव प्रयत्न किया, जनता धार्मिक क्रियाओं व विश्वास पर चलती है, महायानियों ने इसका भी प्रबन्ध किया। तांत्रिक बौद्ध उत्पन्न हुये। 'तत्वरत्नावली' में महायान मत को दो भागों में बाँटा गया। (१) पारमिता न्याय। (२) मंत्र न्याय। मंत्र न्याय या मंत्र यान बौद्ध तांत्रिकों की प्रथम सोपान थी। इसी से तांत्रिक बौद्ध मत की अन्य शाखायें उद्भूत हुईं—यथा वज्रयान, कालचक्र यान, सहजयान, आदि। 'पारमिता

न्याय' संस्कृत में तथा मंत्रयान देशी भाषाओं में लिखा गया।

शायद 'असंग' ने महायान में तांत्रिक-मत का प्रवेश कराया। कुछ नागार्जुन को ही इसका श्रेय देते हैं। असंग के 'महायान-सूत्रालङ्कार' में काम वासना तथा योग की पद्धति का अंकुर मिलता है। वहाँ 'प्रवृत्ति' शब्द का प्रयोग कई वार हुआ है और कहा भी गया है:—

"In the Paravritti of Sexual Union Supreme greatness is obtained, in the enjoyment of Buddha happiness and in looking without impure thoughts at a wife"[1]

'लेवी' उक्त मत को मानते हैं। विंटर नित्ज् 'प्रवृत्ति' की व्याख्या करते हैं कि 'प्रवृत्ति' का अर्थ केवल यह है कि जिस प्रकार 'रति-क्रीड़ा' में अनुपम आनन्द प्राप्त होता है उसी प्रकार परमतत्व के साक्षात्कार से आनन्द मिलता है। डा० 'हर्वर्ट' ने 'युगनद्ध' नामक पुस्तक में 'लौकिक रति' तथा वासनात्मक प्रतीकों की वैज्ञानिक व्याख्या की है। उनके अनुसार तंत्र-दर्शन में स्त्री व पुरुष की लौकिक रति को केवल प्रतीक रूप में ही वर्णित नहीं किया गया, बल्कि साधना में उसे व्यावहारिक रूप से सम्मिलित कर उसकी दार्शनिक आवश्यकता भी बतलाई गई है। तांत्रिक 'आराध्य' को "भुक्ति-मुक्ति प्रपायिन्" कहते हैं, भुक्ति व मुक्ति द्वन्द्व सम्बन्ध से ही रहते हैं। She (deity) gives first Bhukti, then Mukti in due time; or, if you take it in the Advaitic Sense, She gives them all at once in that Bhukti and Mukti are one and it is only the Sadhana that has to account for this Juxtaposition[2] भुक्ति व मुक्ति में द्वन्द्व सम्बन्ध मान लेने का अर्थ यह हुआ कि भुक्ति को मुक्ति प्राप्त करने में आवश्यक माना जाने लगा। भुक्ति के साथ पुरुष व स्त्री के लौकिक सम्बन्ध की आवश्यकता का प्रश्न उठा, सिद्धदर्शन ने उत्तर दिया कि पुरुष व स्त्री

---

1. देखिये Obscure Religious bults by S. D. Gupta, Page 18.
2. "Yuganaddha" By Herbert V. Guenther.

अलग अलग अपूर्ण हैं, पुरुषत्व स्त्रीत्व से मिलकर ही पूर्ण हो सकता है। इसी आंतरिक पूर्णता के उद्देश्य से वाह्य मिलन के लिये स्त्री व पुरुष दोनों आतुर रहते हैं। अतः इस मिलन से आंतरिक संतुलन व पूर्णता आती है। Every by sexually differentiated individual is in completely balanced and is forced to restore his internal with external equilibration and the counter balancing bidynamic organisation of integrity as a whole, A man will Seek the woman as will a woman the man, Such Selctive deficiencies or needs and cravings prove that every partial aspect is in want of its complement"[1] इस प्रकार स्पष्ट है कि वाह्य लौकिक रति दो विरोधी तत्वों को 'एकता' की ओर ले जाती है, संतुलन (equilibration) ही पूर्णता है, जो स्त्री व पुरुष दो विरोधी तत्वों के मिलने से ही प्राप्त हो सकता है, क्योंकि द्वन्द्व ही तो दुःख का कारण है। आंतरिक 'एकता' के लिये वाह्य एकता की आवश्यकता है। अतः भुक्ति व मुक्ति में विरोध क्यों ? 'आंतरिक एकता' का अर्थ है मनुष्य के निर्माण में जिन तत्वों का प्रयोग है उनमें पुरुषत्व तो है पर स्त्रीत्व की उसे आवश्यकता है तभी संतुलन आयेगा, इसी प्रकार स्त्री के के निर्माण में स्त्रीत्व तो रहता है पर उसे पुरुष तत्व की आवश्यकता है अतः दोनों के मेल से ही एकता उत्पन्न हो सकती है। स्पष्ट है कि लौकिक रति ध्येय नहीं है, ध्येय तो आंतरिक एकता है। परन्तु उसमें बाह्य रति सहायक है, बाधक नहीं। इसीलिये सिद्ध अंतिम आनन्द की उपमा लौकिक रति-जन्य आनन्द से देते हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि भुक्ति में डूबकर आध्यात्मिक संतुलन की चिन्ता न की जाये जैसा चार्वाक मत में है। न इसका अर्थ यह है कि आध्यात्मिक आनन्द के लिये भुक्ति को त्याग दिया जाय, यह मत तो 'मध्यम मार्ग' है इसमें न विषय भोग का पूर्णतया त्याग है न पूर्णतया ग्रहण, भोग को ही कैवल्य का साधन बना लिया गया है, ।

"The word Symbol denotes that nature and Spirit are one and that only thus we can get a

1. Yugnaddha by Herbert V. Guenther,

glimpse of the blissful Unity" "युगनद्ध" के लेखक का दावा है कि तंत्र-दर्शन को अब तक कोई भी नहीं समझ सका है, उसे अधिकतर बदनाम किया गया है। असंग के समय (४ शताब्दी) में ही तांत्रिक मत प्रचलित हो चुका था। कुछ विद्वान बुद्ध को भी तांत्रिक सिद्ध करते हैं। डा० बी० भट्टाचार्य कहते हैं—"Though Buddha was antagonistic to all sorts of sacrifices.............. sorcery or magic, he is credited nevertheless with having given instructions concerning Mudras, Mandalas and Tantras". इससे स्पष्ट है कि बुद्ध इस लोक की उन्नति तथा समृद्धि मन्त्र, मण्डल, मुद्रा आदि की साधना पर निर्भर मानते थे और इस लोक की चिन्ता करने वाले अपने शिष्यों के लिये तांत्रिक मत का उपदेश देते थे। श्री भट्टाचार्य बुद्ध के उपदेशों में "ऋद्धि" शब्द पर अपने तर्क को आधारित करते हैं। जो भी हो, तांत्रिक मत का प्रवेश कम से कम काफी पुराना है।

प्रायः हिन्दू तन्त्र-शास्त्र को बौद्ध तन्त्रों से प्राचीन मानते हैं पर वस्तुतः यह आर्येतर साधना थी जिसे आर्यों ने अपना लिया था और जो बौद्धों व हिन्दू तन्त्रों में अपने-अपने ढङ्ग से विकसित हुई। तन्त्र शायद आगमों से विकसित हुये हैं। अभिनवगुप्त का 'तन्त्रालोक' भी आगमों पर आधारित है।

मन्त्र-तत्त्व "धारणी" शब्द पर आधारित है जिसका अर्थ है ऐसे अक्षर जिनसे मनुष्य धर्म को धारण कर सकता है। वसुबन्धु ने भी मन्त्रों की वकालत की है। धारणी चार प्रकार की है—(१) धर्म-धारणी—इनसे स्मृति, प्रज्ञा तथा बल की प्राप्ति होती है। (२) अर्थ-धारणी—इनसे धर्म का 'अर्थ' ज्ञात होता है (३) मन्त्र धारणी—इनसे पूर्णता प्राप्त होती है (४) शान्ति धारणी—इनसे अनिर्वचनीय तत्त्व की प्राप्ति होती है। ये मन्त्र इस प्रकार के होते हैं—

"इति मिति किति भित्तासति पदानि स्वाहा"

अर्थ रहित इन मन्त्रों से ऐसी स्थिति प्राप्त हो सकती है जो अनिर्वचनीय है।

मन्त्रों के अतिरिक्त मुद्रा (आसन विशेष) का विधान है। इसी प्रकार "मण्डलों" का भी उपदेश है जो रहस्यमय साधनाओं पर

प्रकाश डालते हैं। इन के साथ-साथ देवी-देवता, राक्षस, पिशाच, भूत-प्रेत, जादू, टोटका आदि के तन्त्र भी चल पड़े। यौगिक क्रियायें भी आ गईं। जिनमें लय-योग, मन्त्र योग, राज योग आदि आते हैं। इनसे तान्त्रिक साधना विकसित हुई। आगे चलकर काम क्रीड़ा का विधान (Sexo-yogic) यौगिक क्रिया के रूप में स्वीकृत हो गया।

अभिचार और पञ्च मकार (मद्य, मुद्रा, माँस, मैथुन, मीन) का आदर बढ़ा। तांत्रिक पद्धति में कामवासना सम्बन्धी यौगिक क्रियाओं के प्रवेश से जिस सम्प्रदाय को जन्म मिला उसे 'वज्रयान' कहते हैं।

वज्रयान

वज्रयान को कई भागों में विभाजित किया जाता है—

लघुतन्त्र] वज्रयान [उच्च तन्त्र

क्रियातन्त्रयान चर्यातन्त्रयान योगतन्त्रयान अनुत्तरतन्त्रयान

वज्रयान को निम्न प्रकार से भी विभाजित किया गया है—

(१) वज्रयान, (२) कालाचक्रयान, (३) सहजयान, (४) नाथयान। इनमें 'कालचक्रयान' वज्रयान से प्रायः समानता रखता है और नाथयान पर पातञ्जलि योग तथा शैवमत का अधिक प्रभाव है। अतः दो ही सम्प्रदाय प्रमुख हैं—(१) वज्रयान, (२) सहजयान।

महायान तथा वज्रयान—महायान मत का 'शून्य' वज्रयान मत में 'वज्र' के रूप में विकसित हुआ था। 'अद्वय वज्रसंग्रह' में कहा गया है कि जो शून्य दृढ़, अविभाज्य, अछेद्य, अदाह्य और अविनाशी है वही 'वज्र' कहलाता है। वज्रयान का आराध्य देवता है 'वज्रसत्व' तन्त्रों में वज्रसत्व की महिमा गाई गई है।*

---

*Now Vajra is a word with many meanings. It means 'diamond' and 'denotes' everything which is hard and impermeable, which can not be cleft, nor burnt, nor destroyed. Vajra also means the 'Thunder bolt" the weapon of the God Indra, who appears in

तन्त्रों में यह 'वज्रसत्व' उपनिषत् के ब्रह्म से मिलता जुलता है यही मनुष्य में 'आत्मा' के रूप में विद्यमान है। यही इस प्रपञ्च के पीछे छिपी शक्ति है। इस अन्तिम सत्ता को 'बोधि चित्' भी कहते हैं। महायान मत में 'बोधि' का अर्थ दृढ़ इच्छा शक्ति है जिससे पूर्णज्ञान प्राप्त होता है, इसमें 'विश्व प्रेम' की भावना मिली रहती है। अर्थात् 'शून्यता' तथा 'करुणा' का ही नाम 'बोधिचित्' है। सहजयान में 'शून्यता' को 'प्रज्ञा' तथा 'करुणा' को 'उपाय' कहा गया है। प्रज्ञा को स्त्री तथा उपाय को पुरुष माना गया है। दोनों के मिलने से ही ज्ञान प्राप्त होगा, यह स्वीकृत हुआ। सांख्यदर्शन में प्रकृति सक्रिय है और पुरुष निष्क्रिय

Buddhist mythology as Vajrapani. It is also the name for the weapon of the ascetics and monks when fighting against hostile powers Then again 'Sunya', the indescribable absolute ...and also Vijnana or consciousness.... ...both of these are discribed as being indestructible as a Vajra........Vajra also means the male organ, just as Padma 'the lotus' serves as a term to describe the female organ. Further more the Vajrayana teaches a monistic (Adaita) philosophy. .. In addition to the 'three bodies' (Trikaya) of Buddha, the Saktas have a fourth body the 'body of happiness' (Sukhakaya) with which the eternal Buddha embraces his Sakti. tara or Bhagvati. This highest bliss (Mahasukha) is attained by the adepts of the Buddhist Sakta religion, in like maner as the non Buddhist Saktas, by the ritual connected with the enjoyment of meat intoxicating liquors and Sexual inter course. Thus the Vajrayana is a queer mixture of monistic philosophy, magic and erotics with a small admixture of Buddhist ideas.

Winternitz:—A History of Indian Literature
Page 388,

वेदान्त में भी माया सक्रिय है और आत्मा निष्क्रिय परन्तु बौद्ध-तन्त्र में उपाय (पुरुष) सक्रिय है और प्रज्ञा (स्त्री) निष्क्रिय।

इस प्रकार स्त्री व पुरुष का विचार जब एक बार आगया तो एक विशेष दृष्टिकोण बनता गया पहले शून्यता तथा करुणा (प्रज्ञा तथा उपाय) के मेल से 'बोधिचित्' की उत्पत्ति मानी जाती थी। अब बोधिचित् की जगह आनन्द (महासुख) की प्राप्ति स्त्री व पुरुष के यौगिक-मिलन द्वारा स्वीकृत हो गई। मैथुनादि क्रियाओं का यही दार्शनिक आधार था। पहले तो स्त्री-पुरुष मिलन प्रतीक रूप में रहा परन्तु पीछे आध्यात्मिक अर्थ भूल कर या उपेक्षित कर वज्रयानी सहजयानी सीधी लौकिक रति क्रीड़ा में ही "महासुख" पाने लगे।

परन्तु आज जब हम तन्त्र दर्शन को पढ़ते हैं तो हमें उस आध्यात्मिक अर्थ को खोजने का प्रयत्न करना चाहिये, तान्त्रिकों में ऐसे साधक भी बराबर रहे जो उस आध्यात्मिक सत्य का साक्षात्कार करने के लिये ही स्त्री का सहवास करते थे और गुह्य साधनाओं का अभ्यास करते थे। लौकिक रति के समय मन को तटस्थ कर आन्तरिक सन्तुलन को खोजने का प्रयत्न करते हुये तान्त्रिक प्रायः भटक जाते थे अतः वे लोक में अनादृत हुये। वस्तुतः बौद्ध दार्शनिक प्रवृत्ति ही यह थी कि विरोधों में सामञ्जस्य खोजा जाय, गौतम बुद्ध ने भी यह किया था, तान्त्रिकों ने भी यही किया परन्तु भिन्न पद्धति पर। तान्त्रिकों ने सामञ्जस्य को मनोवैज्ञानिक पद्धतियों पर खोजा, भोग के माध्यम से ही कैवल्य की प्राप्ति, यह उनका ध्येय था। अतः कामवासना को उन्होंने अपने आध्यात्मिक अनुभवों के लिये माध्यम बनाया। साथ ही वासनात्मक शब्दावली को वे अपने अनुभवों को व्यञ्जित करने के लिये अपनाते रहे क्योंकि उनके अनुसार उस अलौकिक आनन्द का वर्णन अन्य किसी भाषा द्वारा नहीं किया जा सकता :—

"Soon after he has embraced his femal partner (Mudra), inserted his male organ in to her Vulva (Vajraves apravartan), drinks from her lips Sprinkled with milk, makes her speak Cooingly, enjoys rich delight, and makes her thighs quiver, King

cupid, (Man's) adamantine nature (Vajrasattv) will become manifest" —(युगनद्ध पृष्ठ ४५)

इस प्रकार तान्त्रिक मत में स्त्री व पुरुष की क्रीड़ा प्रतीक भी है और साधना में सहायक भी। लौकिक रतिजन्य वाह्य आनन्द, आन्तरिक कैवल्यानन्द (प्रज्ञा + उपाय का मिलन) की ही वाह्य अभिव्यक्ति है अतः वह ग्रहणीय है, त्याज्य नहीं। उसके द्वारा ही हम अन्तिम आनन्द को पा सकते हैं। इसीलिये बौद्ध मन्दिरों में अनेक देवी-देवताओं को 'युगनद्ध' अवस्था में चित्रित किया गया है।

वज्रयान ने उक्त प्रज्ञा तथा उपाय को केवल स्त्री-पुरुष के रूप में ही नहीं माना अपितु उसे शक्ति व शिव का भी प्रतीक माना। आगे 'हठयोग' की साधनाओं को निर्देशित करने के लिये यही प्रज्ञा तथा उपाय सूर्य तथा चन्द्र भी कहलाये। यहाँ पिण्ड में ही ब्रह्माण्ड की कल्पना ग्राह्य हुई। सत्य को वाहर नहीं भीतर देखा गया। सुषुम्ना के वायीं ओर की नाड़ी इड़ा व दायें ओर की नाड़ी पिंगला को भी प्रज्ञा तथा उपाय से सम्बन्धित कर दिया गया, 'प्रज्ञा' को स्वर तः I उपाय को व्यञ्जन कहा गया। 'सुषुम्ना' को बौद्धतन्त्र में 'अवधूतिका' भी कहा है जिसमें "वोधिचित्" नीचे से ऊपर की ओर गतिमान होता है—अर्थात निर्माण चक्र से ऊपर की ओर जो कि नाभि में अवस्थित है, गतिमान होता है। निर्माण चक्र से धर्म चक्र को (हृदय में स्थित), धर्मचक्र से सम्भोग चक्र (कण्ठ) को तथा वहाँ से 'कमल' की ओर चलता है जो शिर में स्थित है जहाँ पहुँचने पर अखण्ड आनन्द की वर्षा होती है।

चक्र
|
१—निर्माण-चक्र (बुद्ध की निर्माण काया, स्थान नाभि.)
|
२—धर्म-चक्र (बुद्ध की धर्म-काया, स्थान हृदय)
|
३—सम्भोग-चक्र (बुद्ध की सम्भोग काया, स्थान कण्ठ)
|
४—कमल (स्थान शीश)
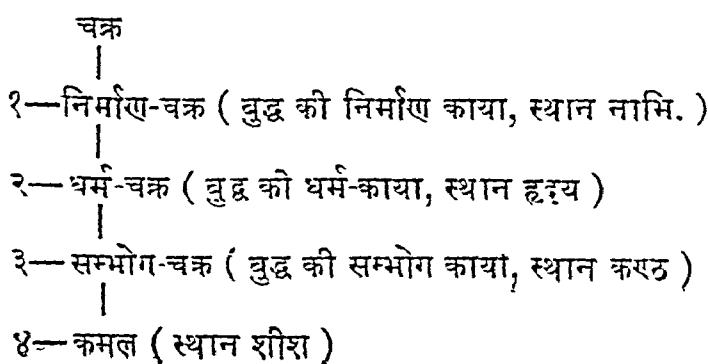
अद्वय तथा युगनद्ध:—'अद्वय' का अर्थ द्वैत का अभाव है और युगनद्ध से 'एकता के सिद्धान्त' का तात्पर्य है। 'पञ्चक्रम' के "युगनद्ध क्रम" नामक अध्याय में इसके विषय में कहा गया है। युगनद्ध एक "एकत्व" की दशा का नाम है, एकाकारिता की स्थिति है, जो भौतिक "संक्लेश" तथा आध्यात्मिक "व्यावदान" की अनुभूति-पूर्णता के बाद प्राप्त होती है जिसमें "संसार" तथा "निवृत्ति" की भी शुद्धि हो जाती है। यह एकता ग्राह्य या दृश्य तथा "ग्राहक" या दृष्टा की एकता है। यह प्रज्ञा तथा करुणा की एकता है।

इस "मैथुन" से छः प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। 'विंटर निट्ज' के अनुसार लौकिक रति को ही आध्यात्मिक "अद्वय" अवस्था मान लिया जाता था और साधक जिस समय "मैथुन" में लवलीन रहता था उस समय समझता था कि हम "महासुख" (वाह्य व जीव का तादात्म्य) प्राप्त कर रहे हैं। "मैथुन" के लिये स्त्री की आवश्यकता हुई, अतः उसका महत्व बढ़ा। भगवती ने बुद्ध से पूछा "क्या स्त्री के बिना चरमसत्य की प्राप्ति हो सकती है?" बुद्ध ने कहा "नहीं, यह सम्भव नहीं, बिना स्त्री के वह परमानन्द नहीं मिल सकता। हे भगवती, तुम्हीं गोपा हो, मैं गौतम, हम-तुम दोनों ही प्रज्ञा-पारमिता हैं। संसार की सारी स्त्रियाँ गोपा की अवतार हैं और सारे मनुष्य मेरे अवतार हैं।" (देखिये History of Indian Literature P. 398)

अन्तिम सत्य पाने के लिए या 'तथता' (thatness) की प्राप्ति के लिए शरीर, वाक् और मस्तिष्क से गुजरना पड़ता है, संसार के कष्टों का अनुभव करना पड़ता है। इससे 'संवृत्ति' (The provisional truth) का ज्ञान होता है, 'परमार्थ' का भी इसी से ज्ञान होता है। तत्पश्चात् संवृत्ति व परमार्थ की एकता हो जाती है। यही स्थिति 'युगनद्ध' कहलाती है। शून्य व करुणा की एकता भी इसी से संकेतित है। प्रेमपंचक में शून्य व करुणा को स्त्री-पुरुष मानकर उनके प्रेम-सम्बन्ध' को स्पष्ट किया गया है। यह सम्बन्ध 'सहज प्रेम' का सम्बन्ध कहलाता है। बिना इस सहज प्रेम सम्बन्ध के शून्य रूपी स्त्री अपने पति के अभाव में जीवित नहीं रह सकती, न पति 'करुणा' अपनी पत्नी के बिना बन्धन से छुटकारा पा सकता है। 'साधना-माला' में शून्यता तथा करुणा की एकता की स्थिति को 'नपुंसक' या युगनद्ध कहा गया है।

'अद्वय' का सिद्धान्त भी ऐसा ही है। 'कामकला विलास' नामक शैव, शाक्त तन्त्र में इसे 'मैथुन' कहा गया है। यहाँ भी एकता की स्थिति को बताने के लिए काम-शास्त्र की शब्दावली का प्रयोग है। तान्त्रिकों में 'मैथुन' लौकिक रूप में भी प्रचलित होगया था।

अद्वय तथा युगनद्ध के ही समान 'समरस' (Oneness of emotion) का सिद्धान्त है। समरस का अर्थ है जगत् की भिन्नता में एकता का अनुभव करना। इस स्थिति में अनुपम आनन्द मिलता है। यही 'सहज' की स्थिति है। 'हेवज्रतन्त्र' में कहा गया है कि इस 'सहजावस्था' में प्रज्ञा तथा उपाय की भिन्नता नहीं रहती। द्वैत का भाव नष्ट हो जाता है, समता का भाव जग जाता है। इन्द्रियातीत अवस्था यही है। यौगिक क्रिया द्वारा साधक इस 'महासुख' की स्थिति को पा सकता है। The whole world becomes of the form of unique emotion of bliss, the whole world as static and dynamic bemomes one.

'समरस' की स्थिति में अनुपम आनन्द प्राप्त होता है। जड़-चेतन का भेद नहीं रहता। समरसता की स्थिति का वर्णन हिन्दू शैव तन्त्रों में भी है जहाँ शक्ति व शिव, संसार व आत्मा की एकता का वर्णन है।

महासुख (Supreme bliss) का सिद्धान्त बौद्धमत की 'निर्वाण' की भावना से विकसित हुआ है। निर्वाण शब्द का शाब्दिक अर्थ है 'प्रवाह की समाप्ति' अर्थात् जन्ममरण का चक्र रुक जाना, या दीपक का बुझ जाना, या वासना (Root instincts) तथा संस्कारों का प्रवाह समाप्त हो जाना। 'निर्वाण' को कुछ लोग भावात्मक स्थिति बतलाते हैं। वस्तुतः अभावात्मकता का वर्णन 'निर्वाण' की असाधारण स्थिति को बतलाने के लिये ही किया गया है। लौकिक अनुभवों से यह परे है. परन्तु कुल मिलाकर पाली-साहित्य में यह एक भावात्मक स्थिति ही निश्चित होती है। इसे वहाँ परम, शान्त, विशुद्ध, अक्षर, ध्रुव, सत्य, अनन्त, अजात, अकाल्य, तथा केवल कहकर पुकारा गया है।

निर्वाण की स्थिति को केवल भावात्मक (Positive) ही नहीं

माना गया अपितु इसको अनन्त आनन्द की स्थिति भी बतलाया गया है। तांत्रिक बौद्ध मत में निर्वाण में उक्त दोनों तत्त्व स्वीकृत हैं। अर्थात् इस स्थिति को भावात्मक माना गया है और इसे अनुपम आनन्द की स्थिति कहा गया है। इसी को 'महासुख' का नाम दिया गया है। आगे चलकर निर्वाण व महासुख दोनों एक तत्त्व के ही नाम होगये। निर्वाण को तंत्रों में 'सतत सुखमय' कहा गया है। इसे सम्पूर्ण 'वस्तुओं' (संसार) का 'बीज' कहा गया है। बौद्धों की इस सर्वोच्च स्थिति को 'सुखवती' कहते हैं।

धीरे धीरे 'महासुख' का तंत्रों में सृष्टि-विकास से भी सम्बन्ध जुड़ गया। इसमें भाव व अभाव (निर्वाण) दोनों रह सकते हैं। इसका न आदि है न अन्त, न मध्य। न यह आत्म है न अनात्म, सारी वस्तुओं की 'अद्वय' अवस्था यही है। बोधिचित् तथा करुणा यहीं एक हो जाते हैं, 'धर्मकाया' यही है, यह स्वयं 'बुद्ध' है। सुख काला है, लाल है, श्वेत है, हरा और नीला है। 'सुख' सारा विश्व ह। यह प्रज्ञा है, यह उपाय है, यह जीवन है, अन्त है, एकता है, यह वज्रसत्व है। इस प्रकार 'महासुख' का जगत की सृष्टि से भी सम्बन्ध जुड़ता गया।

इसी 'महासुख' की स्थिति को पाने के लिये, यौन-क्रियायें, यौगिक क्रियाओं के रूप में की जाने लगीं। वज्रयानी व सहजयानी साधनाओं का केन्द्र तथा लक्ष्य यही 'महासुख' है।

इस 'महासुख' का बड़ा ही रहस्यमय वर्णन मिलता है। यह 'मुद्रा' (स्त्री) साधना से मिलता है। अनंगवज्र के अनुसार 'मुद्रा' का अर्थ समझना ही सबसे कठिन है। इस शब्द का प्रयोग 'नाथ' पंथ में भी हुआ है पर वहाँ इसका अर्थ ध्यान की स्थिति या आसन है परन्तु 'मुद्रा' का अर्थ यहाँ कुछ और है। मुद्रायें चार हैं—कर्म मुद्रा, धर्म मुद्रा, महामुद्रा तथा समय मुद्रा। कर्म मुद्रा से कर्म, शब्द व विचार संकेतित हैं। इसी 'कर्म मुद्रा' का वर्णन एक स्त्री के रूप में किया गया है यथा 'कर्म मुद्रा का अर्थ है वह स्त्री जिसके उरोज सुन्दर हों, सुन्दर केश हों'' इत्यादि। फिर इस कर्म मुद्रा (कर्म, शब्द, विचार, स्त्री) से सहवास का कामवासना के शब्दों में वर्णन किया गया है। आनन्द की चार अवस्थायें हैं—

(१) आनन्द (२) परमानन्द (३) विरमानन्द (४) सहजानन्द। इनमें प्रथम सामान्य आनन्द है जो कर्ममुद्रा के साथ सहवास से, (विचार व कर्म से) मिलता है। धर्म मुद्रा या ज्ञान मुद्रा "स्वचित परकल्पिता" कही गई है, अर्थात् मनुष्य के भीतर स्थित शक्ति स्वयं अभिव्यक्त होने लगती है। इस स्थिति को भी वासनात्मक शब्दों में वर्णित किया गया है। कर्म मुद्रा स्थूल आनन्द है, ज्ञान मुद्रा का आनन्द सूक्ष्म। इसमें साधक को माता, भगिनी, पुत्री तक के साथ सहवास करने का उपदेश दिया गया है। तीसरी स्थिति 'महामुद्रा' है। इसमें 'एकत्व' की स्थिति आ जाती है, द्वैत नहीं रहता। प्रतीकात्मक अर्थ होगा कि सारी स्त्रियाँ एक ही स्त्री की अभिव्यक्ति जान पड़ती हैं। All the women that are in the world, he may enjoy in order to experience that Mahamudra। अंतिम 'मुद्रा' 'समयमुद्रा' है जो विशुद्ध आनन्द की स्थिति है, यही 'महासुख' है। इसमें वाह्य चेतना अर्थात् स्थूल संभोग का आनन्द अनुभव ही नहीं होता। यही अलौकिक स्थिति है। इसमें महामुद्रा या फलमुद्रा की सीमा का अतिक्रमण हो जाता है। यही 'सहज' की स्थिति है।

चर्या-पदों तथा सिद्धों के दोहा-काव्य में महायान सम्प्रदाय के दार्शनिक विचार अव्यवस्थित रूप से विखरे पड़े हैं इसमें माध्यमिकों की अभावात्मकता, मैत्रेय, असंग, वसुवन्ध के विज्ञानवादी सम्प्रदाय की भावात्मकता, औपनिषद् अद्वैतवादिक के तत्त्व (वज्रसत्त्व, वोधिचित, महासुख तथा सहज के वर्णनों के रूप में) मिलते हैं।

शून्य—नागार्जुन का शून्य 'चतुःकोटि' के परे माना गया है, 'चतुःकोटि' इस प्रकार है—यह है, यह नहीं है, यह है + यह नहीं है, यह है + यह नहीं है का अभाव। इन चारों कोटियों में से किसी कोटि में 'शून्य' को नहीं रखा जा सकता, वह विलक्षण तत्त्व है* विद्वान 'शून्य' के इस वर्णन में उपनिषद् का प्रभाव खोजते हैं।

---

* जहि मण पवण ण संचरइ, रवि ससि णाह पवेस।
तहि वढ़ चित्त विसाम करु, सरहें कहिअ उएस।
आइ ण अन्त ण मज्झ णउ, णउ भव णउ णिव्वाण।
एँहु सो परम महासुह, णउ पर णउ अप्पाण।

इसी प्रकार विज्ञानवादियों के 'अभूत परिकल्प' तथा 'विज्ञप्तिमात्रता' पर भी वेदान्त के 'ब्रह्म' का प्रभाव खोजा गया है। यही कारण है कि महायानी 'सूत्र' की कल्पना इतनी रहस्यमय और अस्पष्ट हो गई है। सहजियों के "सहज" तथा वेदान्तियों के 'ब्रह्म' में कोई अन्तर नहीं है। *विज्ञानवाद तथा शून्यवाद दोनों में भ्रम का सिद्धान्त किसी* न किसी रूपमें स्वीकृत है। विज्ञानवादी संसार को स्वप्न मानते हैं, वेदान्त उसे शुक्ति में रजत का भ्रम मानता है, शून्यवादी उसे 'शून्य' कहता है। इन तीनों दर्शनों का एक मिश्रित रूप सहजिया सम्प्रदाय में मिलता है, ऐसा प्रतीत होता है। *

दोहों तथा चर्या-पदों में 'शून्य' को चार भागों में बाँटा गया है—शून्य, अति शून्य, महा शून्य तथा सर्व शून्य। प्रथम शून्यावस्था को 'आलोक' कहते हैं, प्रज्ञा तथा चित् इसमें विद्मान रहते हैं, मस्तिष्क के ३० दोष इसमें रहते हैं, (भय-वेदना, भूख, प्यास आदि)। इस मानसिक स्थिति को भी 'स्त्री' कहा गया है। सारे भ्रमों में 'स्त्री' को सबसे बड़ा भ्रम माना गया है। इसे वामा' भी कहते हैं और 'कमल' भी।

'अति शून्य' 'आलोक ज्ञान' से आगे का तत्त्व है जो चन्द्रमा की तरह चमकता है। यही 'उपाय' है, 'परिकल्पिता' भी इसीका नाम है। इसे 'दक्षिणा' भी कहते हैं, सूर्यमण्डल तथा वज्र भी इसके नाम हैं। ४० दोष इसमें रहते हैं।

'महाशून्य' *शून्य तथा अति शून्य से निकलता है* उसे 'आलोकोपलब्धि' कहते हैं। ७ मानसिक दोष इसमें रहते हैं। प्राण-वायु इन दोषों का 'वाहन' है।

'सर्व शून्य' ऊपर कही हुई दोष पूर्ण स्थितियों से परे है। अतः यही साधक का लक्ष्य है। यही अन्तिम सत्य है, अनादि, अनन्त और

वहाँ मन व प्राण सञ्चरित नहीं हो सकते। वहाँ सूर्य चन्द्र का प्रवेश असम्भव है, सरहपा कहते हैं कि हे चित्त! वहीं विश्राम कर। उस (परमतत्व) का आदि, मध्य, अन्त नहीं है। वह 'निर्वाण' से भी परे है, ऐसा जो परम महासुख है उसे जान। —सरहपा

* Obscure Religious bults, page 41.

अक्षर। कहीं-कहीं सात शून्यों की चर्चा है। सर्वशून्य ही 'अवधूती' का निवास स्थान है। इन शून्यों को अनेक प्रतीकों में कहा गया है। कहीं ये चार पत्ते कहे गय हैं कहीं चार डण्ठल।

खण्डन मण्डन—जीवन के प्रदर्शन तथा धर्म के दम्भ का सिद्धों ने घोर खण्डन किया है। कठिन साधना से सत्य नहीं मिलता, अध्ययन व अनुशीलन से भी सत्य दूर है। व्रत, पर्व, स्नान, रूपोपासना, देवोपासना आदि से भी सत्य दूर है। वह तो योग के अभ्यास से मिलता है जो 'पिण्ड' में ही है। यौगिक क्रिया ही सहज क्रिया है। मनुष्य के स्वभाव में भूख और कामवासना मुख्य है। सारे धम इन्हीं के दमन का उपदेश देते हैं। यह अन्याय है। सत्य इस दमन से नहीं मिलता। सहजिया पन्थ ऐसे अस्वाभाविक सत्य का उपदेश नहीं देता, यह तो सहज व स्वाभाविक मार्ग वताता है। 'सहज' का अर्थ चरित्र-पतन नहीं है। अन्तर यही है कि जहाँ अन्यधर्म कामवासना का पूर्ण दमन चाहते हैं सहजिया उसी के माध्यम से 'सत्य' को पाना चाहते हैं, कामवासना के 'दुरपयोग' से चरित्र पतन अवश्य होगा। प्रवृत्तियों का नाश नहीं, उदात्तीकरण ही शायद सहजियों का लक्ष्य है।

'सहज-यान' नाम इसीलिये सार-गर्भित है। 'सहज' के दो अर्थ हैं। 'सहज' अन्तिम सत्य को कहते हैं अतः सहजयान पन्थ उस 'परम-सत्य' का उपदेश करता है। सहज-यान वह इसलिये भी है क्योंकि यह सहज=स्वाभाविक, सरल मार्ग है, कठिन नहीं। 'सम्पूतिका' में इस मार्ग को शाश्वत कहा गया है। यह काम-भावना से उद्भूत होता है, काम-भावना जीवन की सर्वस्व है। अतः सहजमार्ग वह मार्ग है जो काम-वासनाओं को यौगिक क्रिया में बदलकर सत्य प्राप्ति का सरल मार्ग निर्देशित करता है, उन्हें दमित नहीं करता। सत्य आत्मानुभूत तत्व है जो केवल इसी मार्ग से गुरु की देख रेख में प्राप्त हो सकता है। यह राजपथ है। सरहपाद कहते हैं कि हे योगी! इस सरल मार्ग को छोड़कर वंक्र और अस्वाभाविक पन्थों पर मत चलो। 'वोधि' तुम्हारे पास ही है, लङ्का जाने की आवश्यकता नहीं है। अपने आभूषण को देखने के लिये दर्पण मत उठाओ। स्वयं अपनी अनुभूति में डूब जाओ। यदि एक वार 'वोधि' प्राप्त हो जाये तो मन्त्र, तपस्या तथा यज्ञ, मण्डल की क्रियायें व्यर्थ हैं।

सिद्ध लोग तार्किक दार्शनिकों से घोर घृणा करते थे, सरहपा व कन्हपा ने तर्क, बुद्धि तथा अध्ययन की निन्दा की है। वेद, पुराण आगम व्यर्थ हैं, ये सत्य से दूर हैं। जैसे मधुमक्खी फूलों पर मँडराती है और रस नहीं ले पाती उसी प्रकार ये ज्ञान के दम्भी सत्य से दूर हैं।

सिद्ध धार्मिक रीतियों के शत्रु थे। सरहपाद ने 'दोहाकोष' में इनकी कटु आलोचना की है।❀ कबीर इन्हीं सिद्धों के उत्तराधिकारी थे। 'सरह' ने चतुर्वर्णों में ब्राह्मणों की उच्चता का मजाक उड़ाया है, ब्रह्मा के ललाट से ब्राह्मणों की उत्पत्ति बताना धोखेबाजी है और यदि संस्कारों से ब्राह्मण बनता है तो प्रत्येक बन सकता है। सिद्धों ने सनातन रीतियों पर वज्र प्रहार करते हुये ८ वीं शताब्दी में ही शिक्षा के समाजीकरण पर जोर दिया था। "यदि वेद पढ़ने से ही ब्राहमण होता हैं तो नीच जातियों को भी अधिकार हो, वे भी वेद पढ़कर ब्राह्मण बन जायेंगे। यदि कहो वे नहीं पढ़ सकते तो यह झूठ है क्योंकि वे व्याकरण पढ़ लेते हैं जिनमें वेद के शब्द प्रायः आते हैं।"

ब्रम्हणहि म जाणन्त हि भेउ, ऐवइ पढ़िअउ ए चउवेउ
महि पाण कुस लई पढ़न्त, घरहीं वइसी अग्गि हुणन्त
रण्डी, मुण्डी अण्ण विवेसें, दिक्खिज्जइ दक्खिण उद्देसें।

—हिन्दी काव्य सूत्र धारा, पृष्ठ ४

कबीर ने भी कहा था—

हिन्दू अपनी करैं बड़ाई, गागर छुअन न देई।
वेश्या घर पायन तर सोवे, यह देखो हिंदुआई।

❀ ब्रह्मणहिं म जाणन्त हि भेउ, ऐवइ पढ़ि अउ ए चउवेउ।
कज्जे विरहइ, हुअ वह होमें, अक्खि डहाविअ कड़ुये धूयें॥

अर्थात् ब्राह्मण मर्म नहीं समझता, उसने योंही चारो वेद पढ़ लिये हैं, वह व्यर्थ ही यज्ञ करता है, और कड़वे धूम्र से आँखें फोड़ता है।

जो जसु जेण होइ सन्तुट्ठो, मोक्ख किलब्भइ झाण पविट्ठो।
किन्तह दीवें किँ तहँ णेवेज्जें, किन्तइ किज्जइ मंतह सेव्वे॥

जो जिस को समझता है वह उसी में सन्तुष्ट है, ध्यान से मोक्ष नहीं मिलती, न आरती और नैवेद्य चढ़ाने से, न मन्त्रों के सेवन से।

"सरहपा"

सरह ने योगियों, प्रतिमा पूजकों, जैनियों आदि सभी की आलोचना की है। जैन नंगे रहते हैं, सिर मुँड़ाते हैं, सरहपा कहते हैं "यदि नंगे को मोक्ष मिलती तो कुत्ते व शृगाल भी मुक्ति पा जाते। यदि केश लुञ्चन से ही मुक्ति मिलती तो स्त्रियों के नितम्ब मुक्त होगये होते। यदि मोरछाला, मृगचर्म रखने से मुक्ति मिलती तो मयूर व हरिण स्वयं मुक्त हो जाते।" भिक्षु व स्थविर प्रव्रज्या की प्रतिज्ञा लेते हैं परन्तु क्या केवल ध्यान से ही बुद्धत्व मिलता है, बुद्ध ने तो अधिकारी भेद रखा है। तीर्थ, मन्त्र, सेवा सब व्यर्थ है। बौद्धो! इस अन्धविश्वास को छोड़ो, सहजमत की मुक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है। मनुष्य को संन्यास, तन्त्र-मन्त्र, धर्म किसी की आवश्यकता नहीं है। ये सब सन्देह उत्पन्न कर देते हैं। स्वयं इनके अभ्यासी कुछ नहीं जानते। ज्ञानमार्ग व्यर्थ है, सहजमार्ग ही श्रेष्ठ है। इस प्रकार सरहपा यन्त्र, मन्त्र, तन्त्र का खण्डन करते हैं परन्तु कालान्तर में यह पन्थ मुक्तयौन स्वातन्त्र्य का प्रतीक मात्र रह गया। खण्डन-मण्डन, साधना के यत्न के अभाव से छिद्रान्वेषण के रूप में रह कर प्रभावहीन होगया। जनता सहजियों से घृणा करने लगी। वह वैष्णव साधना की ओर झुकती गई क्योंकि वहाँ मार्ग भी सरल था और चरित्र की शुद्धता भी प्राप्त थी। जन-साधारण को भक्ति का अधिकार भी था। परन्तु इतना होने पर भी सिद्ध-काव्य का महत्व अखण्ड रहता है। कर्मकाण्ड तथा धार्मिक साधनाओं के सतत अभ्यास से भी जनता को क्या मिला, केवल—सन्देह, निराशा, भाग्यवाद। सिद्धों का दृष्टिकोण स्वस्थ था परन्तु उनका अपना मार्ग 'अतिचार' में परिणत होता गया। यदि उनके सम्मुख सामाजिक विचार-धारा होती, यदि वे सामाजिक समस्याओं का हल निकालने में समर्थ होगये होते, घोर व्यक्तिपरक चिन्तन व खतरनाक असामाजिक क्रियाओं से दूर रहते तो आज धार्मिक साधना का इतिहास ही दूसरा होता, पर ऐसा न हो सका। अन्धविश्वास नये युग के सिंहद्वार तक चला आया और अब भी चला आ रहा है। स्वार्थी राजनैतिक व धार्मिक नेता इससे बराबर लाभ उठा रहे हैं। लुइपा, कन्हपा आदि सभी ने ब्राह्मणों, जैनियों तथा बौद्धों की बुरी तरह खबर ली है।×

जैनियों में रामसिंह (१००० ईसा) मुनि के दोहे भी सिद्धों

× देखिये हिन्दी काव्यधारा में संगृहीत सिद्धों के पद।

के दोहों से मिलते-जुलते हैं, इस जैन मुनि ने पण्डितों की बड़ी आलोचना की है।

हिन्दी भाषा का प्रथम काव्य सत्य की परख के लिये आलोचना का अस्त्र सँभाल कर ही उतरा था और आज भी वह उसी परम्परा का पालन कर रहा है। जाति-पाँति, धर्म, भाग्य, ईश्वरवादी अहंमन्य साहित्यिक गतिरोध उत्पन्न कर देते हैं पर सत्यान्वेषी साहित्यिक सरह और कबीर की तरह अपने मार्ग पर दृढ़ हैं। हमारे यहाँ खण्डन की परम्परा प्राचीन है। आरण्यकों तथा उपनिषदों में खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति का प्रथम परिचय मिलता है। इनमें ब्राह्मणयुग के यज्ञवाद की कड़ी आलोचना है, और ज्ञानकाण्ड का मण्डन है। कर्मकाण्ड के स्थान पर उपनिषद् युग में 'ध्यान' का प्रचार था। धर्म की आन्तरिक-वृत्ति पर ज्ञान-मार्गियों का ध्यान रहा है। अतः वे बहिर्मुखी वृत्तियों यथा यज्ञ की पद्धतियों के कठोर आलोचक थे। देवतावाद, उपासना, तथा कोरा तर्क-जाल ये सब उनकी आलोचना के विषय थे।

अनुशासन पर्व में भीष्म ने युधिष्टिर को बाह्य धर्म विधान, तीर्थ व्रतादि को व्यर्थ बताया है। कोरा स्नान भीष्म के अनुसार व्यर्थ है, यदि इन्द्रियों पर अनुशासन न हुआ, हृदय शुद्ध न हुआ। शुद्ध मन में जब धैर्य आदि का विश्वास हो जाता है तो वह सब तीर्थों में श्रेष्ट तीर्थ बन जाता है।

आगे वेदान्तियों ने पूर्व मीमांसा का खण्डन किया। शङ्कर मीमांसा—कर्मकाण्ड के प्रसिद्ध आलोचक थे। वैष्णवों ने स्वर्ग, नर्क, मुक्ति की निन्दा की है। तान्त्रिक तो वेद, शास्त्र आदि को कलियुग के लिए व्यर्थ मानते ही थे, और इन गुह्य साधकों ने समाज के ऊपर के दिखावे को कितना कोसा है यह हम ऊपर दिखा आये हैं। इस प्रकार सिद्धों के खण्डन के अतिरिक्त भी भारतीय साहित्य में आलोचना की पुष्ट परम्परा रही है, जिनकी बीच की कड़ी सिद्धों की आलोचना हैं। सिद्धों ने तो बौद्ध मठों तथा तीर्थों की भी आलोचना की है। बौद्धों के बाहरी धार्मिक क्रियाकाण्ड तथा कठिन नियमों के विरुद्ध ही सिद्धों ने 'सहजमार्ग' का अवलम्बन किया था।

गुरु-भक्ति—तान्त्रिक मतों की सबसे बड़ी विशेषता है 'सत्य की

अनुभूति के लिए व्यावहारिक, क्रियात्मक पद्धतियों का आविष्कार करना।' इस व्यावहारिक क्रिया में सर्वप्रथम गुरु की आवश्यकता है, यों सारे भारतीय-दर्शन में इसका महत्त्व अखण्ड है। परन्तु रहस्यवादी मतों में तो और भी अधिक महत्ता 'गुरु भक्ति' को दी गई है। गुरु की कृपा-प्राप्ति ही साधक का प्रथम लक्ष्य है क्योंकि वही दीपक की भाँति छिपे सत्य को प्रकाशित करता है। गुरु को ईश्वर कहा गया है। कबीर ने गुरु को गोविन्द से बड़ा कहा है, क्योंकि वह ईश्वर को पहचानने की शक्ति देता है। यौगिक पद्धतियों में तो पग-पग पर गुरु की आवश्यकता है। सिद्ध, नाथ, सूफी तथा सन्त सम्प्रदायों में गुरु-महिमा बड़े विस्तार से गाई गई है। वैष्णवों में वल्लभ सम्प्रदाय में गुरु का महत्व बहुत अधिक है।

कायासाधना—क्रियात्मक प्रयोगों द्वारा सत्यानुभूति के लिए काया-साधन की आवश्यकता है। क्षणिकवादी बौद्धों में, अद्वैतवादी शांकर वेदान्तियों में तथा अन्य भारतीय मतों में शरीर को अपवित्र मलों का मन्दिर माना गया है। आत्मा के आगे शरीर की प्रशंसा कैसे हो सकती थी परन्तु 'सहजयान' में पिण्ड को ब्रह्माण्ड माना गया, शरीर को ही सत्य प्राप्ति का माध्यम स्वीकार किया गया*। सत्य शरीर के भीतर छुपा हुआ है। शरीर की नाड़ियाँ योग के लिये कितनी महत्वपूर्ण हैं। सरह ने कहा है—"तीर्थयात्रा व्यर्थ है शरीर के भीतर ही गङ्गा, यमुना, गङ्गासागर, प्रयाग और काशी हैं। यहीं चन्द्रमा और सूर्य हैं। शरीर के समान कोई तीर्थ और आनन्द का निवास अन्य स्थान मैंने नहीं देखा। तुम्हारा प्रिय तुम्हारे भीतर है, तुम पड़ौसियों से पूछ रहे हो। मूर्ख, तुम अपने को पहचानो। विद्वान् यह नहीं जानते कि बुद्ध शरीर के भीतर है।" शरीर के भीतर ही ३ चक्र व ३ कायायें अवस्थित हैं निर्माण, धर्म तथा सम्भोग और कायाचक्र इसी के भीतर हैं।

---

* एत्थु सें सुरसरि जमुण, एत्थु सें नङ्गा साअरु
एत्थु पआग बणारसि, एत्थु सें चन्द्र दिवा अरु।

अर्थात् यह काया तीर्थ है, इसी में गङ्गा, यमुना व गङ्गासागर हैं। यहीं प्रयाग व काशी हैं, इसी में चन्द्र और सूर्य हैं। —सरहपा

इड़ा व पिङ्गला को प्रज्ञा तथा उपाय कहा गया है—यह हमने पहले कहा है। सुषुम्ना या अवधूतिका सहज का मार्ग है। इड़ा, पिङ्गला दोनों मिल कर बोधि-चित् को उत्पन्न करती हैं। सुषुम्ना के दाहिनी ओर पिङ्गला (उपाय) नाड़ी है और बाईं ओर इड़ा (प्रज्ञा) है। पिङ्गला को रसना, सूर्य, रवि, प्राण, कामना, काली, बिन्दु, यमुना, रक्त, रजस्, भाव, पुरुष, ग्राह्य, व्यञ्जन तथा वाम कहते हैं। इड़ा को ललना, चन्द्र, शशि, अप्राण, आली, धामना, नाद, गङ्गा, शुक्र, तमस्, अभाव, निर्वाण, प्रकृति, ग्राहक, स्वर, तथा 'इ' कहते हैं। ये दोनों नाड़ियाँ द्वैतता का निर्देश करती हैं तथा सुषुम्ना एकता की निर्देशिका है।

काया-साधना का महत्त्व नाथ व सिद्धों में और भी अधिक है। इसे वे हठयोग कहते हैं जिसका वर्णन आगे किया जायगा। सिद्ध भी हठयोगी थे। इनके यहाँ बौद्ध स्कन्धों की भी चर्चा है। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान का संघात (समूह) ही 'स्कन्ध' है। इनकी पुष्टि से ऐन्द्रिक चेतना में एक सुषुप्ति की अवस्था आ जाती है, जो एक प्रकार की बेहोशी है। यह 'महासुख' नहीं है। 'रति-योग' में कहा है कि 'महासुख' इस मूर्च्छना से परे है। योगी इस 'मूर्च्छना' से सजग रहे और निर्माण-चक्र या हिन्दुओं के मूलाधार चक्र में प्रज्ञा तथा उपाय के मेल से (इड़ा और पिंगला की एकता से) बोधचित् को उत्पन्न करे और फिर उसे धर्म, सम्भोग चक्रों को पार कर 'कमल' या सहस्रार-चक्र तक पहुँचा दे जहाँ साधक को 'सहज' की प्राप्ति होगी। बोधि-चित् के दो रूप हैं, सामान्य दशा में, जब यह चञ्चल रहता है तो यह स्थूल काम-भोग के समान है जिसमें वीर्य का 'क्षरण' होता है। इसे 'संवृत' कहते हैं किन्तु स्थिर दशा में यह 'विवर्त' कहा जाता है, जब यह शीर्ष स्थित 'कमल चक्र' में पहुँच जाता है। इसे 'पारमार्थिक' भी कहा है। ये दोनों 'संवृति-सत्य' का प्रतिनिधित्व कहते हैं। संवृत बोधिचित् लौकिक सत्य का तथा 'पारमार्थिक' 'चरम सत्य' के प्रतीक हैं। अतः सहज साधना वह है जिसमें प्रज्ञा तथा उपाय का मेल कराके बोधिचित् को जगाया जाय, 'संवृत सत्य' की प्राप्ति की जाय और फिर उसे 'पारमार्थिक सत्य' में बदल दिया जाय। पाठक देखेंगे कि किस प्रकार सहजयानियों ने व्यावहारिक सत्य के रूप में काम-भोग

को साधना के लिये आवश्यक माना। बिना इस लौकिक कामभोगरूपी सत्य का अनुभव किये हुये पारमार्थिक सत्य की प्राप्ति हो ही नहीं सकती। सहजयान में काम-भोग साधना का माध्यम मात्र था। जरा-सी फिसलन में पारमार्थिक सत्य असम्भव हो सकता था। काम-भोग में व्यावहारिक सत्य के अनुभव करते समय अद्भुत सन्तुलन की आवश्यकता थी, जो सर्वसाधारण के लिये असम्भव था। अतः पारमार्थिक सत्य की प्राप्ति तो विरले साधकों को ही हुई होगी, व्यावहारिक सत्य का अनुभव सब करने लगे। सचमुच यह मार्ग बड़ा 'सहज' लगा। अतः साधना की दृष्टि से प्रतीक रूप में ग्राह्य काम भोग सहजिया सम्प्रदाय में घुस गया और वाम मार्ग का दौरदौरा हो गया।

जब तक साधक नाभिचक्र या निर्माण-चक्र (हिन्दुओं का मूलाधार चक्र) में रहता है तब तक वह स्थूल बन्धन व दुःखों का अनुभव करता है। किन्तु जैसे ही इड़ा व पिंगला के मेल से उत्पन्न बोधिचित् ऊपर की ओर बढ़ता है, आनन्द की उत्पत्ति हो जाती है। पूर्व महायान सम्प्रदाय के अनुसार १० बोधचित् भूमियाँ पार करनी पड़ती हैं और अन्त में 'धर्ममेघ' नामक स्थिति प्राप्त होजाती है, तब 'बुद्धत्व' प्राप्त हो जाता है। सहजिया सम्प्रदाय में बोधिचित्त भूमियों के स्थान पर 'कायाओं' का उल्लेख है। तथा अन्त में वज्र-काया' या 'सहज-काया' प्राप्त हो जाती है। वज्रकाया या उष्णीश कमल या सहज काया—मनुष्य के शीश में स्थित है, यहीं आ कर 'महासुख' मिलता है, जहाँ द्वैतता नष्ट हो जाती है।

मध्यम मार्ग—महायान में इसे मध्यम मार्ग कहा गया है क्योंकि यह भाव तथा अभाव दोनों स्थितियों के बीच की वस्तु है। वसुबन्धु की 'अभूत परिकल्प' दार्शनिक धारणायें, यथार्थवादी 'सर्वास्तिवादी' तथा अभाववादी माध्यमिक (शून्यवादी) दोनों को स्वीकार न कर बीच का मार्ग निर्देशित करती हैं। वसुबन्ध के विज्ञानवाद में निर्वाण को भाव व अभाव से परे बताया गया। यह ऐसी स्थिति है जहाँ दोनों मिल कर एक हो जाते हैं। ऊपर कहे हुए 'महासुख' की स्थिति भी ऐसी ही है। सहजावस्था में भी इसी को मध्यम मार्ग कहा गया है। जहाँ 'द्वैतता' नष्ट हो जाती है। इसीलिए कहा गया है कि बोधिचित् मध्यम नाड़ी (सुषुम्णा—अवधूतिका) का अवलम्बन पाने पर ही

जागृत होता है। यही कार्य सबसे कठिन है। यदि बोधिचित् ऊपर की ओर बढ़े और यदि दायीं या बायीं ओर को मुड़ जाय, मध्यम मार्ग पर न रहे तो साधना नष्ट हो जायगी, अतः योगी को 'मध्यम मार्ग' से जाने का बार-बार उपदेश दिया गया है। लुहिपा कहते हैं कि 'मैं वहाँ अवस्थित हो गया हूँ जहाँ धामना (बायीं ओर की नाड़ी) तथा कामना (दायी ओर की नाड़ी) मिलती है', एक और सिद्ध कहते हैं—"भवन (शरीर) मे साँस (प्राणवायु) को मार डालो तथा मणिमूल पर शासन करो, सूर्य व चन्द्र मार्ग पर मत जाओ' 'जीवन का नद बह रहा है, दोनो ओर कीचड़ है किन्तु बीच का मार्ग (मध्यम मार्ग) स्वच्छ है। मैंने एक पुल बना दिया है, अब लोग इस नद को पार कर सकते हैं। पुल के पार दांये-बांये मत मुड़ो, सीधे बीच के मार्ग पर 'बोधि' की ओर चलो वह पास ही है।'

कन्हपा कहते है कि 'काली व आली ने माग रोक रक्खा है, मै 'ई' या 'बाम' (पिंगला) को तोड़ कर बोधि के पास पहुँच गया हूँ।' 'मैंने ललना, रसना या रवि, शशि को नष्ट कर डाला है, मैंने मध्यम माग का अनुसरण कर आनन्द पालिया है।'

डौम्बीपाद कहते हैं 'गङ्गा यमुना के बीच नाव जा रही है, वहाँ एक सुन्दर स्त्री (नैरात्मा) है जो अपने बच्चो (योगियों) को लिये जा रही है, हे डौम्बी, नाव ऊपर की ओर बढ़ाये जा।'

बोधिचित् को ऊपर ले जाने की क्रिया को इस प्रकार प्रतीक-भाषा में कहा गया है, यही सिद्धो का रहस्यवाद है। बोधिचित् को ऊपर शीर्ष-कमल की ओर लेजाने के लिए प्राण व अपान वायु पर शासन करना पड़ता है, और दोनो को मिलाकर मध्यम नाड़ी से ऊपर की ओर प्रवाहित किया जाता है, तब 'महासुख' उत्पन्न होता है।

चक्रों के अतिरिक्त 'मुद्राये' हैं, ये चार है—कर्ममुद्रा, धर्ममुद्रा, महामुद्रा, तथा समयमुद्रा। यही चार सोपान हैं। चार मानसिक दशाएँ हैं—विचित्र, विपाक, विमर्द और विलक्षण तथा आनन्द की चार कोटियाँ हैं—आनन्द, परमानन्द, विरमानन्द, तथा सहजानन्द।

१—आनन्द—निर्माण चक्र में स्थित बोधिचित् (सामान्य आनंदावस्था)
२—परमानन्द—धर्म ,, ,, ,, (घनीभूत आनन्द)

३–विरमानन्द—सम्भोग ,, ,, (सांसारिक आनंद से विरति)
४–सहजानन्द या महासुख—उष्णीश ,, (अन्तिम आनन्दावस्था)

शक्ति की कल्पना—सिद्धों ने चण्डाली, डौम्बी, योगिनी, सहज सुन्दरी किसे कहा है ? ये नाम 'शून्य' की शाश्वत शक्तियों के नाम हैं।

हिन्दू तन्त्रों में मूलाधार चक्र में कुण्डलिनी शक्ति मानी जाती है। जो कुण्डली मारे हुए सर्प की दशा में पड़ी हुई है। साधना का नाम है इस अधोमुखी शक्ति को ऊर्ध्वमुखी करके उसे सहस्रदल कमल तक पहुँचा देना, जहाँ उस 'शक्ति' का 'शिव' से मिलन हो जाता है। इसीसे मिलती-जुलती शक्ति की कल्पना सहजयानियों ने की है। निर्माण-काया में एक प्रकार की अग्नि-शक्ति रहती है जो 'चाण्डाली' कहलाती है इसीलिए 'कन्हपा' ने कहा है—"एक कमल है, उसके ६४ पत्ते हैं, डौम्बी* इन पर चढ़ कर नाच रही है"। 'हे वज्रतन्त्र' कहता है "चाण्डाली नाभि में जलती है, पाँचो 'तथागत' जल रहे हैं, 'लोचना' जैसी देवियाँ भी जल रही हैं। जब सब जल जाते हैं तब चन्द्रमा 'हम्' नामक ध्वनि उत्पन्न करता है" यह चाण्डाली पूर्व कथित नैरात्मा (essencelessness) या अवधूतिका या प्रज्ञा है। जब इसे नाभि में जगाया जाता है, तो पाँचस्कन्ध जो 'तथागत' कहे गये हैं जलते हैं। इनके जल जाने पर चन्द्रमा = बोधिचित् आनन्द की वर्षा करता है। 'हम्' का तात्पर्य 'वज्रज्ञान' से है। 'सम्पूतिका' में इस 'चाण्डाली' को जगाने के लिए कहा गया है, जो सारे चक्रों को पार कर ललाट-स्थित कमल चक्र तक पहुँचकर, आनन्द उत्पन्न कर पुनः नाभि चक्र में वापस आ जाती है। 'मर्मकालिका तन्त्र' में इसे गन्ने से निकले 'रस' के समान कहा गया है। उस आनन्द के समान कहा गया है जो काम-क्रीड़ा के समय उत्पन्न होता है। यह अंगूर से निकली 'शराब' के समान है। यह शक्ति का सिद्धान्त हिन्दू तन्त्रों से लिया गया है। चाण्डाली अपनी ऊर्ध्व गति में डौम्बी और उष्णीश कमल में पहुँचने पर 'सहज सुन्दरी' कहलाती है। प्रायः सम्भोग काया (कण्ठ-स्थान) में योगी इस 'शक्ति' के साथ खेलता हुआ वर्णित किया गया है। सबरपाद कहते हैं—"मैं हृदयरूप पान की पत्ती चबाता हूँ, तथा

* निम्न चक्र से ऊपर चढ़ते समय चाण्डाली ही डौम्बी कहलाती है।

बड़े आनन्द से कर्पूर चर्वण करता हूँ। यहाँ पान चित्त के लिये, कर्पूर 'वीर्य' के लिये आया है। कन्हपा सदा डौम्बी को गले से लगाने के लिये (कण्ठ अवस्थित चाण्डाली शक्ति को जगाना) कहते हैं। एक जगह कहा गया है कि साधक योगिनी का आलिङ्गन करता है, हे योगिनी, मैं तो तेरे विना एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकता, मैं तेरा अधर-चुम्बन करूँगा तथा कमल का रस पियूंगा।' स्पष्ट है कि यहाँ योग प्रक्रिया का प्रतीकात्मक वर्णन है परन्तु प्रायः लौकिक योगिनी का आलिङ्गन, चुम्बन कर उष्णीष कमलस्थित 'महासुख' को यौन क्रीड़ा-सुख में ही पाने लगे।* सिद्धों ने प्रतीकात्मक रूप से ब्राह्मणों, जैनियों आदि को इस प्रक्रिया के सम्बन्ध में अज्ञानी बताया है। 'हे डोम्बी, तू ब्राह्मण तथा संन्यासी के पास जाती है पर तू अपने को उन पर व्यक्त नहीं करती। मैं तेरे ही साथ रहूँगा। मैं नङ्गा कापाली हो गया हूँ, मेरा लोभ नष्ट हो गया है'।

'तू डोम्बी और मैं कपाली हूँ, मैंने तेरे लिये हड्डी की माला पहनी है'। डौम्बी (शक्ति) नीच जाति की स्त्री मानी जाती है, वह ब्राह्मण को नहीं छूती। यह चूँकि इन्द्रियातीत अनुभवों की ओर ले जाती है अतः वह शहर के बाहर रहने वाली कही गई है। केवल कापालिक योगी उसे पा सकते हैं। कुछ उसे नीच समझते हैं परन्तु वह डौम्बी योगी के सदा गले से लगी रहती है। वह कामिनी चण्डाली है, चालाक चुस्त और चञ्चल।

डौम्बी के साथ विवाह का रूपक भी कन्हपा में मिलता है। जीवन-प्रवाह विवाह का जलूस है, प्राण वायु तथा मस्तिष्क नगाड़े हैं। कन्हपा डौम्बी के साथ विवाह करने जा रहे हैं, 'महासुख' की दायज (dowry) मिल रही है। ६ रातें योगिनी के साथ वार्तालाप होता है। अज्ञान नष्ट हो रहा है। योगी डौम्बी के प्रेम में पागल है। 'सहज' आनन्द बरस रहा है।

---

* एक्कु ण किज्जइ मन्त ण तन्त, णिअ घरणी लइ केलिकरन्त।
एसो जप-होमे मण्डल कम्मे, अणुदिण अच्छसि काहिऊ धम्मे।

मन्त्र-तन्त्र एक भी न करो, अपनी 'घरनी' (गृहणी-योगिनी) को लेकर काम-क्रीड़ा करो। जप, होम आदि कर्म व्यर्थ हैं। 'कन्हपा'

महासुख—'श्री गुह्यसमाज' में महासुख के पाँच रूप बताये गये हैं (१) मृग जल में, (२) धूम्र, (३) अग्नि कीट, (४) ज्वलित दीपक, (५) निर्मल आकाश। महासुख के पाँचों प्रतीक महत्त्वपूर्ण हैं।

मृगजल—इस स्थिति में यह ज्ञान हो जाता है कि संसार मृग-जल के समान मिथ्या है। धूम्र—से जगत की प्रातिभासिक सत्ता पुष्ट हो जाती है। अग्नि-कीट—यह मक्खी आकाश में जब तब चमकती है, यह संसार की क्षणिकता की निर्देशिका है। दीपक—से उज्ज्वल ज्ञान संकेतित है। तथा अन्तिम निर्मल आकाश—से संस्कार रहित शुद्ध आनन्दावस्था की ओर संकेत होता है। इस स्थिति में ऐन्द्रिक-चेतना नहीं रहती, जीवन के बीज—कर्म-संस्कार नष्ट हो जाते हैं। यह स्थिति निरभ्र आकाश की तरह है। यही सहजानन्द है, यही 'महासुख' है। कन्हपा इस स्थिति में योगी को मस्त हाथी के समान बताते हैं जिसने 'ई' व 'वाम' के खम्भे उखाड़ डाले हैं।

महीधरपाद ने 'अनहद नाद' का भी जिक्र किया है। इस स्थिति में एक आश्चर्य जनक, अनह (अनहद) नाद सुनाई पड़ता है जिसे सुनकर कामवासना, इच्छा, बन्धन, दुःख आदि सब नष्ट हो जाते हैं। पाप व पुण्य दोनों नहीं रहते। चित्त महान 'सुरा' का पान करता है। साधक अब वज्रसत्व हो जाता है। शत्रु मित्र भाव नहीं रहता। शाश्वत सहजानन्द की अजस्र वर्षा होती है।

वैष्णव सहजयान

वैष्णव कवियों के प्रेम-गीतों में वौद्ध सहजयान का वैष्णवीय-रूप प्रस्तुत हुआ है। इनमें भगवान के प्रति प्रेम या तो स्वकीया के प्रेम का आदर्श लेकर चला है या परकीया के प्रेम को, परकीया प्रेम को अधिक सफलता मिलती गई जो 'चण्डीदास' के प्रेम गीतों में वर्णित हुआ। बंगाल में स्वकीया व परकीया प्रेम में कौन श्रेष्ठ है, इस विषय पर वाद विवाद होते थे जिनमें परकीया प्रेम के समर्थकों की प्रायः विजय होती थी।

चण्डीदास 'रामा' धोबिन से प्रेम करते थे, जो सहजिया-सम्प्रदाय का ही प्रभाव था, परन्तु इसकी ऐतिहासिक पुष्टि नहीं होती। जो हो, चण्डीदास एक सहजिया साधक अवश्य प्रतीत होते हैं। हो सकता है सहजिया सिद्धान्तों से सम्बन्धित कवितायें उनके नाम के साथ जोड़ दी गई हों। चण्डीदास ने मानवीय प्रेम को आध्यात्मिक रूप देकर राधा-कृष्ण के प्रेम का अमर वर्णन किया है। जयदेव, विद्यापति, चण्डीदास का चैतन्य पर महान प्रभाव था। रूप, सनातन, वृन्दावन-दास, कृष्णदास नरहरि, नरोत्तम आदि वङ्गाली भक्तों ने सहजिया सम्प्रदाय से प्रभावित होकर ही प्रेम के गीत गाये हैं। सहजिया लोग चैतन्य को भी यह मानते हैं कि उन्होंने किसी स्त्री (योगिनी) के साथ सहज साधना की थी। वौद्ध सहजिया भी कहते थे कि बुद्ध ने गोपा के साथ 'सहज-साधना' की थी।

हमने देखा है कि वौद्ध सहजयान में यौगिक क्रियायें ही मुख्य थीं। उनके दर्शन का आधार या तो वौद्ध महायान के सिद्धान्त थे या हिन्दुओं के दर्शन थे। मुख्यतः गुह्य साधना काम-क्रीड़ा जन्य आनन्द को अलौकिक यौगिक आनन्द में परिणत करने के लिये ही

की जाती थी। शिव व शक्ति का सम्बन्ध इसी साधना से प्रज्ञा तथा उपाय की एकता के रूप में जुड़ गया जो आगे चलकर 'रस' और 'रति' के रूप में 'कृष्ण' व 'राधा' बनकर वैष्णव सहजिया सम्प्रदाय में आराध्य बना, जिसके प्रेम का वर्णन जयदेव, विद्यापति आदि ने किया। इस प्रकार सहजिया यौगिक साधना ही वस्तुतः इस वैष्णव प्रेम-साधना को जन्म देने वाली थी। अतः यह कहना गलत है कि चैतन्य का परवर्ती वैष्णव सम्प्रदाय पूर्ववर्ती सहजिया साधना से कोई सम्बन्ध नहीं रखता। हिन्दू तांत्रिक मत तथा बौद्ध सहजिया सम्प्रदाय ही कालान्तर में एक नया रूप लेकर वैष्णव सहजिया सम्प्रदाय में बदल गया। इसमें 'शब्दावली' का अंतर अवश्य आगया है, सिद्धान्त बहुत कुछ वही हैं।

वैष्णव सहजयान का मुख्य सिद्धान्त 'प्रेम' का सिद्धान्त है। 'गुरुभक्ति' का महत्व बौद्ध सहजयान की तरह यहाँ भी सुरक्षित है।

'पालवंश' के साथ बौद्ध मत बङ्गाल से नष्ट हो गया। उसके पश्चात् 'सेनवंश' में वैष्णव सहजिया मत प्रचलित हुआ। जयदेव पहला कवि हुआ जिसने राधा कृष्ण की प्रेम लीला का वर्णन किया। यह 'सेन' वंश का दरबारी कवि था। जयदेव का आश्रयदाता १२ वीं शताब्दी के अन्तिम भाग का राजा लक्ष्मणसेन था। विद्यापति व चण्डीदास समसामयिक कवि थे। इन कवियों के प्रेमगीतों ने जनता के प्रत्येक वर्ण व वर्ग को प्रभावित किया था। परकीया का प्रेम आदर्श ही माना गया। फलतः चरित्रपतन के लिये इस मत को उत्तरदायी भी ठहराया गया।

इस मत में प्रेम व गुरुभक्ति के अतिरिक्त तीसरा बौद्ध प्रभाव महासुख की कल्पना का है। वैष्णव सहजिया भी जीव-ब्रह्म के मिलन-सुख को 'महासुख' की तरह ही मानते हैं परन्तु वे उसे 'अलौकिक प्रेम दशा' मानते हैं। शिव व शक्ति, प्रज्ञा तथा उपाय की मिलन स्थिति ही 'महासुख' है, यही अद्वय या युगनद्ध अवस्था है। राधा-कृष्ण की मिलन-स्थिति को भी शिव व शक्ति की मिलन-स्थिति के समान कहा गया है। दोनों का संयोग जो कि अलौकिक प्रेम की दशा है, अन्तिम 'सहजावस्था' है। वैष्णव भक्त मोक्ष की स्थिति में

अद्वैती सायुज्य मुक्ति का आदर्श नहीं मानते, जिसमें शराब-पानी की तरह एकता मानी जाती है, न वे इसे अभावात्मक दशा बतलाते हैं। भक्तों का मोक्ष तो शुद्ध भावात्मक है, यद्यपि अलौकिक है। यह प्रेम की शाश्वत संयोगावस्था है। इसमें जीव का भगवान से प्रेम संयोग हो जाता है और वह संयोग जन्य अलौकिक आनन्द को भोगता है। बौद्ध यौगिक क्रिया में वस्तुतः वैष्णव-सहजिया सम्प्रदाय ने बौद्ध सहजिया यौगिक क्रिया में ग्राह्य काम-वासना से प्रेम की भावना ग्रहण करली और उसे आध्यात्मिक रूप दे दिया। इसे प्रेम का मनोविज्ञान समझना चाहिये जिसे आध्यात्मिक साँचे में ढाल दिया गया। ईश्वर को मनुष्य के प्रेम में खोजा गया। नित्य लोक में राधा व कृष्ण के बीच शाश्वत प्रेम को ये भक्त आधार मानकर चले। राधा कृष्ण की ही शक्ति है, कृष्ण, निर्विशेष ब्रह्म, परमात्मा या भगवान हैं। कृष्ण भगवान के रूप में तीन शक्तियाँ रखते हैं—स्वरूप शक्ति, जीव शक्ति, माया शक्ति। स्वरूप शक्ति में सत्, चित् व आनन्द का मिश्रण है। ब्रह्म की तीन शक्तियाँ सन्धिनी, संवित् व ह्लादिनी हैं, राधा ब्रह्म की ही शक्ति है, राधा का वियोग कृष्ण से क्यों हुआ? कृष्ण के भीतर दो तत्त्व हैं, भोक्ता तथा भोग्य। राधा भोग्य है, कृष्ण भोक्ता। दोनों का सम्बन्ध नित्य है। वृन्दावन इन दोनों का नित्य लीला धाम है जहाँ गुप्त रूप से नित्य लीला होती रहती है। राधा व कृष्ण के नित्य प्रेम को मानवीय प्रेम के द्वारा समझाया गया है। इनमें वैसा ही प्रेम है जैसा एक परकीया स्त्री में अपने प्रेमी के लिये होता है।

अतः भक्त को भगवान से वैसा ही प्रेम करना चाहिए जैसा कि परकीया प्रेमी से करती है। स्वकीया के प्रेम को राधा कृष्ण के प्रति प्रेम की उपमा नहीं दी जा सकती क्योंकि वैवाहिक बन्धनों व नित्य के सहवास से उसमें तीव्रता नहीं रहती। प्रेम तो परकीया का ही आदर्श है जिसमें सारे सामाजिक-बन्धनों का तिरस्कार कर विविध उपायों से परकीया, अपनी आत्मविभोरावस्था में पर पति से मिलने में कोर-कसर नहीं उठा रखती। यह प्रेम किसी स्वार्थ पर नहीं होता, प्रेम के लिये ही होता है। राधा व कृष्ण के अलौकिक प्रेम की यही सर्व-श्रेष्ठ उपमा है। अतः राधा को परकीया के रूप में चित्रित कर राधा के संयोग वियोग के विस्तृत वर्णन गलदश्रु भावुकता के साथ किये

गये हैं। परकीया के इस प्रेमचित्रण में किसी सामाजिक अनुशासन की चिन्ता करने की आवश्यकता थी ही नहीं इसीलिए चण्डीदास व विद्यापति संयोग वर्णनों में इतनी अश्लीलता आ गई है क्योंकि राधाकृष्ण की संयोगलीला तो आध्यात्मिक जीव-ईश्वर मिलनावस्था का प्रतीक है।

चैतन्य की आराधना राधाभाव की आराधना थी। अपने को राधा मान कर, कृष्ण के प्रति उसी प्रकार आकर्षित होना ही ध्येय था। चैतन्य ने इसे धार्मिक रूप दिया था। वे राधा की तरह कृष्ण के वियोग में घण्टों रोते थे और मूर्च्छित हो जाते थे।

वैष्णव कवि 'राधाभाव' की जगह 'सखीभाव' मानते थे। जयदेव, विद्यापति, चण्डीदास अपने को राधा की सखी के रूप में कल्पित करते थे जो स्वयं कृष्ण के साथ भोग करने की इच्छा न करती थी, परन्तु उसकी यह इच्छा सदा रहती थी कि वह कृष्ण व राधा की प्रेम क्रीड़ा को अप्राकृत नित्य वृन्दावन में देख सके। नित्य लीला ही शाश्वत सत्य है। जयदेव की कविता की एक पंक्ति भी ऐसी नहीं बताई जा सकती जिसमें कवि स्वयं सखी रूप में कृष्ण के साथ भोग करने की इच्छा करे, वह केवल राधा व कृष्ण की प्रेमलीला की झाँकी पाने का ही इच्छुक रहता है। इसी लालसा की पूर्ति ही आध्यात्मिक उपलब्धि है। चण्डीदास व विद्यापति का भी यही भाव रहता है। सखीभाव ही क्यों ? इसका उत्तर यह है कि जीव वस्तुतः कृष्ण की तटस्थ शक्ति—प्रकृति ही है। उसे अभिमान है कि वह पुरुष है, अतः स्वरूप शक्ति पाने के लिए पुरुषत्व का अभिमान छोड़ना और सखी के रूप में प्रकृत रूप में आना ही ध्येय होना चाहिए। राधा तो कृष्ण से अभिन्न हैं, अतः जीव को राधा न बन कर सखी बनने का ही भाव रखना चाहिए, जीव व भगवान एक कैसे हो सकते हैं ?

वृन्दावन में जो ऐतिहासिक राधा व कृष्ण हुए हैं वे भी अस्थायी रूप से नित्य लीला को वृन्दावन में अवतीर्ण करने ही आये थे। अतः वृन्दावन जा कर उस अस्थायी लीला को देख कर शाश्वत लीला को हृदयङ्गम करना चाहिये। यह लीला मृत्युलोक के वृन्दावन के अतिरिक्त भगवान् के नित्य धाम 'अप्राकृत वृन्दावन' में सदा होती रहती है।

इस प्रकार राधाकृष्ण की लौकिक लीला का गान वस्तुतः अलौकिक लीला का ही गायन है। लौकिक लीला के गायन से ही सखी रूप में जीव का नित्य लीला में प्रवेश हो सकेगा और वही जीव की मुक्ति होगी। भक्त कभी अद्वैतवादियों की तरह अपने को भगवान में मिलाकर एक नहीं होना चाहता। वह अपना अस्तित्व रखकर ही भगवान की लीला का आनन्द उठाना चाहता है।

आगे चलकर चैतन्य के बाद के वैष्णव कवियों में यह विश्वास बढ़ा कि प्रत्येक व्यक्ति में कृष्ण का तत्त्व विद्यमान है। इस भगवत् तत्त्व की संज्ञा 'स्वरूप' है, इसके अतिरिक्त उसके लौकिक जीवन से मिला हुआ है, वह तत्व 'रूप' कहलाता है। इसी प्रकार प्रत्येक स्त्री में लौकिक शरीर 'रूप' है और अलौकिक तत्त्व 'स्वरूप' है जो राधा का अंश है। अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति कृष्ण व प्रत्येक स्त्री राधा है। या यों कहें कि लौकिक पुरुष व स्त्री वस्तुतः कृष्ण व राधा की रूपलीला है। यह सिद्धान्त मूलतः हिन्दू तांत्रिकों से लिया गया है जिसमें प्रत्येक पुरुष शिव है और प्रत्येक स्त्री 'शक्ति'। बौद्ध तंत्रों में यही प्रज्ञा व उपाय है। इसी सिद्धांत ने वैष्णवों को यह बताया कि पुरुष व स्त्री अपने 'स्वरूप' की दृष्टि से कृष्ण व राधा ही हैं।

चैतन्य की 'ब्रह्म संहिता' में भी जिसे वे दक्षिण से लाये थे, तांत्रिक प्रभाव है। पाँचवें अध्याय में शतदल को 'गोकुल' कहा गया है, शिवलिंग व शक्तियोनि को नारायण तथा रामादेवी (लक्ष्मी) के रूप में ग्रहण किया गया है, 'हरि' को पुरुष व 'श्री' को शक्ति कहा है।

'साधक रञ्जन' नामक पुस्तक में कमलाकान्त ने ६ वीं शताब्दी में कुलकुण्डलिनी को 'राधा' बताया है। इसका उसी भाषा में वर्णन है जैसा वैष्णवों के यहाँ मिलता है।

वृन्दावन की कल्पना पर भी तंत्रों का प्रभाव है। वहाँ अतीतावस्था को 'नित्यदेश' कहा गया है। यहाँ भी 'नित्य वृन्दावन' कहा गया है। यह भी दो रूप वाला है—(१) भव्य वृन्दावन तो लौकिक वृन्दावन है (२) मन वृन्दावन-साधक का मन है। 'नित्य वृन्दावन' में दोनों आते हैं।

कृष्ण राधा, रस व रति, काम व मदन है। केवल रसिक इसे जान सकते हैं। पुरुष व स्त्री को पहले अपने को कृष्ण व राधा समझ कर लौकिक रति करना चाहिये और धीरे-धीरे लौकिक वासना को अलौकिक प्रेम में परिणत करना चाहिये। तब पुरुष को 'कृष्णत्व' तथा स्त्री को 'राधात्व' प्राप्त हो जायगा, लौकिक प्रेम अलौकिक प्रेम में बदल जायगा।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि वैष्णव सहजिया सम्प्रदाय पर बौद्ध सहजिया सम्प्रदाय तथा हिन्दू तन्त्रों का पूरा प्रभाव पड़ा है। राधा व कृष्ण के प्रेम की साधना मूलतः तान्त्रिक साधना है। वैष्णव सहजिया सम्प्रदाय के अतिरिक्त बङ्गाल में शुद्ध वैष्णव साधना भी है (Standard Vaisnavism) जिस पर तान्त्रिक प्रभाव बहुत कम रह गया है। इस स्टैण्डर्ड वैष्णव मत पर पौराणिक अवतारवाद का प्रभाव अधिक है। विद्यापति व चण्डीदास सहजिया वैष्णव थे और चैतन्य मतावलम्बी शुद्ध वैष्णव।

वैष्णव सहजिया लौकिक व अलौकिक प्रेम दोनों को महत्त्व देते हैं, दोनों एक हैं। लौकिक प्रेम ही मानसिक अनुशासन से दिव्य प्रेम में बदल जाता है, किन्तु शुद्ध वैष्णव सम्प्रदाय में दोनों में अन्तर माना जाता है। कृष्णदास कविराज ने 'चैतन्य चरितामृत' में लौकिक प्रेम 'काम' की निन्दा की है और 'दिव्य प्रेम' की प्रशंसा की है। सहजिया वैष्णव, प्रेम को काम ही का विकसित रूप मानते हैं, अतः वह भी आदृत है। सहजिया वैष्णव, मनुष्य के अतिरिक्त किसी देवता को नहीं मानते, मनुष्य स्वयं कृष्ण का 'रूप' है।

इस सहजिया साधना के लिये 'सामान्य' जन अयोग्य हैं, अतः इस पन्थ में कठोर अनुशासन की आवश्यकता बतलाई है। 'काया-साधना' का यहाँ भी महत्व है। पिण्ड में ब्रह्माण्ड की कल्पना, चण्डीदास में भी है। प्रेमी व प्रेमिका की संयोगावस्था बौद्धों की सहजावस्था से मिलती-जुलती ही है। इस स्थिति का वर्णन भी सिद्धों की तरह प्रतीकात्मक शैली पर है। चण्डीदास कहते हैं 'हे रामी धोबिन, मैं तेरे चरणों को ही शीतल शरण मानता हूँ अतः मैंने वह शरण प्राप्त कर ली है, तू मेरे लिए वेदों का

रहस्य खोलने वाली है। तू मुझ 'शिव' के लिए शक्ति के समान है। तेरा शरीर राधा का शरीर है। इसमें काम वासना कहाँ है ?'

सिद्धों के सहज-यान तथा हिन्दुओं के शैव तन्त्रों की शिव शक्ति कल्पना ने किस प्रकार वैष्णव-सहजयान को प्रभावित किया यह हम देख चुके। राधा-कृष्ण का, प्रेम-देवता के रूप में विकास भी हमने देखा कि किस प्रकार यह शिव-शक्ति या प्रज्ञा उपाय का ही वैष्णव रूप था। जयदेव, चण्डीदास तथा विद्यापति की राधाकृष्ण सम्बन्धी प्रेम-लीला को समझने के लिए इस वैष्णव सहजिया मत का अध्ययन अति आवश्यक है। परन्तु चण्डीदास ने जिस प्रकार रामा धोबिन सम्बन्धी पदों में सहजयान को अपनाया है, उसी प्रकार विद्यापति या जयदेव ने अभ्यास नहीं किया था। अतः इन दोनों कवियों में तथा चण्डीदास के भी विशुद्ध वैष्णव पदों में (Standard Vaisnavism) राधा-कृष्ण की प्रेमलीला का गान सखी रूप में किया गया है। वहाँ अश्लीलता तो है, और खूब है परन्तु सहजिया शब्दावली तथा प्रतीकात्मक भाषा नहीं है जिसका एक उदाहरण हमने ऊपर दिया है। परन्तु जयदेव और चण्डीदास की भक्ति भावना पर तान्त्रिक प्रभाव पर्याप्त था जैसा कि सिद्ध किया जा चुका है।* जिसे हम स्टैण्डर्ड वैष्णव मत कहते हैं उसका आधार रहा है श्रीमद्भागवत पुराण। किन्तु उक्त पुराण में राधा का नाम नहीं मिलता। यह कल्पना व्यर्थ है कि वहाँ कृष्ण एक गोपी विशेष से प्रेम करते दिखाये गये हैं अतः वही गोपी आगे 'राधा' के रूप में विकसित हो गई होगी। वस्तु-स्थिति यह है कि राधा का विकास 'शक्ति' की कल्पना में निहित है जैसा हमने ऊपर देखा है। सहजयानियों शैव तथा शाक्त तान्त्रिकों के प्रभाव से 'राधा' को कृष्ण के साथ स्थापित कर दिया गया। राधा का सर्वप्रथम विस्तृत वर्णन जयदेव के गीत-गोविन्द में मिलता है। यों प्राकृत भाषा में उनका मूल खोजा जा सकता है, किन्तु सर्वप्रथम विस्तृत और मान्य रूप 'गीत गोविन्द' में ही दिखाई पड़ता है। गीत गोविन्द की इस परम्परा के पीछे तो तान्त्रिक प्रभाव था जबकि भागवत में गोपी-कृष्ण विहार उच्च वैष्णव साधना में प्रचलित था। अतः भागवत की परम्परा वैष्णवीय परम्परा है और गीत गोविन्द की परम्परा सहजयान से प्रभा-

---

* देखिए Obscure religious cults शशीभूषण दासगुप्ता अध्याय ५

वित परम्परा है। पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी उक्त परम्पराओं को अलग अलग माना है पर क्यों इस पर प्रकाश नहीं डाला और न विकास बतलाया है। आगे चल कर गीतगोविन्द की परम्परा तथा भागवत की परम्परायें 'सूरदास' में मिलकर एक हो गई हैं, जहाँ राधा व गोपियाँ दोनों विद्यमान हैं। चण्डीदास व विद्यापति बीच की स्थिति में हैं जिन में स्टैण्डर्ड वैष्णवमत तथा सहजयान का मिश्रण स्पष्ट दिखाई पड़ता है। सहजयानी प्रवृत्ति के कारण शृङ्गार में वह पवित्रता नहीं रह गई जो सूरदास में मिलती है। इसीलिये पूछा जाता है कि विद्यापति भक्त कवि हैं या शृङ्गारी कवि? हमने जैसा कहा उसके उत्तर के लिये सहजयानी व वैष्णव परम्पराओं को समझने का प्रयत्न करना चाहिये। (देखिये मध्यकालीन धर्मसाधना, पृष्ठ १३५)

शाक्त-मत

विकास—सिन्धु-घाटी की सभ्यता में शक्ति उपासना प्रचलित थी। यह शाक्त मत की प्राचीनता का ऐतिहासिक आधार है।* इसके अतिरिक्त भारत ही नहीं अनेक देशों में शक्ति की उपासना के सूत्र मिलते हैं।

श्रुति-स्मृति, और धार्मिक इतिहास की दृष्टि से देखें तो गृह्य-सूत्रों तक शक्ति-पूजा का प्रचार नहीं दिखाई पड़ता। महाभारत के समय में दुर्गा-पूजा अवश्य प्रचलित दिखाई पड़ती है। हरिवंश पुराण के अनुसार वह महिषासुर-नाशिनी है, सुरा और मांस की भक्षिका है, वह यशोदा की पुत्री होकर अवतरित हुई जिसे कंस ने पत्थर पर पटक कर मार डाला था। वह वासुदेव की बहिन है और विन्ध्याचल उसका निवास-स्थान है।

रुद्र की तरह शक्ति की उपासना भी आर्येतर उपासना प्रतीत होती है। शवर, पुलिन्द आदि निम्न-जातियाँ इसे पूजती थीं।

किन्तु पुराणों में उसे सम्पूर्ण देवों की अधिष्ठात्री देवी स्वीकार कर लिया गया। शिव, विष्णु, ब्रह्मा उसी के अंश हैं। एक बार शुम्भ-निशुम्भ से पीड़ित देव हिमालय पर पार्वती के पास गये। वे गङ्गा में स्नान करने आ रही थीं। शिव के संकेत से पार्वती के शरीर से 'अम्बिका' उत्पन्न हुईं, अतः उनका शरीर काला पड़ गया। तब से वे 'कालिका' कहलाईं। शुम्भ, निशुम्भ से लड़ते समय क्रोध से पार्वती का मस्तक भी काला हो गया। नरमुण्डों की माला धारण करने से चामुण्डा बनीं।

पुराणों व महाभारत के पूर्व भी 'शक्ति' का अस्तित्व माना गया है। ऋग्वेद के आठवें मण्डल के अन्तिम सूक्त में सरस्वती की स्तुति है। यजुर्वेद में सरस्वती को आहुति दी गई है। अथर्वशीर्ष, देवीसूक्त, तथा

---

* प्रो० दीक्षतार Some aspects of वायुपुराण तथा हिन्दुत्व रामदास गौड़

'श्री सूक्त' देवी के ही स्तवन हैं। इनमें 'देवीसूक्त' में देवी स्वयं अपनी महिमा का वर्णन करती है। वहाँ वह साम की अधिकारिणी, धन-दात्री, शत्रु-नाशिनी, सृष्टि-नियामिका कही गई है। देवताओं से उसका महत्त्व अधिक बताया गया है—

अहं रुद्राय धनुरा तनोमि
ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ
अहं जनाय, समदं कृणोम्यहं,
द्यावा पृथ्वी आ विवेश

मैं रुद्र के धनुष पर प्रत्यञ्चा चढ़ाती हूँ, ताकि शत्रुओं का वध हो। शत्रुओं के साथ संग्राम करती हूँ। मैं स्वर्ग व पृथ्वी में व्याप्त हूँ।

अथर्ववेद में भी "अहं रुद्रेभिः, वसुभिः चरामि" द्वारा 'देवी' की महिमा का वर्णन किया गया है।

'देवी-भागवत' शाक्तों का मुख्य पुराण है। देवी-पुराण तथा मार्कण्डेय-पुराण में भी उसका विस्तार से वर्णन है। रामायण में देवी की स्तुतियाँ हैं।

शाक्तों के अनुसार उपनिषदों में 'देवी' का ही ब्रह्म रूप से वर्णन किया गया है। अस्तु।

शक्ति के सात रूप माने गये हैं—ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, नरसिंही, तथा ऐन्द्री। यही सात शक्तियाँ अनेक रूप धारण करती हैं। यशोदा की पुत्री, भीमा, स्कम्भरी, आदि शक्ति के ही रूप हैं। वस्तुतः विष्णु के अवतारों की तरह ये एक के अनेक रूप नहीं हैं और विष्णु के अवतारों में भी, कर्म, मत्स्य, वराह आदि प्राचीन काल में आर्येतर जातियों के 'टॉटेम' रहे होंगे जिन्हें आर्यों ने ईश्वर का अवतार स्वीकार कर लिया। जो हो, स्कम्भरी आदि अनेक देवियाँ एक के अनेक रूप नहीं हैं बल्कि इनका अपना-अपना अलग विकास हुआ है, कालान्तर में इन्हें एक का अनेक रूप मान लिया गया। हिन्दुओं की यह प्राचीन प्रवृत्ति रही है कि वे अनेक बिखरे तत्त्वों को एकत्र कर उन्हें एक तत्त्व का ही विस्तार मान लेते हैं। इसी प्रवृत्ति ने ऋषभ, बुद्ध, आदि को विष्णु बना दिया और २४ अवतारों को, जिनका अलग-अलग विकास हुआ था, एक ही 'ब्रह्म' का विपुल विस्तार सिद्ध

कर दिया गया। यही प्रवृत्ति यहाँ कार्य करती है। अनेक देवियाँ निम्न जातियों, वन-वासियों, अनार्यों आदि की देवियाँ थीं, पुलिंद व शबर आदि इन्हें पूजते थे। इन्हें तब सुरा व माँस की भेंट मिलती थी। जब 'रुद्र' तथा 'अग्नि' को एक मान लिया गया तो दुर्गा की शक्ति अग्नि की लपट के रूप में दुर्गा का जिह्वा मान ली गई। अग्नि का कराल रूप ही कराली तथा काली का मुख्य कारण था। रुद्र की पत्नी के रूप में अनेक देवियाँ कल्पित कर ली गईं। रुद्र के साथ इनकी पूजा भी चल पड़ी। नागों की प्रसिद्ध देवी 'मनसा' ने किस प्रकार अपनी पूजा के लिये सङ्घर्ष किया और अन्त में शिव के परामर्श से उसकी पूजा एक आर्य राजा द्वारा स्वीकृत हुई इससे सब परिचित हैं। देवी-पूजा में भी 'भय' तथा सांसारिक लाभ की वृत्ति ही मुख्य थी। 'शत्रु नाश' रोग-नाश आदि के लिए आज भी देवी के यज्ञ होते हैं।

ऊपर वैष्णवी, वाराही, नरसिंही आदि देवियों की कल्पना अवतारों की पत्नियों के रूप में हुई। आगे ब्राह्मणों ने कात्यायिनी, कौशिकी आदि देवियाँ और कल्पित कीं। शक्ति के भयङ्कर रूप की कल्पना में कापालिक व कालामुख भी कटिबद्ध हो गये। पशु बलि होने लगी। देवी का यह प्रथम रूप था।

दूसरा रूप पवित्र रहा इसमें नियामक शक्ति के रूप में देवी की पूजा होती थी, इसमें यज्ञ, पूजादि का विधान था पर 'वामाचार' न था। प्रार्थना व भक्ति ही प्रधान थी।

देवी उपासना का तीसरा रूप काम वासना को लेकर चला। इसमें वाममार्ग था। इसमें 'शक्ति' को लेकर (किसी स्त्री को लेकर) उपासना होती थी जैसे कि बौद्ध सिद्धों में 'योगिनी' को लेकर साधनायें होती थीं। तन्त्रों में देवी आनन्द भैरवी, त्रिपुर सुन्दरी तथा ललिता का विकास हुआ। त्रिपुर सुन्दरी के स्थान की मनोरम कल्पनायें चल पड़ीं। यह शैय्या पर—शिव की जङ्घाओं पर—शयन करती है। 'महासेन' इसकी चादर तथा सदा-शिव इसका तकिया है। शैय्या के चारों पैर ब्रह्मा, रुद्र, ब्रह्मा तथा ईश्वर के रूप धारी हैं। इस प्रकार तन्त्रों में देवी को सर्वोच्च स्थान मिल गया। देवी के साथ महा-भैरव की उपासना भी होती है। महाभैरव ६ वस्तुओं की समष्टि का

नाम है। काल, काल-व्यूह, नाम-व्यूह, ज्ञान-व्यूह आदि ही भैरव के अवयव हैं। महाभैरव देवी की आत्मा है, दोनों एक हैं। जब दोनों समरसता (Intense love) की अवस्था में रहते हैं, तभी सृष्टि होती है। इस कल्पना ने तान्त्रिक शाक्तों में योनि पूजा प्रचलित करदी। किसी लौकिक 'सुन्दरी' को लेकर उसकी विविध क्रियाओं से योनि पूजा कर उसमें 'त्रिपुर सुन्दरी' की कल्पना कर ली गई। कापालिक और कौल इसमें भी शैव कापालिकों की भाँति भाग लेते हैं।

शाक्त-दर्शन—यह शाक्त तन्त्रों या आगमों में वर्णित है। शाक्तों ने देश का भौगोलिक विभाजन किया है। विन्ध्याचल से चटगाँव तक का प्रदेश 'विष्णु क्रान्ता' कहलाता है, 'रथक्रान्ता' विन्ध्याचल से तिब्बत तक, 'अश्वक्रान्ता' दक्षिणी भारत तथा जावा आदि द्वीपों तक।

इन तीनों क्रान्ताओं में शाक्तों के अनुसार ६४ तन्त्र प्रचलित थे। इनके तीन केन्द्र हैं, काश्मीर, काञ्ची तथा कामाख्या। इनमें 'कामाख्या' को कौल मत का गढ़ माना जाता है।

कुछ शाक्त-उपनिषदें भी हैं यथा कौल, भावना, अरुण, अद्वैत-भावना, कालिका, तारा, त्रिपुर आदि।

शाक्तों में दो मत प्रधान हैं श्रीविद्या तथा कौल। श्रीविद्या के आचार्यों में दत्तात्रेय, अगस्त्य, दुर्वासा, गौड़पाद, तथा शङ्कर प्रसिद्ध हैं। सौन्दर्य लहरी, कामकलाविलास आदि अनेक उच्चकोटि के ग्रन्थ इस सम्प्रदाय की सम्पत्ति माने जाते हैं।

शाक्त अद्वैतवादी हैं परन्तु वे विवर्तवादी न होकर 'परिणाम-वादी' हैं अतः इसे शक्ति-विशिष्टाद्वैत मत भी कह देते हैं। सृष्टि का मूलतत्त्व 'अजा' या आद्या शक्ति है जो अनन्त और अव्यक्त है। शाक्त अपने दार्शनिक ग्रन्थों को इसीलिये 'आगम' कहते हैं क्योंकि उनमें 'अज्ञेय' शक्ति का आगमन होता है। यह परम तत्त्व शिव है। ब्रह्मा सृष्टि की अभिवृद्धि नहीं कर पाते थे तब उन्होंने 'शक्ति' से प्रार्थना की। शक्ति ने विमर्श या स्फूर्ति बनकर 'विन्दु' का रूप धारण किया। शिव ने प्रकाश या तेजस के रूप में उसके भीतर प्रवेश किया। जब शक्ति ने शिव में प्रवेश किया। दो विन्दु की वृद्धि होने से 'नाद' नामक स्त्री तत्त्व उत्पन्न हुआ। ये दोनों नाद तथा विन्दु मिलकर एक होगये,

इसीलिये इनको ऐक्यावस्था 'अर्ध नारीश्वर' अवस्था कहलाई। यह 'संयुक्त विन्दु' भी कहलाता है। यही स्त्री व पुरुष के बीच आकर्षण या आसक्ति का कारण बनता है, अतः यह 'काम' कहलाया।

दो विन्दु और होते हैं (१) श्वेतबिन्दु पुरुष होता है (२) रक्त-बिन्दु स्त्री। दोनों मिलकर 'कला' की उत्पत्ति करते हैं। इस प्रकार संयुक्तबिन्दु+रक्तबिन्दु+श्वेतबिन्दु तीनों मिलकर 'काम-कला' को जन्म देते हैं। ये चारों तत्त्व मिलकर वास्तविक सृष्टि को उत्पन्न करते हैं। 'काम-कला' को सृष्टि की नियामिका शक्ति माना गया है। इस प्रसङ्ग में संयुक्तबिन्दु सूर्य को देवी का वदन तथा अग्नि व चन्द्रमा को उनका वक्षस्थल कहा गया है।

अर्धकला को 'योनि' कहा गया है। इस प्रकार सृष्टि की प्रजननन क्रिया स्पष्ट की गई है।

शक्ति ही मुख्य है जो परा, ललिता, भट्टारिका तथा त्रिपुर-सुन्दरी कहलाती है। शिव 'अ' है और शक्ति 'ह'। ह = अर्धकला या गर्भ है। 'ह' अर्धकला में 'अ' (शिव) का संयोग होने से 'कामकला' या त्रिपुरसुन्दरी पूर्ण होती है। अर्थात् 'कामकला' शिव व शक्ति से मिलकर बनती है। यह 'कामकला' अहम् कहलाती है, अतः उससे विकसित सृष्टि भी अहम् = अहङ्कार से पूर्ण होती है। जब लोग काम-कला-विलास का अध्ययन करते हैं और योग का अभ्यास करते हैं अर्थात् जब 'अ' से 'ह' तक का (सब अक्षरों का या पूर्ण ज्ञान का) परिचय प्राप्त हो जाता है तब अहम् में मुक्ति मिलती है। जिस प्रकार अ से ह के बीच में सारे अक्षर आ जाते हैं, उसी प्रकार 'कामकला' के द्वारा सारी सृष्टि बनती है। इसलिये वह 'परा' है, सृष्टि परिणाम है, विवर्त या माया नहीं।

इस दर्शन में स्त्री तत्त्व की प्रमुखता है, यद्यपि नर तत्त्व (शिव) ग्रहण किया गया है पर साधन रूप में ही, मुख्य तो शक्ति ही है। अतः इस शक्ति = त्रिपुर सुन्दरी की पहचान अवश्य होनी चाहिए। सम्प्रदाय के एक सिद्धान्त विशेष के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपने को त्रिपुर सुन्दरी ही मानना चाहिए, चूँकि नियामक तत्त्व स्त्री है अतः सब स्त्री हैं। पाठक देख चुके हैं कि चैतन्य अपने को राधा मानते

थे, सखीभाव की उपासना में तो प्रत्येक व्यक्ति स्त्री ही है, पुरुष कोई नहीं। इसीलिये वैष्णवीय राधा-कृष्ण की भक्ति पर शाक्तों का प्रभाव माना जाता है।

साधकों के लिये दीक्षा दी जाती है। प्रथम सोपान में साधक को शिव के अङ्क में शयित देवी का ध्यान करना चाहिये जो कि महा-पद्म वन में विहार कर रही है। यही आत्मा है।

द्वितीय सोपान जो कि शाक्त-साधना में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है, चक्र-पूजा का है।

तृतीय सोपान में शाक्त सिद्धान्तों का मनन तथा तदनुसार अनुभूति की प्राप्ति है।

चक्रपूजा को शाक्तों ने अधिक महत्व दिया है—इसका प्रार-म्भिक रूप चक्रों की चित्र-पूजा है। एक भोजपत्र या स्वर्णपत्र के केन्द्र में स्त्री की योनि का चित्र बना रहता है उसके आस-पास ६ और चित्र रहते हैं। शाक्त दो प्रकार के हैं—(१) कौल, (२) सामयिन। इनमें कौल स्थूल चित्रादिकों की पूजा करते हैं, द्वितीय भावात्मक पूजा करते हैं।

प्रारम्भिक कौल केवल चित्र-पूजा करते थे, उत्तर कौल तो किसी सुन्दरी स्त्री को सुरा, मांस, मधु, मत्स्यादि का सेवन कराते हैं तथा स्वयं करते हैं, 'सामयिन' इन क्रियाओं से घृणा करते हैं। ब्राह्मण भी कौल सम्प्रदाय की दीक्षा लेते थे। भैरवी-चक्र की पूजा में एक विचित्र रीति प्रचलित थी। चक्र-पूजा के समय छोटी-बड़ी सब जातियों के लोग 'ब्राह्मण' मान लिये जाते थे परन्तु पूजा समाप्त होने के बाद फिर अपनी जातियों के हो जाते थे। चमार पूजा के पहले व बाद में चमार रहता था किन्तु पूजा के समय वह 'ब्राह्मण' मान लिया जाता था।

शाक्तमत का अभी बहुत सा साहित्य अप्रकाशित है। पर इतने विवेचन से ही स्पष्ट है कि इसकी गुह्य-साधना का रूप कैसा था। समाज के कड़े अनुशासन से विद्रोह कर वर्ण, जाति, यौन सम्बन्ध पर-तन्त्रता, भोजन-पवित्रता के सिद्धान्तों के विरुद्ध शाक्त-वामाचार एक विद्रोह के रूप में विकसित हुआ परन्तु इसमें व्यभिचार की भावना अधिक

थी, क्योंकि बौद्ध सिद्धों ने ब्राह्मणवादी, आचार प्रधान समाज की जैसी स्वस्थ और कड़ी आलोचना की है वैसी शाक्तों के यहाँ नहीं मिलती है, चक्र-पूजा-स्तवन अवश्य अधिक मिलता है। परन्तु यह चक्रपूजा इतनी अधिक आकर्षक बन गई थी कि ब्राह्मण भी इसमें भाग लेते थे। ब्राह्मणों के द्वारा की गई अवतारों की कल्पनाओं पर शाक्तों की 'शक्ति' का प्रभाव बहुत अधिक पड़ा।

प्राय: पुरुष अवतार के साथ साथ 'शक्ति' की उद्भावना आवश्यक मानी गई। गीता में पुरुष के साथ प्रकृति के संयोग का वर्णन है—"तस्मिनगर्भं दधाम्यहम्" से प्रकृति के गर्भ में पुरुष (ब्रह्म) द्वारा वीर्य-स्थापना पर सम्भवत: 'शाक्त' प्रभाव रहा होगा।

पुराणों में तो विष्णु के सारे अवतार युगल रूपों में ही पूजित हैं, प्रत्येक अवतार की शक्तियों की उपासना भी अलग-अलग होने लगी यथा 'नारायण' के साथ 'लक्ष्मी' की पूजा अलग भी होती है (महालक्ष्मी पर्व) सूर्य के साथ सावित्री, गणेश के साथ अम्बिका की पूजा चल पड़ी। सीताराम, राधाकृष्ण पर निश्चित रूप से इसी शाक्त-मत का प्रबल प्रभाव है। विशेषकर राधा व कृष्ण की रति का इतना खुल कर वर्णन जयदेव व विद्यापति पर शाक्त प्रभाव को ही सूचित करता है क्योंकि सौन्दर्य-लहरी जैसे ग्रन्थों में 'देवी' का सौन्दर्य अद्भुत कवित्व-कला के साथ वर्णित हुआ है। 'राधा' को प्रमुखता शायद शाक्त-प्रभाव के द्वारा ही मिली। बङ्गाल में 'काली' के साथ, राधा-भाव रखने वाले चैतन्य तथा सखी भाव रखने वाले अनेक भक्तों पर यही प्रभाव रहा होगा। स्वयं राधा-कृष्ण के आदि वैष्णव प्रवर्तक निम्बार्क ने शाक्त मतों से प्रभावित होकर 'राधा' को कृष्ण के साथ दार्शनिक रूप दे दिया था। "उस समय की ही यह युक्ति है कि द्विज-मात्र जो वेद माता गायत्री की संध्योपासना करते हैं वे शाक्त हैं"... ऐसा प्रतीत होता है कि प्रथम शताब्दी के आस-पास से शाक्त मत प्रबल होता गया और इसने एक ओर तो बौद्धों के तान्त्रिक मत पर प्रभाव डाला तथा दूसरी ओर शैव, वैष्णव, गणेशमत तथा सौर मतो को प्रभावित किया। शङ्कराचार्य के समय शाक्त वामाचार अपने चरम उत्कर्ष पर था। शैव व शाक्त कौल-कपालिकों की लम्बी जमातें व्यभिचार के लिये चक्र-पूजा के बहाने मिलती थीं। यहाँ किसी प्रकार का कोई बन्धन

न था, गृहस्थों में भी अनेक देवियों के पूजा-विधान पर वाममार्ग का प्रभाव अवशेष है। इन्हीं बौद्ध-शाक्त, शैव कापालिकों ने वैदिक आचार के विरुद्ध विद्रोह किया था। ये समता के उपदेशक थे परन्तु वह 'समता' किस धरातल पर पहुँचने पर प्राप्त होती थी, जनता इसे जानती थी अतः समाज में सन्तुलन लाने के लिये वर्णाश्रमवादी होने पर भी उदार दृष्टि रखने वाले वैष्णवों के साथ जनता कीर्तन, प्रार्थना मन्दिर पूजा हरि-सेवा के पथ पर चल पड़ी। स्वयं शैवमार्गी 'नाथों' ने जो बौद्ध दर्शन से भी प्रभावित थे, यदि वाममार्गियों का आचार माँस-मदिरा और मैथुन था तो हठयोगियों का आदर्श कठोर यौगिक साधना थी जिसमें शरीर को पीड़ा देने के विविध ढङ्ग प्रचलित थे, नाना चक्रों व नाड़ियों के साधन के विधान थे, साथ ही ईश्वर का रूप निर्विकार—अलख निरञ्जन था। योग के चमत्कारों से जनता प्रभावित होकर नाथों का आदर तो करती थी, इनका साथ देने वाले गोपी, भर्तृहरि जैसे वैरागी राजा भी मिल जाते थे, देश पर इनकी धाक भी बैठ चुकी थी परन्तु इनके पास जनता के हृदय को रमाने की औषधि न थी। इतनी कठिन साधना जनता के योग्य न थी। तभी तो भक्तों ने ज्ञान से भी अधिक 'जोग' का विरोध किया। 'वैष्णवों' ने धर्म के सरलीकरण की पद्धति अपना ली थी। उसके आराध्य, उसकी पूजा विधियाँ, उसकी समन्वयात्मक प्रवृत्ति ने जनता के हृदय को जीत लिया। देश, हठयोग, मायावाद, वाम-मार्ग, सहज-साधना के मार्ग पर न चलकर वैष्णव अवतारों की उपासना को लेकर चला। दक्षिण, उत्तर, गुजरात, बङ्गाल, पञ्जाब सब में मध्यकाल में भक्ति की अटूट धारा बह निकली। निर्गुण ईश्वरोपासक भी इसलिये सफल हो पाये क्योंकि वे भक्त थे। घोर व्यक्तिवादी चिंतन तथा साधन पद्धतियों के कारण विद्रोही होने पर भी सिद्धों, नाथों के सम्प्रदायों की आधार भूमि उनके पैरों से खिसक गई और उदार मानवतावादी (liberals) वैष्णव आचार्यों की विजय हुई यद्यपि वे कर्म, वर्ण, वेद, शास्त्र के समर्थक बने रहे।

शैव-मत

विकास—वैदिक ऋषि प्रकृति के कोमल और भयङ्कर दोनों रूप देखते थे, वे एक ओर तो उषा नागरी के पीछे प्रधावित प्रेमी सविता का दर्शन करते थे तो दूसरी ओर 'मरुत' का प्रचण्ड वेग भी उनकी चित्त-वृत्तियों में भय का संचार करता था, मरुत वृक्ष तोड़ता था, घर गिरा देता, वज्रपात करता, मनुष्य, पशु, पक्षियों को आपत्ति में डाल देता, रोग फैलाता तथा अनेक वस्तुओं को उड़ा ले जाता था। जब आकाश की छाती पर 'मरुत' वेगपूर्ण गति से भीषण शब्द करता तो ऋषि 'मरुत' में एक भयङ्कर देवता की कल्पना करने लगे। उन्होंने 'मरुत' को रुद्र का पुत्र बताया। रुद्र और भी भयङ्कर होगा। परन्तु यदि देवता सदा भीषण रूप ही धारण किये रहते तो साधक की आशा नष्ट हो जाती। अतः उसी देवता में भीषणता के साथ दया की भी कल्पना हुई। रुद्र शिव मान लिये गये। यह रुद्र व शिव की उत्पत्ति के पीछे मनोवैज्ञानिक कारण रहा होगा।

रुद्र का *वर्णन*—ऋग्वेद ७, ४६, ३ में मिलता है। वह ऐसे बाण फेंकता है जिससे पशु व मनुष्यों का नाश हो सकता है। पशुओं की रक्षा व विनाश करने के कारण रुद्र का नाम 'पशुपति' पड़ा, जैसे पशुओं की रक्षा के कारण 'सूर्य' का नाम 'पूषन्' पड़ा था।* पूषा गा अन्वेतु नः, पूषा रक्षत्वर्वतः, पूषा वाजं सनोतुनः। अर्थात् हे पूषन्! तुम हमारे देव हो, हमारी गायों की रक्षा के लिये उनके पीछे जाओ। पूषन् चोरों से घोड़ों की रक्षा करता है तथा हमें वह अन्न देता है। इसी प्रकार 'पशुपति' की कल्पना बहुत प्राचीन है। यजुर्वेद के 'शत रुद्रीय' अध्याय में शिव का वर्णन है। वहाँ उसे गिरीश, गिरित्र,

---

* देखिए ऋग्वेद म० ६, सूक्त ५४

औषधिपति कहा गया है। वह अग्नि से सम्बन्धित होने के कारण 'कपर्दी' कहा गया है और 'अग्नि तथा मरुत' की प्रार्थनायें वेदों में मिलती ही हैं। × इस प्रकार मरुत, अग्नि व रुद्र का पारिवारिक सम्बन्ध स्थापित हो गया। 'रुद्र' की सहज प्रसन्न होने तथा कल्याण करने की वृत्ति के कारण उसे शर्व, शिव नाम प्राप्त हो गये। कुछ विद्वान यह मानते हैं कि वेदों में जिस रुद्र का नाम आया है उसका आदि निवासियों के 'देवता' के साथ मिश्रण हो गया:—

"Vedic Rudra is amalgamated an aboriginal God of vegetation, closely connected with pastoral life." —Cambridge History Volu—I

रुद्र अनेक हैं उन्हें 'गण' भी कहते हैं। 'गण' का अर्थ है कबीला। (Tribe) ऐसा प्रतीत होता है कि शिव आर्येतर जातियों के पूज्य देवता थे इसीलिए वे गणपति कहलाये। गणों में कुम्हार, रथकार, बढ़ई, लोहार, निषाद आदि कमकर थे। इन्हीं लोगों के आराध्य थे 'गणपति रुद्र' जिन्हें बाद में आर्यों ने स्वीकार कर लिया। प्रमाण यह है कि शिव वस्ती से दूर जङ्गलों, पहाड़ों आदि में रहने वाले देवता हैं।

धीरे-धीरे 'शिव' के रूप में आर्यों ने अपनी उर्वर कल्पना से उन्हें उच्च स्तर पर बैठाया, शर्व व शिव भी अलग-अलग देवता थे जो 'रुद्र' के साथ जोड़ दिये गए। भव तथा शिव पापियों के नाशक माने गये। भूतपति व पशुपति स्पष्ट उन्हें अनार्य देवता प्रमाणित करते हैं।* वेदों में ब्रह्मा द्वारा रुद्र को उषा का पुत्र कहलवाया गया, उन्हें सात नाम दिये गये। शर्व, उग्र, अशनि, रुद्र नाशक रूपों के प्रतीक हैं और भव, पशुपति, महादेव, तथा ईश कल्याण के। यजुर्वेद में क्षत्रियों द्वारा शिव का भीषण रूप पूजित था। गृह्य-सूत्रों में शिव की पूजा के लिये वस्ती के बाहर का स्थान बताया गया है जहाँ बैल या साँड़ की बलि देने का विधान निश्चित किया गया है। शक्तियों के नाम हैं इन्द्राणी, रुद्राणी, शर्वाणी

× ऋग्वेद सूक्त ४६, म० १

* अथर्ववेद में 'पाशुपति' कह कर शिव को पुकारा गया है—देखिये Religious sects in India among Hindus.

तथा भवानी। तात्पर्य यह कि सूत्र-काल तक रुद्र एक भयङ्कर देवता बना रहा, यद्यपि उनका कल्याणकर रूप भी स्पष्ट हो रहा था। भय की वृत्ति के कारण ही 'रुद्र' के पूजकों में आगे 'कापालिक' जैसे सम्प्रदाय बन गये।

श्वेताश्वेतर उपनिषद् के तृतीय अध्याय में रुद्र का दार्शनिक धार्मिक रूप आया, रुद्र का यहाँ अद्वैत-ब्रह्म के समान वर्णन है—

'एकोहि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थु-र्य इमांल्लोकानीशतईशी-नाभिः' रुद्र एक है, अतः ब्रह्मविद् उससे भिन्न किसी अन्य की अपेक्षा नहीं करते। वह शक्तियों से इस लोक का शासन करता है।

या ते रुद्र शिवा तनूरघोराऽपापकाशिनी।
तया नस्तनुवा शन्तमया गिरिशन्ताभिचाकशीहि॥

हे रुद्र! तुम्हारी जो मङ्गलमयी, शान्त और पुण्य प्रकाशिनी मूर्ति है, हे गिरिशन्त! उस पूर्णानन्दमयी के द्वारा तुम हमारी ओर देखो।

यामिषुं गिरिशन्त हस्ते बिभर्ष्यस्तवे।
शिवां गिरित्र तां कुरु मा हिंसीः पुरुषं जगत्।

हे गिरि पर निवास करने वाले, जीवों की ओर फेंकने के लिये तुम अपने हाथ में जो बाण धारण करते हो, हे गिरित्र उसे मङ्गलमय करो, किसी जीव या जगत की हिंसा मत करो।

यहाँ, शङ्कर को गिरित्र, गिरिशन्त कहा गया है, (कैलाशवासी होने की कल्पना) उनकी मूर्त्ति को कल्याणमयी कहा गया है (शिवा) तथा हिंसा न करने की प्रार्थना की गई है (रुद्ररूप)। किन्तु उपनिषद् में वर्णित शिव वस्तुतः शैव सम्प्रदाय की वस्तु न बन पाई थी। रुद्र का अर्थ सामान्यतः 'ब्रह्म' है। परन्तु उपनिषद् में सम्प्रदाय के विकास के लिये उपर्युक्त तत्त्व स्पष्ट हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद्, गीता व भागवत के पूर्व बन चुकी थी। जैसे वैष्णवों के लिये गीता व भागवत प्रेरणा के स्रोत हैं वैसे ही शैवों के लिये श्वेताश्वतर उपनिषद्। वासुदेव के पहले ही से 'रुद्र' या उसका अबतक कोई प्रतिद्वन्दी न था परन्तु वासुदेव के आते ही विष्णु-उपासना ने शिव के महत्त्व को कम कर दिया क्योंकि वैष्णवधर्म मूलतः प्रेम पर आधारित था और शैवमत-

भय पर। पाशुपत मत उक्त उपनिषद् के आधार पर बना होगा तथा पतञ्जलि के पूर्वतक यह पूर्णरूप से सङ्गठित हो चुका था। (१५० B C).

उमा-हेमवती—'केन' में 'उमा' शब्द आया है। एक बार इन्द्र, मरुत तथा अग्नि ने एक 'शक्ति' के दर्शन किये पर उसने देवों की परीक्षा ली। उसके द्वारा दिये गये 'तृण' को न अग्नि जला सकी, न मरुत उड़ा सका। इन्द्र के आते ही शक्ति छिप गई। उमा हेमवती उसी स्थान पर दिखाई पड़ी। पूछने पर पता चला कि वह शक्ति 'ब्रह्म' थी। स्पष्ट है कि यह कहानी देवताओं के महत्त्व को कम करके ब्रह्म की सर्वोच्चशक्ति की ओर संकेत करती है।

अथर्वशिरा उपनिषद् बहुत पीछे की उपनिषद् है। इसमें अखण्ड रुद्र-महिमा वर्णित है। विष्णु, माहेश्वर, उमा, स्कन्द, विनायक सब उपस्थित हैं। रुद्र को यहाँ भगवत् भी कहा गया है। कहा गया है कि 'पाशुपत' भक्त को मन्त्र के साथ शरीर पर राख मलना चाहिये। पाशुपत सम्प्रदाय में यह बात स्वीकार करली गई।

महाभारत के पहले तक 'रुद्र' का इतना विकास हो चुका था। अब तक वह प्रायः विकार-रहित था, कम से कम आर्यों के कबीलों में।

लिंगपूजा—शैवमत में लिङ्ग व नागपूजा भी आर्येतर जातियों से आई। ऋग्वेद में इन्द्र शिश्न-पूजकों पर क्रोधित दिखाये गये हैं (ऋग्वेद, २४, ५) शिश्नपूजकों के शहर इन्द्र ने उजाड़ डाले थे। Nor there much doubt that they are the phallus worshipers, who twice are reffered to with disapproval in the Rigveda, for, phallus worship was probably the pre-historic age in India and by the time of Mahabharat, it had won its way into the orthodox Hindu cult. अर्थात् यह निश्चित् है कि ये (दास, अनार्यादि) लिङ्गपूजक थे, जिनकी ऋग्वेद में घृणात्मक रूप से दो बार चर्चा आई है। सम्भवतः लिङ्गपूजा प्रागैतिहासिक काल में प्रचलित थी जो कालान्तर में, महाभारत के समय में संस्कार-प्रधान ब्राह्मण-धर्म में प्रवेश पा गई थी। (कैम्ब्रिज इतिहास पुस्तक प्रथम)

पतञ्जलि के समय तक शिश्न-पूजा का विशेष प्रचार न था।

यद्यपि वह आर्येतर कबीलों में बहुमान्य थी। विश्व के अनेक देशों में लिङ्गपूजा मिलती है, स्वयं 'मक्के' में एक शिवलिङ्ग बताया जाता है। मिश्र, यूनान, इटली, फ्रांस, अमेरिका, अफ्रीका, पालेनेशिया द्वीपों में लिङ्गपूजा प्रचलित थी (हिन्दुत्व) और शिवोपासना भी। श्याम, यवद्वीप आदि में भी शैवमत के अवशिष्ट चिह्न मिले हैं। भारत में 'वासुदेव' के धर्म-क्षेत्र में आने के पूर्व अर्थात् गीता भागवत से पूर्व 'शिव' बहुमान्य थे।

महाभारत में पाशुपत मत का उल्लेख है। वायु-पुराण में कृष्ण का 'लकुली' बताया गया है। कौशिक, गर्ग मित्र आदि इस सम्प्रदाय को मानते थे।

'सर्व दर्शन संग्रह' में 'नकुलीश पाशुपत' नाम पाया है। उदयपुर के पास एक मन्दिर में शिव मनुष्य के रूप में लकड़ी के साथ स्थापित है। इससे स्पष्ट है कि राख मलने वाले, लकुटि हाथ में रखने वालों ने 'पाशुपत मत' चलाया। यह नकुलीश सम्प्रदाय शैवों के लिए उतना ही महत्त्व रखता है जितना वैष्णवों के लिये पाँचरात्र मत। कुछ विद्वान नकुलीश सम्प्रदाय को परवर्ती मानते हैं। पर डा० भाण्डारकर पाशुपत मत का किसी लकड़ीधारी व्यक्ति को प्रवर्तक ठहराते हैं। निश्चित रूप से पाशुपत मत प्राचीन है। लकुलीश सम्प्रदाय ईसा के बाद अस्तित्व में आया। श्वेताश्वतर—महाभारत—पतञ्जलि यह विकास का क्रम माना जा सकता है। In this (श्वेताश्वतर उपनिषद्) may be discerned the germ of the Pasupat sect which came into being in early times before the celebrated grammarian Patanjali about 150 B.C. afterwards recognised by Lakula about the second century A D.

—Religious Sects in India Page 13.

वैशेषिक सूत्रकार प्रशस्तपाद माहेश्वर का भक्त था। कुशन वंश में एक राजा (Wema Kadphises) शैव था (३ शताब्दी A. D.)। ह्वानच्वाङ्ग ने १२ बार पाशुपत मत का उल्लेख किया है। बनारस में १०,००० शैव थे। पुलकेशी के भतीजे ने ६१० ई० में कापाली के

मन्दिर के लिए एक गाँव दिया था। वाण व भवभूति ने शैव कापालिकों का उल्लेख किया है। वैरागी भी थे। चालुक्य व राष्ट्रकूटों ने एलोरा का कैलाश मन्दिर बनवाया। आगमवादियों को शङ्कराचार्य ने 'माहेश्वर' कहा है। 'कालमुख' नाम बाद में आया।[1]

वामन पुराणानुसार शैव मत चार हैं—शैव, पाशुपत, कालदमन या कालमुख तथा कापाली। इनमें कूर्मपुराण पाशुपतों के तीन भाग करता है—(१) वैदिक (२) तान्त्रिक (३) मिश्र।

शैवों के धर्म ग्रन्थ 'आगम' व तन्त्र कहलाते हैं इनकी रचना महाभारत के बाद हुई।

'सर्व दर्शन-संग्रह' में प्रत्यभिज्ञा तथा रसेश्वर सम्प्रदाय और गिनाये गये हैं उसमें 'लकुलीश-पाशुपत' को मिला दिया गया है—(१) शैवदर्शन (२) प्रत्यभिज्ञा दर्शन (३) रसेश्वर दर्शन (४) लकुलीश-पाशुपत-दर्शन।

दक्षिण भारत में प्रचलित शैवमत, वीर शैवमत या लिङ्गायत-सम्प्रदाय कहलाता है।

ईसा की ७वीं शताब्दी में बौद्ध तान्त्रिकों का सम्बन्ध शैव-तान्त्रिकों से जुड़ गया और शैव-तान्त्रिक-गुह्य साधनायें कापालिकों व कालचक्रयान के रूप में साथ ही साथ विकसित होने लगीं। इस समय तक बुद्ध को 'शिव' व गोपा को 'पार्वती' मान लिया गया था। सर्वभूत हित के लिए जिस प्रकार बुद्ध संसार भर में 'बोधिसत्व' के रूप में विचरण किया करते थे उसी प्रकार 'महादेव व पार्वती' भी जीवों का उद्धार करने के लिए यत्र तत्र विचरण करते हुए माने जाने लगे, साथ ही सामान्य लौकिक रति क्रीड़ा को बुद्ध व गोपा तथा महादेव व पार्वती की रति का प्रतीक मान लिया गया। बलिदान देने की प्रथा भी चल पड़ी। शैव तन्त्रों में यक्ष प्रभाव से पहले ही काम पूजा चली आ रही थी। महाभारत में शिव को काम कहा गया है। कालिदास ने शिव व पार्वती की रति का नग्न वर्णन किया है। इसमें वही यक्ष प्रभाव था जो शैव साधनाओं तथा बौद्ध तान्त्रिक साधनाओं में विकसित हुआ था। ईसा की ७वीं शताब्दी तक शैव व बौद्ध

१ देखिए वै० शै०—डा. भांडारकर

तान्त्रिकों में अभेद प्रतीत होने लगा। ७वीं तथा ८वीं शताब्दी में बौद्धमत बड़ी तेजी के साथ शैव व शाक्त सम्प्रदायों में मिलकर विराट् हिन्दू-धर्म का अङ्ग बन गया था। आसाम व बङ्गाल में बौद्ध सिद्ध साधना का विकास हुआ था। आसाम को सिद्धों का देश आज तक समझा जाता है। बङ्गाले का जादू प्रसिद्ध है क्योंकि यहीं सिद्धों के चमत्कार दिखाई पड़ते थे। मन्त्रयानी बौद्धों ने जादू का विस्तार किया था।

सिद्धों की आचार भ्रष्टता तथा नारी उपासना के विरुद्ध शैव-मत में अन्तर्भुक्त होने वाले बौद्ध सम्प्रदाय अपने कुछ अवशेषों के साथ नाथ व सिद्धों के रूप में फूट निकले। ये नारी के घोर निन्दक और घोर संयमी थे। शैव साधना का इन पर स्पष्ट प्रभाव मिलता है परन्तु इनका तत्त्वज्ञान तो अद्वैतवाद का ही एक विकसित रूप है। हम कह आये हैं कि वज्रयान में ही अद्वैत दर्शन मिलने लगता है। इस प्रकार शैव सम्प्रदाय ने तांत्रिक शैव साधना के रूप में बौद्ध साधनाओं को, और वैदिक युग से विकसित होकर आने वाले शैव मत को मिला लिया। इसीलिये एक ओर तो पाशुपत व प्रत्यभिज्ञा दर्शन हमें उप-निषद् के अद्वैत सिद्धान्त पर आधारित मिलते हैं तो दूसरी ओर कापा-लिक दर्शन बौद्धों की वज्र-साधना से मिलता जुलता प्रतीत होता है। भ्रष्ट शैव साधनाओं का सुधार करने तथा संकीर्ण ब्राह्मणवाद का विरोध करने के लिये शैवों में लिङ्गायतों का उद्भव दक्षिणी भारत में हुआ जिसके प्रवर्तक शायद 'वसव' थे।

शैव सम्प्रदाय

शैवसिद्धान्त का मूल आधार है आगम। सामान्यतः आगमों की गणना तन्त्रों में होती है, परन्तु शैव अपने को विभिन्न प्रकार से वैदिक मतावलम्बी ही मानते हैं और वेदों में ही अपना आदि रूप खोजते हैं। वेदों में हम शैवमत का रूप दिखा चुके हैं। आगमों के अतिरिक्त शिव भक्ति का तमिल देश में प्रचार रहा है, वैष्णव आलवार सन्तों की तरह, शैव साधक भी तमिल देश में प्रसिद्ध रहे हैं। ये शिव सम्बन्धी स्तोत्रों के रचयिता थे। इनमें ८४ शैव सन्त प्रसिद्ध हैं। इनका समय सातवीं व आठवीं शताब्दी है, परन्तु प्रथम शताब्दी के भी शैव सन्तों का पता चलता है, यथा सन्त नकीर, सन्त कण्णप्प, (द्वितीय शतक)। सबसे प्राचीन 'तिरु भूलर' था जिसने शैवमत का प्रचार

किया। दक्षिणी भारत के इन शैवों के आगम 'शैवसिद्धान्त' सम्प्रदाय के माने जाते हैं। आगे आचार्यो ने शैवमत का वैसे ही प्रचार किया जैसे वैष्णव 'आचार्यों' ने अलवार साधना। उसे शनैः शनैः शास्त्रीय रूप मिलता गया। शैव मत ने सुन्दर भावपूर्ण कविताओं से दक्षिण भारत को प्रतिध्वनित किया इनमें 'तिस वास-आगम' का लेखक वाशगर (Manikha Vasagar) बहुत प्रसिद्ध हुआ जिसके गीत प्रत्येक शिव मन्दिर में अब भी गाये जाते हैं। डा० जी० यू० पोप इन गीतों पर मुग्ध हो गये थे। यह शैव-धार्मिक काव्य 'शैव सिद्धान्त' सम्प्रदाय की देन थी।

वीर-शैव-मत, लिङ्गायत तथा जङ्गम सम्प्रदाय

दक्षिण के शैवों में 'शैव-सिद्धान्त' मत के सिवा लिङ्गायत मत भी प्रबल रहा है। शैवों में अलिङ्गी तथा लिङ्गी दो प्रकार के शैव होते हैं। जो शिवलिङ्ग धारण करते हैं वे लिङ्गी या लिङ्गायत कहलाते हैं। सिद्धान्त तो दोनों के एक ही हैं परन्तु रहन-सहन में अन्तर है। सामान्य शैव निगमागम के अनुयायी तथा वर्णाश्रम प्रथा को मानते हैं। परन्तु लिङ्गायत शैव वर्णव्यवस्था के घोर शत्रु रहे हैं, यद्यपि इसके प्रवर्तक 'ब्राह्मण' ही थे। कर्नाटक में यह मत प्रचलित है और बहुत प्राचीन मत माना जाता है। 'सिद्धान्त शिखामणि' इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है। आगमों को ये मानते हैं। लिङ्गायत अद्वैतवादी हैं परन्तु शङ्कर व लिङ्गायतों में अन्तर है। शङ्कर का मत निवृत्ति मूलक है, लिङ्गायत मत प्रवृत्ति मूलक है। ये वीरता से जीवन का मुकाबला करते हैं और निष्कामभाव से कर्म करने का उपदेश देते हैं। अतः यह मत 'वीर-शैव-मत' कहलाता है। सिद्धान्ततः इस मत को 'शक्ति विशिष्टाद्वैत' कहते हैं।

'*शक्ति*'—शक्ति का तात्पर्य है शिव में संयुक्त होकर रहने वाला 'विशेषण'। विशिष्ट अद्वैत इसीलिए कहा गया क्योंकि वीर शैवमत भी चित् और अचित् की कल्पना मानता है। अतः शक्ति के दो भेद माने गये हैं, सूक्ष्म चित्-अचित् विशिष्ट शक्ति तथा स्थूल चित्-अचित् विशिष्ट शक्ति। पहला 'पर शिव' है दूसरा 'जीव'। तात्पर्य यह है कि परमात्मा व जीव जो दो तत्त्व दिखलाई पड़ते हैं, वे दो नहीं एक हैं। कैसे? परमात्मा में जो शक्ति है वह सूक्ष्म है अतः वह सूक्ष्म-शक्ति विशिष्ट हुआ। तथा जीवात्मा में स्थूल शक्ति है अतः वह स्थूल शक्ति विशिष्ट हुआ। चूँकि दोनों स्थानों पर शक्ति ही है अतः जीव व परमात्मा एक ही हैं। शिव व शक्ति भी अभिन्न हैं। इस जगत के

रूप में परमात्मा की अभिन्न शक्ति ही परिवर्तित हो गई है। जिस प्रकार अग्नि और उससे उत्पन्न ताप में अन्तर नहीं है उसी प्रकार परमात्मा तथा उससे उत्पन्न 'जगत' में अन्तर नहीं है। अतः जगत भी शक्ति रूप होने से सत्य ही है, मिथ्या नहीं। परब्रह्म में गुप्त रूप से स्थित विमर्श शक्ति ही जगत का कारण है। यह विमर्श शक्ति त्रिगुणात्मिका है, जो तीनों गुणों से जगत की रचना करती है।

जगत—लिङ्गायत जगत को सत्य मानते है। जैसे पुष्प व फल वृक्ष से भिन्न नहीं है उसी प्रकार जगत ब्रह्म से भिन्न नहीं। दोनों एक हैं परन्तु दूध व दही मूलतः एक होने पर जैसे भिन्न-भिन्न हैं उसी प्रकार ब्रह्म व जगत भिन्न-भिन्न हैं। क्योंकि जगत ब्रह्म का विवर्त नहीं, परिणाम है यथा दूध का परिणाम दही है। जब वस्तु में कोई परिवर्तन आजाता है तब उसे परिणाम कहते हैं। कच्छप जैसे पैरों को बाहर निकाल कर पानी में चलता है और फिर उन्हे समेट कर बैठ जाता है उसी प्रकार ब्रह्म अपना ही स्वरूप विस्तृत कर फिर उसे समेट लेता है। यही सृष्टि और प्रलय है कच्छप और उसके पैरों में भेद नहीं उसी प्रकार जगत व ब्रह्म में अन्तर नहीं। वस्तुतः उत्पत्ति व नाश नहीं होता शक्ति का विकास तथा सङ्कोच होता है।

जीव शिव का अंश है। अग्नि से निकलने वाले स्फुलिङ्गों में भेद भी है अभेद भी। उसी तरह जीव व ब्रह्म में भेद भी है और अभेद भी। ब्रह्म को 'स्थल' भी कहा जाता है। सृष्टि की कल्पना अत्यन्त मनोहर है। जब ब्रह्म को उपास्य और उपासक रूप में क्रीड़ा करने की इच्छा होती है तो जिस प्रकार समुद्र में तरंगें उत्पन्न होती हैं उसी प्रकार 'शक्ति के क्षोभ से स्थल ब्रह्म' के दो रूप होते हैं। शक्ति व शिव की समरसता भङ्ग हो जाती है। शिव व जीव भिन्न-भिन्न प्रतीत होने लगते हैं। १—शिव २—जीव—इन्हें क्रमशः लिङ्ग व अङ्ग भी कहते हैं। लिङ्ग की शक्ति का नाम 'कला' है जो प्रवृत्ति उत्पन्न करती है, तथा अङ्ग की शक्ति का नाम 'भक्ति' है जो निवृत्ति उत्पन्न करती है। कला से जगत की सृष्टि तथा भक्ति से शिव व जगत का एकाकार होता है। एकाकार होना ही मुक्ति है। यह परम शिव की कृपा से ही सम्भव है। भक्ति के बिना कृपा प्राप्त नहीं हो सकती।

इससे स्पष्ट है कि साधन रूप से जिस भक्ति को शङ्कर ने

स्वीकार किया था उसी को वीर शैव मत में 'सर्वस्व' माना जाता है। लिङ्गायत माँस, मदिरा से दूर रहते हैं अर्थात इन पर कौलाचार या वाममार्ग का प्रभाव नहीं है। लिङ्गायत सामाजिक दृष्टि से वीर शैवों की अपेक्षा अधिक प्रगतिशील थे। निगम व आगम को मानने पर भी वर्णाश्रम प्रथा को न मानना एक साहस का काम था।

लिङ्गायतों के अनुसार—

(१) ब्राह्मण भी अन्य जातियों की तरह ही हैं।
(२) वेद अमान्य हैं।
(३) शैव मत के सिवा अन्य कोई मत श्रेष्ठ नहीं।
(४) जन्मजन्मान्तरों की कल्पना व्यर्थ है।
(५) तीर्थयात्रा, व्रत, प्रायश्चित आदि व्यर्थ हैं।
(६) सगोत्र-विवाह करना चाहिए।
(७) विधवा विवाह वैध है।
(८) अन्त्येष्टि क्रिया अनावश्यक है।
(९) शौच-अशौच का विचार घृणास्पद है।

प्राचीनकाल में केवल चार्वाकों ने हमारे यहाँ जन्मजन्मान्तर को स्वीकार नहीं किया, नास्तिक दर्शनों में बौद्ध व जैनियों ने भी कर्मवाद व पुनर्जन्मवाद को स्वीकार किया है, वे यज्ञ-याग में हिंसादि का खण्डन करते हैं, परन्तु अन्य अनेक आचारों को स्वयं मानते हैं। बौद्ध व ब्राह्मणों के आचारों की बौद्ध सिद्धों, व नाथ पंथियों ने कड़ी आलोचना की है। मीमांसकों के कर्मकाण्ड की आलोचना स्वयं शङ्कर ने कितनी कठोरता से की है यह सर्वविदित है। परन्तु भारत के इन सब आस्तिक, नास्तिक दार्शनिकों ने पुनर्जन्मवाद को माना है, दरिद्र वर्ग की दरिद्रता, रोग, अशिक्षा आदि को शाश्वत मान कर तभी चला जा सकता है जब कि पुनर्जन्मवाद स्वीकृत हो। "यह व्यक्ति दुःखी है' इसका दुःख किसी पहले जन्म में कृत कर्मों का परिणाम है अतः उसे दुःखी रहना ही चाहिए। दुःख दूर करने की चेष्टा व्यर्थ है क्योंकि प्रारब्ध को भोगना ही है।" चार्वाकों ने इस कमजोरी को पहचाना था पर वे स्वयं अपनी कमजोरियों में डूब गये और सुरा-सुन्दरी में लिप्त हो गये। दक्षिण में शैव परम्परा वैदिक परम्परा के साथ ही विकसित हुई। वीर शैवमत का विकास प्रायः ८ वीं शताब्दी तथा कुछ के अनुसार

११वीं शताब्दी से माना जाता है। कहना न होगा कि इन शताब्दियों में दक्षिण में छुआछूत, जातिपाँति अपनी चरम सीमा पर थी। समाज अनेक वर्गों में बँटा हुआ था, लिङ्गायतों ने यह देखा, और देखा उनको भी जो आचारों का आँख मूँद कर अनुकरण करते थे। साथ ही लिङ्गायतों के सम्मुख 'शिव' का आदर्श था जिनके समाज में पवित्रता-अपवित्रता, ऊँच-नीच का भेद स्वयं मिटा हुआ था अतः हमें स्मरण रखना होगा कि हजारों वर्षों के बाद, लिङ्गायतों ने खुलकर 'आचारवाद' के विरुद्ध आन्दोलन चलाया। सगोत्र-विवाह, पुनर्जन्मवाद न मानना ये दो तत्व तो अत्यधिक क्रान्तिकारी थे।

हमने देखा कि भारतीय दार्शनिकों में विचार तो कभी-कभी बड़े क्रान्तकारी होते हैं यथा लिङ्गायतों के परन्तु उनका क्रियात्मक रूप प्रतिक्रियावादी होता है। शैव लोग लिङ्ग सदा सिर के ऊपर बाँधे रहते हैं इसीलये वे लिङ्गायत कहलाते हैं। दूसरे के अन्धविश्वासों की आलोचना कर स्वयं उससे भी बड़े अन्ध-विश्वासों में फँसना भारतीय धर्मों की प्रवृत्ति रही है। वस्तुतः बसेश्वर पुराण के अनुयायी लिङ्गायत, वीर शैवमत के सुधारक थे। वीर शैवमत वर्णाश्रम धर्म को मानता था। और वीर शैवमत के ब्राह्मण पौरोहित्य भी करते थे अतः 'जङ्गम' कहलाते थे, वे सगोत्र विवाह को मानते थे, ज्ञान कर्म समुच्चय को भी मानते थे। भक्ति भावना भी उनमें खूब थी। परन्तु लिङ्गायतों ने विद्रोह किया और वीर शैवों तथा ब्राह्मणों के अनेक आचारों को स्वीकार नहीं किया। दार्शनिक दृष्टि से वीर शैवमत व लिङ्गायतों में अन्तर नहीं है परन्तु आचारों में अन्तर आगया है। लिङ्गायत मत के प्रवर्तक 'वसव' ने जो एक राजा का मन्त्री था, वर्ण भेद को न मानकर वर्णान्तर विवाह प्रचलित किये। इस मत ने एक चमार व ब्राह्मण में विवाह करा दिया। इस पर राजा ने हरलइया चमार तथा मधुवइया ब्राह्मण की आँखें निकलवा लीं।"

इससे स्पष्ट है कि 'वसव' लिंगायत कितनी अधिक उग्र विचारधारा का समर्थक था। ऐसे ऐसे उग्र सुधारक भी सफल न हो सके क्योंकि भारत में पैदावार के साधनों में कोई अन्तर न आया। ईसा के आसपास से १६ वीं शताब्दी तक सामन्तवादी व्यवस्था ही रही। अतः ऐसी विचार-धारायें जो सामन्तों (क्षत्रियों) तथा सामन्त-व्यवस्था के

समर्थकों (ब्राह्मणों) के विरुद्ध पड़ती थीं, स्वीकृत न हो सकीं और जब तक विदेशी आक्रमण होते रहे तब तक इतिहास को सामन्तों की आवश्यकता बनी रही। अतः सामन्तवाद में वर्ण व जाति, तथा वर्ग के भेद मिटना असम्भव था। लिंगायतों का प्रयत्न सराहनीय था, परन्तु वह सफल न हो सका।

कापालिक, कालामुख या कारुणिक सिद्धान्ती

दक्षिण के शैव-सम्प्रदायों में कभी 'कालामुख' सम्प्रदाय भी प्रचलित था। कहा जाता है कि महीशूर के केदारेश्वर के मन्दिर की गुरु-परम्परा में होने वाले प्रसिद्ध श्री कंठाचार्य 'कालामुख' थे। जो हो, इतना निश्चित है यह मत भी दक्षिण में प्रचलित था। यामुनाचार्य ने इसका वर्णन किया है।

कापालिक छः मुद्राओं को मानते हैं—कर्णिका, रुचक, कुण्डल शिखामणि, भस्म, यज्ञोपवीत। कालामुख सम्प्रदाय में मुर्दे के कपाल में भोजन किया जाता था। सिद्धियों की प्राप्ति के लिए यह सम्प्रदाय श्मशान-सेवन व राख-पान भी करता था। ये लोग एक लकड़ी हाथ में रखते थे। इनमें सुरापान व माँस भक्षण भी प्रचलित था। बौद्ध, शाक्त तथा शैव कापालिकों में थोड़े-बहुत भेद से अनेक गुह्य साधनायें प्रचलित थीं। कापालिक रुद्राक्ष माला, जटाजूट, कपाल, भस्म को धारण करते हैं। ये जन्मजात ब्राह्मणत्व को नहीं मानते, कपाल धारण कर लेने पर कोई भी व्यक्ति ब्राह्मण बन जाता है। कापालिक भैरव के पूजक हैं।

शङ्कराचार्य से अपने को श्रेष्ठ बताने के लिए एक किम्वदन्ती में शङ्कर से एक कापालिक की भेंट कराई गई है। कापालिकों का गुरु शङ्कर के पास आया, वह त्रिशूल व कपालधारी था। उसने शङ्कर से कहा कि तुम्हें सुरा व रक्त से भरा कपाल धारण करना चाहिये, यह कमण्डल छोड़ दो। शङ्कर ने कापालिकों को शाप से नष्ट कर डाला। कापालिकों के गुरु 'क्रकच' ने भैरव का आह्वान किया, भैरव ने शङ्कर का वध किया। (नाथ सम्प्रदाय)। यह भी कहा जाता है कि शङ्कर को भैरव ने आत्मरूप होने के कारण नहीं मारा, क्रकच को ही मार डाला। इन कापालिकों का गढ़ उज्जयिनी में था। 'श्री शैल' में तो उज्जयिनी से भी बड़ा गढ़ था। इनमें अघोरी, कापाली आदि अनेक

प्रकार के कापालिक थे। ये नरमुण्ड धारण करते, नरबलि देकर भैरव या शक्ति को प्रसन्न करते, शव की छाती पर बैठ कर साधना करते, हिं, हुँ आदि भयङ्कर मन्त्रों का उच्चारण करते तथा शौच, अशौच का विचार न करते थे। 'कालामुख' को कापालिकों से भी उग्र माना गया है। सम्पूर्ण भक्त कवियों ने इनकी निन्दा की है, तुलसीदास ने विशेष रूप से। कापालिक समानतावादी थे परन्तु इनकी 'समानता' घोर निर्दयता, चरित्र-पतन तथा वीभत्स विधानों से प्राप्त होती थी, अतः जनता इनसे बचने का प्रयत्न करती थी। कापालिकों के अतिरिक्त इसी से मिलते-जुलते अन्य सम्प्रदाय भी रहे होंगे जैसे लंका के 'निकाय-संग्रह' के आधार पर राहुलजी ने एक सम्प्रदाय संकेतित किया है। इस सम्प्रदाय के लोग चीवर के नीचे नीला कपड़ा पहनते थे। 'नीलपट दर्शन' में सुरा, वेश्या और काम इन्हीं को सर्वस्व माना गया है। पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी इन नील पट दर्शनियों का सम्बन्ध वज्रयानियों से बतलाते हैं। जो हो, सुरा-सुन्दरी की उपासना कापालिकों के अतिरिक्त अनेक सम्प्रदायों में चल पड़ी थी।

प्रत्यभिज्ञा-दर्शन—काश्मीर में शैव मत का दक्षिण की ही तरह अधिक प्रचार रहा। यहाँ शैवों की दो परम्परायें थीं—(१) स्पन्द शास्त्री। (२) प्रत्यभिज्ञा शास्त्री। 'शिव-सूत्र विमर्षिणी' इनका आधार ग्रन्थ है। वसुगुप्त की 'स्पन्द-कारिका' में शिव-सूत्रों का विशद विवेचन है। वसुगुप्त के दो शिष्यों में 'कल्लट' ने स्पन्द शास्त्र का तथा सोमानन्द ने प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र का प्रवर्तन किया।

प्रत्यभिज्ञा दर्शनः—हिन्दी साहित्य में जयशंकरप्रसाद इस प्रत्यभिज्ञा दर्शन से बहुत प्रभावित थे। उनकी 'कामायनी' में शैवतंत्रों से अनेक दार्शनिक सिद्धान्त लिये गये हैं।

प्रत्यभिज्ञादर्शन को 'त्रिक दर्शन' भी कहते हैं। त्रिक का अर्थ है तीन, पशु पति और पाश। अतः इन तीन तत्वों को मानने के कारण यह 'त्रिक-दर्शन' भी कहलाया। पाँचवीं शताब्दी से इस मत का प्रचार हुआ परन्तु इसे ऐतिहासिक महत्व तो ६ वीं शताब्दी के बाद ही मिला! जब इसका प्रचार 'सोमानन्द' के द्वारा हुआ। प्रसिद्ध अभिनव-गुप्त भी इसी मत को मानते थे।

प्रत्यभिज्ञादर्शन पूर्णतया अद्वैतवादी दर्शन है, शाक्त व शैवों के सिद्धान्त परस्पर मिलते जुलते ही हैं। दोनों अद्वैतवादी हैं और शिव व शक्ति को परम शिव, परासंवित् तथा परमेश्वर मानते है। अज्ञान के कारण इस आत्मा का ईश्वर-रूप छिप जाता है, अज्ञान शिव की स्वतन्त्र इच्छा शक्ति का ही परिणाम है जिसमें शिव अपने में तिरोहित कर लेता है। जीव में परमेश्वर के गुणों का आभास तो होता है परन्तु अज्ञान के कारण उसकी अनुभूति विस्मृत हो जाने से 'जीवात्मा' शिव के साथ तादात्म्य-जन्य आनन्द नहीं प्राप्त कर पाता। कैसे? "जिस प्रकार एक कामिनी किसी नायक के गुणों से परिचित होने पर भी, और नायक के निकट होने पर भी आनन्दित नहीं हो पाती किन्तु जब दूती कह देती है कि "यह तो वही नायक है" तो आत्म-समर्पण कर देती है। उसी प्रकार जीवात्मा, परमेश्वर को पहचान नहीं पाता, वह अपने व ब्रह्म को भिन्न भिन्न समझता है और इस संसार के आकर्षणों में रत रहता है। जब ज्ञान का उदय होता है तो गुरु उसके स्वरूप की पहचान करा देता है अतः वह भूले हुये ब्रह्म या आत्मा को पहचान लेता है, भेद मिट जाता है और अखण्ड आनन्द की अनुभूति हो जाती है। ब्रह्म की 'प्रत्यभिज्ञा' या 'पहचान' हो जाने के कारण ही इसे 'प्रत्यभिज्ञा दर्शन' कहते हैं।

परमतत्व—परमेश्वर के दो रूप हैं 'विश्वात्मक' और 'विश्वोत्तीर्ण'। प्रथम रूप से शिव सब में व्याप्त रहता है और दूसरे रूप से सब के परे रहता है। यह जगत् परमेश्वर से भिन्न नहीं है, ब्रह्म ही जगत के रूप में प्रकाशित (स्फुरित) होगया है। कैसे? परमेश्वर एक स्वतन्त्र शक्ति से सम्पन्न है, उसी के बल से, अपनी इच्छा से वे जगत को 'व्यक्त' कर देते हैं। प्रलयकाल में भी जगत का अभाव नहीं था केवल वह अव्यक्तावस्था में था। सृष्टि-काल में वह प्रकट हो जाता है क्योंकि उसमें शक्ति का संयोग हो जाता है। प्रलयकाल में शक्ति शिव में समा जाती है, अतः जगत व ब्रह्म एक हो जाते हैं। अतः स्वयं ब्रह्म निमित्त व उपादान कारण है, किसी बाहर की वस्तु की (प्रकृति आदि की) उसे आवश्यकता नहीं है। पाठक देखें कि अद्वैतवाद में ब्रह्म को निर्विकार बनाये रखने के लिए कितनी साधारण युक्ति दी गई है। स्पष्टतः जगत विकारपूर्ण है, यह शान्त, सीमित, नश्वर तथा सुख-दुःख-

पूर्ण है। इसे बनाने वाला भी ऐसा ही होगा। यदि उसमें ये चीजें न होंगी तो उसने इस सामग्री को बाहर से लिया होगा, परन्तु यदि बाहर से लेता तो ब्रह्म के सिवा एक अलग अन्य तत्त्व मानना पड़ता, अतः कोई ऐसा प्रयत्न होना चाहिये जिससे विकारात्मक जड़ जगत व निर्विकार चैतन्य ब्रह्म की एकता सिद्ध हो जाये। शंकराचार्य ने अधिक युक्ति सङ्गत-मार्ग पकड़ा था क्योंकि यदि यही सिद्ध करना है कि ब्रह्म निर्विकार है तो एक ही सत्ता को स्वीकार करो और शेष अन्य सबकी 'सत्ता' स्वीकार मत करो, किन्तु जगत की सत्ता तो प्रत्यक्ष सिद्ध है पर वह नश्वर अवश्य है। अतः 'जगत' की न सत्ता मानो न असत्ता। इसे सद्, असद्, विलक्षण स्वीकार करो। बस एक ही सत्ता रह गई ब्रह्म। आत्मा व ब्रह्म की एकता के लिये घट के आकाश का उदाहरण सम्मुख था ही परन्तु प्रत्यभिज्ञावादी को 'जगत' की सत्ता भी स्वीकार करनी थी। तब एकता कैसे सिद्ध हो। केवल एक मार्ग था और वह यह कि ब्रह्म को मनमानी शक्तियों से युक्त कर दो। कर्त्ता में वैचित्र्य का विधान कर देने से जगत की विचित्रता का समाधान सरल था, विकारपूर्ण जगत् का कर्त्ता निर्विकार कैसे हो सकता है? उत्तर होगा निर्विकार अपनी शक्ति विशेष से ही जगत् के रूप में परिणत होगया। जिस प्रकार शक्ति, शक्तिमान से भिन्न नहीं, चन्द्रिका चन्द्र से भिन्न नहीं, उसी प्रकार जगत् व ब्रह्म एक हैं। अतः ब्रह्म शक्तिमान है और जगत शक्ति। ऐसी शक्तियाँ अनेक हैं परन्तु चित् आनन्द, इच्छा, प्रयत्न तथा क्रिया नामक शक्तियाँ मुख्य हैं।

चित् शक्ति—[illegible] के कारण, जगत के अभाव में भी 'परमशिव' प्रकाशित रहता है।

आनन्द—बिना किसी सामग्री के आनन्दित रहने की शक्ति 'आनन्द' है।

इच्छा—ब्रह्म की स्वतन्त्र शक्ति का नाम है।

ज्ञान—पदार्थ का ज्ञान होना 'ज्ञान शक्ति' का ही परिणाम है।

क्रिया—मनमाने आकार धारण कर सकना 'क्रिया शक्ति' है।

इन्हीं 'पाँच' शक्तियों से युक्त होकर 'शिव' जगत के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं और उससे परे भी रहते हैं। वे 'इच्छा शक्ति' से

जगत की सृष्टि करना चहते हैं और क्रिया शक्ति से पहाड़, नदी, वृक्षादि का आकार धारण कर लेते हैं, प्रलय काल में जब 'क्रिया शक्ति' खिंच कर शिव में मिल जाती है तो वृक्षादि विलुप्त हो जाते हैं। जैसे मञ्च पर नट अनेक अभिनय करता है उसी प्रकार परम शिव नाना भूमिकायें धारण किये हुये है। वह ज्ञानस्वरूप है और अपने शिव रूप को शक्ति के आवरण से ढकने में भी समर्थ है। शङ्कराचार्य के यहाँ ब्रह्म कुछ नहीं करता, सब कुछ माया करती है, जो आवरण व विक्षेप नामक शक्तियों से ब्रह्म में जगत की भ्रान्ति उत्पन्न करके नाना रूपों की सृष्टि कर डालती है परन्तु शैव मत में ब्रह्म निर्विकार, निष्कल होने पर भी वह क्रिया-रहित नहीं है वह अपनी शक्ति के सकाश से सब कुछ करता है, अपना रूप छिपाता है और जगत के रूप में लीला करने को परिवर्तित हो जाता है वही उपास्य बनता है और वही उपासक।

दर्पण व बिम्ब का सम्बन्ध जगत व ब्रह्म का सम्बन्ध है। जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब वस्तु दर्पण से अलग जान पड़ती है उसी प्रकार ब्रह्म से जगत अलग दिखाई पड़ता है परन्तु प्रतिबिम्ब तो तब पड़ेगा जब बिम्ब होगा, जो घट दिखाई पड़ रहा है वह किसी बिम्ब रूप घट का ही प्रतिबिम्ब हो सकता है यदि घट का सूक्ष्म बिम्ब न हो तो प्रतिबिम्ब भी न हो, परन्तु परमेश्वर की विचित्र शक्ति से बिम्ब के बिना ही प्रतिबिम्ब रूप घट पटादि उत्पन्न हो जाते हैं, क्योंकि ब्रह्म तो निराकार है वह सूर्य व चन्द्र के गोले के समान साकार नहीं है जिसका प्रतिबिम्ब हम जल में देखते हैं अतः ब्रह्म के बिम्ब के बिना ही यह प्रतिबिम्ब रूप जगत उत्पन्न हो जाता है। अतः अद्वैत भाव ठीक है शङ्कर तो जगत को मिथ्या मानते हैं परन्तु शैव जगत को चिन्मयी शक्ति का रूप मान कर उसे सत्य ही मानते हैं। उनके अनुसार न विवर्तवाद (रज्जु से सर्प) मानने की आवश्यकता है, न परिणामवाद (दूध से दही) की। अतः प्रतिबिम्बवाद या आभासवाद ही ठीक है यही अधिक बुद्धि सङ्गत है (बुद्धि सङ्गत तो न विवर्तवाद है, न परिणामवाद न आपका यह प्रतिबिम्बवाद)

शैवमतानुसार अहम् अंश 'पुरुष' बन जाता है और इदम् अंश प्रकृति। 'शिव' अब पुरुष या जीवात्मा की अवस्था में काल, विद्या,

राग, कला और नियति इन पाँच उपाधियों के आवरण या 'कंचुक' से ढक लिया जाता है जैसे 'कला' के आवरण से जीव अपनी सब कुछ करने की सामर्थ्य खो बैठता है, इसी प्रकार 'विद्या' के आवरण से जीव में अल्पज्ञता आ जाती है। राग से जीव विषयों में फँस जाता है, 'काल' के कारण जीव अपने को अनित्य मानता है। 'नियति' के कारण 'जीव' को निश्चित कार्य करने पड़ते हैं। ये ही पाँच कंचुक हैं। सृष्टि के विकास की प्रक्रिया प्रायः वही है जो 'सांख्य' में है।

यहाँ 'नियति' तत्त्व महत्वपूर्ण है। 'प्रसाद' में नियति का प्रयोग बार-बार होता है उनके नाटकों व कामायनी के पात्रों का कर्त्तव्य पहले से ही निश्चित रहता है। इसीलिये नियति के डोरे को पकड़ कर वे अजातशत्रु के जीवक की तरह कम-कूप में कूदने को सदा प्रस्तुत रहते हैं। यहाँ 'नियति' पाँच कंचुकों में से एक है। यहाँ माया एक शक्ति है जो जीव पर अपना आवरण डाल कर उसकी स्वतन्त्र शक्ति को छीन लेती है, जीव परवश हो जाता है। अतः परवशता अर्थात् पूर्व निश्चित मार्ग पर चलने की परवशता 'नियति' के ही कारण है। परन्तु 'प्रसाद' में नियति कंचुक के रूप में प्रयुक्त नहीं जान पड़ती। वहाँ तो एक अज्ञात शक्ति के रूप में उसका प्रयोग हुआ है जो सृष्टि का नियमन करती है। इसे न 'भाग्य' कहा जा सकता है न 'प्रारब्ध' न 'कंचुक' बल्कि यह एक अज्ञेय सत्ता कही जा सकती है।

शङ्कराचार्य के दर्शन में अन्तिम अवस्था में भक्ति का स्थान नहीं है परन्तु शैवमत में ज्ञान व भक्ति का सामञ्जस्य मिलता है। भक्ति के लिये द्वैताभाव आवश्यक है परन्तु शैवमत में अद्वैत ज्ञान के उदय होने पर भक्ति और भी दृढ़ होती है यही ज्ञान-भक्ति है, कंचुक का आवरण भङ्ग होते ही, अद्वैत की अनुभूति होती है। यही ज्ञान है और उस 'अहम्' तत्व में मिलने की कामना है भक्ति। इससे शिव की प्रत्यभिज्ञा = पुनः पहचान हो जाती है। प्रत्यभिज्ञा का अर्थ ही ज्ञात वस्तु को भूल जाने के बाद दुबारा पहचान लेना है। उसी प्रकार साधक 'मैं ही परमेश्वर हूँ' ऐसा अनुभव करता है। इसीलिए यह सिद्धान्त 'प्रत्यभिज्ञावाद' कहलाता है।

शाङ्कर वेदान्त में यह उत्तर नहीं मिलता कि 'माया' कहाँ से आती है क्योंकि यदि वह ब्रह्म के साथ रहती है तो ब्रह्म अशुद्ध हो

जाता है और यदि कहीं बाहर से आती है तो दो सत्तायें माननी पड़ती हैं। प्रत्यभिज्ञावाद में यह कठिनाई ही नहीं आती कि 'माया' का अस्तित्व अन्ततः क्यों माना जाय? तन्त्रों के अनुसार तत्त्वों की संख्या ३६ मानी जाती है। इन्हें ३ भागों में बाँटा गया है शिव, आत्म और विद्या। शिव—शिव + शक्ति। विद्या—सदा शिव, ईश्वर, शुद्धविद्या। आत्म तत्त्व–माया, कला, विद्या, राग, काल, नियति, पुरुष, प्रकृति, बुद्धि, अहंकार, मन, श्रोत्र, त्वक, चक्षु, जिह्वा, घ्राण, वाक्, पाणि, पाद, वायु, उपस्थ, + पञ्चतन्मात्रा + पाँच भूत।

परमेश्वर के हृदय में सृष्टि की इच्छा होते ही उसके शिव और शक्ति दो रूप हो जाते हैं। शिव प्रकाश रूप है और शक्ति अहं-रूपिणी। अहं की स्फूर्ति से युक्त होने के कारण शक्ति को 'विमर्श-रूपिणी' कहते हैं। यह शक्ति ही सृष्टि के रूप में बदल जाती है। विश्व के व्यक्त होने का यही कारण है, संहार भी यही शक्ति करती है। इसी के चित्, चैतन्य, स्वातन्त्र्य, स्पन्द, हृदय आदि अनेक नाम हैं। 'मैं' 'अहं' की अनुभूति जिसे होती है वह तत्व 'शिव' है और सारा प्रपञ्च ही (इदं) शक्ति है। यदि विमर्श रूपिणी, अहंकार की स्फूर्ति-रूपिणी शक्ति न हो तो उसके भीतर छिपे हुये 'शिव' का अनुभव कैसे हो सकता है? अर्थात् यदि विश्व न हो तो 'शिव' को कौन जाने? शिव में चेतना है, परन्तु वह स्वयं बिना शक्ति के अपनी चेतना को नहीं समझ सकता, शहद में माधुर्य होता है, शराब में मादकता होती है परन्तु शहद और शराब स्वयं अपना आनन्द नहीं ले सकते इसलिए अपने को समझने का ज्ञान 'यह मैं हूँ' इस प्रकार का ज्ञान शक्ति के द्वारा ही हो सकता है। अतः शक्ति के बिना शिव शव है और शिव के बिना शक्ति केवल 'ई' है।

> न शिवेन विना देवा, न देव्या च विना शिवः।
> नानयोरन्तरं किञ्चित चन्द्रचन्द्रिकयोरिव॥

अर्थात् बिना देवी (शक्ति) के शिव नहीं रह सकता, न बिना शिव के शक्ति रह सकती है, चन्द्र और चन्द्रिका के समान शिव व शक्ति परस्पर आश्रित और एक हैं।

शिव शक्ति का आन्तरिक रूप 'सदाशिव' तथा बाहरी रूप 'ईश्वर' कहलाता है। सदाशिव की दशा अव्यक्तावस्था है, ईश्वर की

अवस्था व्यक्तावस्था है। सदाशिव के रूप में शिव अंश, शक्ति अंश को छिपाये रखता है अतः जगत की स्थिति अव्यक्त रूप से होती है। ईश्वर रूप में—व्यक्तावस्था में इदं अहं को परिवृत कर लेता है और आत्मा (शिव) इदं (जगत, शक्ति) को अंश रूप से अनुभव करता है। शैव मत में जगत को—इदं अंश को अपना ही अंश समझा जाता है। सारे जगत को शिव अपना ही विभव समझता है। तो व्यक्तावस्था आने तक तीन स्थितियाँ आती हैं—

१—शिव तत्त्व की स्थिति में 'अहं' मैं हूँ, ऐसा अनुभव होता है।

२—सदाशिव की अवस्था में 'अहं इदं' मैं हूँ, यह (जगत) है, ऐसा ज्ञान होता है।

३—ईश्वरतत्त्व की दशा में इदम, इदम्=यह है, ऐसी अनुभूति होती है।

अब माया शक्ति अहं व इदं दोनों को अलग-अलग कर देती है। यद्यपि माया अज्ञान है पर वह सहसा नहीं आ टपकती, वह परम शिव का स्वेच्छा से गृहीत रूप है। शिव में कर्तृत्व शक्ति है। शिव कोरा साक्षी नहीं है अतः वह नट की तरह नाना अभिनय करता है, परन्तु वेदान्त में ब्रह्म कुछ नहीं करता वह तो केवल साक्षी मात्र है। अतः 'माया' को लाने में कठिनाई पड़ती है क्योंकि निष्क्रिय ब्रह्म न इच्छा कर सकता है न अनिच्छा, वह 'माया' का भी अधिष्ठान नहीं हो सकता। अतः 'माया' का रूप शैव मत में ही ठीक है। परमेश्वर कर्तृ स्वरूप है। वह लीला के लिये 'माया' को ग्रहण करता है जो उसकी शक्ति मात्र है। परमेश्वर स्वतन्त्र है, अतः वह अपनी स्वतन्त्र इच्छा से ही विश्व का उन्मीलन करता है आगम वादियों का यही सिद्धान्त है। वस्तुतः आगम के अद्वैतवाद में द्वैत का आभास स्पष्ट है जीव की स्वतन्त्र शक्ति मानना, ईश्वर रूप स्वीकार करना आदि इसके प्रमाण हैं। क्रिया व ज्ञान में अन्तर न मानकर अद्वैत की सिद्धि की गई है जिससे स्पष्ट द्वैत' का ज्ञान होता है। वेदान्त ब्रह्म को ज्ञान रूप तो मानता है पर क्रिया रूप नहीं मानता है। अतः क्रिया का परिणाम, 'जगत' व ब्रह्म एक नहीं है परन्तु शैवागम ज्ञान व क्रिया में अन्तर ही नहीं मानते।

ईश्वर में ज्ञान भी है और क्रिया। भी अतः उसकी क्रिया भी अर्थात् जगत भी सत्य और ब्रह्म से अभिन्न होगा।

इसी प्रकार ज्ञान व भक्ति का झगड़ा शङ्कर में है, आगम में नहीं। प्रश्न होगा कि चरम स्थिति में जब अद्वैत का अनुभव होने लगेगा तब कौन किसकी भक्ति करेगा? 'मैं ही परमेश्वर हूँ' इस अनुभव के बाद भक्ति किसकी होगी? भक्ति के लिये द्वैतमूलकता जान कर ही शङ्कर ने इसको त्याज्य कहा था। परन्तु आगम कहते हैं कि ज्ञान होने के पहले मोह अवश्य उत्पन्न होता है परन्तु ज्ञान होने के बाद भी साधक उस 'द्वैत' की कल्पना बुद्धि के द्वारा कर लेता है। यह कल्पित द्वैत भावना ही भक्ति का सर्वस्व है और अद्वैत से भी सुन्दर है। अतः ज्ञान होने पर भी भक्ति का उदय होने से दोनों में विरोध नहीं है। दम्पत्ति मिलन के समान जीव व ब्रह्म मिलते हैं। दोनों की यही समरस स्थिति होती है, लौकिक मिलन में जो आनन्द आता है यह किसी सीमा तक उस आनन्द की ओर संकेत कर सकता है।

त्रिपुर सिद्धान्त—शाक्त व शैव दोनों अद्वैतवादी हैं, दोनों पूर्वोक्त ३६ तत्वों को मानते हैं इनसे परे तत्त्वातीत पदार्थ है। सदाशिव से पञ्चभूतों में अन्तिम तत्व 'भूमि' तक ३४ तत्व हैं जो शक्ति के उन्मेष मात्र हैं। शिव व शक्ति एक और अभिन्न हैं। शक्ति में शिवभाव गौण रहता है और शिवभाव में शक्तिभाव गौण रहता है। यह तो सामान्य दशा में होता है किन्तु तत्त्वातीत अवस्था में शक्ति व शिव दोनों की साम्यावस्था रहती है, यही 'समरसता' है। प्रसाद इसी 'समरसता' की चर्चा अपनी कामायनी में करते हैं। इसी सामरस्य को परम शिव कहा जाता है। शाक्त इसे 'पराशक्ति' कहते हैं तो 'प्रसाद' पर त्रिपुरा दर्शन का प्रभाव था। 'प्रसाद' की 'समरसता' का प्रयोग आधुनिक असन्तुलित जीवन का एक हल है। शिव कल्याणमय पुरुष तत्त्व है जो भोक्ता है, शक्ति स्त्री है, भोग्य है। दोनों की समरसता होनी चाहिए। साथ ही प्रसाद जो समरसता से योग व भोग दोनों का ही समर्थन करते है। शक्ति-रूप जगत का आकर्षण शिव को छिपाये हुये है। इस पर्दे के पीछे शिवतत्त्व छिपा है अतः इस पर्दे का तिरस्कार कर संन्यास लेने से ज्ञान न होगा। शक्ति को समझ कर ही शिव को

समझा जा सकता है। चूँकि शक्ति व शिव में अन्तर नहीं, जगत में सब कुछ शिव रूप है अतः संन्यास व्यर्थ है। जगत को भोगते हुये ही 'मैं परमेश्वर हूँ' ऐसा अनुभव हो सकता है क्योंकि भोगरूप शक्ति में ही शिव छिपा हुआ है। अतः 'इदं' को मिथ्या मान कर, उसे तुच्छ बता कर भागने वाले 'समरसता' की स्थिति को नहीं पा सकते। हमें स्मरण रखना चाहिये कि 'प्रसाद' ने तन्त्रों के समरसता के सिद्धान्त को आज के सभी प्रश्नों के उत्तर देने में समर्थ माना है। इसीलिए 'कामायनी' महान काव्य बन गया, अन्यथा वह समरसता का सिद्धान्त कोरा साम्प्रदायिक सिद्धान्त होकर रह जाता।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन में जो तत्त्व शिव व शक्ति का है वह त्रिपुरा मत में कामेश्वर व कामेश्वरी का है और वैष्णवों में वही स्थान राधा और कृष्ण का है। कामेश्वर व कामेश्वरी को त्रिपुरा मत में 'सुन्दरी' या 'त्रिपुर सुन्दरी' कहते हैं।

यह अलौकिक सौन्दर्य से युक्त है, शैव मातृरूप से इसकी उपासना करते हैं। 'सौन्दर्य लहरी' में इसी का कवित्वमय वर्णन है।

त्रिपुर सुन्दरी को 'चन्द्र' माना गया है, चन्द्र में १६ कलायें हैं। अतः इसे 'नित्य षोडशिका' भी कहते हैं। इनमें पहली १५ कलायें उदय व अस्त को प्राप्त होती हैं परन्तु १६ वीं कला शाश्वत रहती है। यही आराध्य है, इसे 'परयन्ती वाणी' कहा जाता है। यही 'ललिता' है, श्रीविद्या के उपासक इसी की उपासना करते हैं। कृष्ण को जो १६ वर्ष का कहा गया है उसका भी यही रहस्य है। अतः प्रत्यभिज्ञा दर्शन के शिव, त्रिपुरामत की षोडशी तथा वैष्णवों के कृष्ण एक ही परम शिव के भिन्न-भिन्न रूप हैं।

पाशुपत सम्प्रदाय

पाशुपत मत के संस्थापक 'लकुलीश' माने जाते हैं, परन्तु कुछ लोग पाशुपत मत को 'लकुलीश' से अधिक प्राचीन मानते हैं और 'लकुलीश' को पाशुपत मत का सुधारक मानते हैं।

'सर्व दर्शन संग्रह' में 'नकुलीश-पाशुपत' नाम से लकुलीश व पाशुपत दोनों के सिद्धान्तों का एक साथ वर्णन किया गया है।

इस मत के अनुसार पाँच पदार्थ हैं, कार्य, कारण, योग, विधि और दुःखान्त।

कार्य—पराधीन शक्ति से युक्त पदार्थ 'कार्य' है इसके तीन भेद हैं विद्या, कला और पशु। पशु का अर्थ है जीव। शरीर व इन्द्रियों से वद्ध जीव 'साञ्जन' तथा शरीरेन्द्रिय विरहित जीव 'निरञ्जन' कहलाता है। 'निरंज़न' शब्द का प्रयोग 'नाथपन्थ' में भी मिलता है तथा कबीर ने भी इस शब्द का प्रयोग किया है परन्तु इसके अर्थों में परिवर्तन होता रहा है।

कारण—महेश्वर ही सृष्टि का 'कारण' है, इसे 'पति' भी कहते हैं। यह ज्ञान शक्ति तथा प्रभु शक्ति का आश्रय है।

योग—चित्त के द्वारा आत्मा व परमात्मा का संयोग 'योग' कहलाता है। यह दो प्रकार का होता है क्रिया प्रधान जिसमें जप, ध्यान आदि की व्यवस्था है, तथा क्रियोपरम—जिसमें भगवान की भक्ति, ज्ञान तथा शरणागति का विधान है। हमें स्मरण रखना चाहिये कि केवल वैष्णवों में ही 'शरणागति' का विधान नहीं है अपितु शैव-मत का प्रचार व प्रसार वस्तुतः शिव भक्ति सम्बन्धी स्तोत्रों के ही कारण इतना अधिक हुआ है। माधुर्यभाव का भी इसमें अभाव नहीं रहा, शिव व शक्ति की आराधना इसका प्रमाण है। दक्षिण में शैवमत व वैष्णव मत साथ-साथ विकसित हुये हैं। दोनों पन्थों में भक्ति विषयक प्रार्थनायें अत्यधिक प्रसार पा चुकी थीं। भक्ति प्रधान शैवमत पातञ्जल के योग की तरह केवल 'कैवल्य' में विश्वास नहीं करता अपितु दुःख की निवृत्ति के साथ-साथ परम ऐश्वर्य का लाभ चाहता है।

विधि—इसमें अनेक विधियों का वर्णन है यथा शिव की पूजा के समय हँसना, गाना, नाचना, बैल की आवाज करना, भस्म स्नान, भस्म शयन, तथा प्रदक्षिणा आदि-आदि। इस मत में कुछ विचित्र साधनायें भी हैं—जगने पर भी सोते हुये के समान चेष्टा करना, वात के रोगी के समान चेष्टायें करना, लँगड़ाना, किसी 'प्रमदा' को देखकर कामियों के समान चेष्टा करना, मूर्ख के समान निन्दित कर्म करना, ऊटपटाँग बोलना। इन क्रियाओं में वाम मार्ग स्पष्ट है,

सभी तान्त्रिक मतों में एक ओर उच्च आदर्श हैं तो दूसरी ओर उनका क्रियात्मक रूप विकृत है।

दुःखान्त—पशु जीव, पाँच प्रकार के मलों से युक्त है। मिथ्या ज्ञान, अधर्म, आसक्ति, च्युति और पशुत्व। योग और ऊपर कही विधियों से इन 'मलों' का नाश हो जाता है। पशुपति की कृपा से क्लेश नष्ट हो जाता है। प्रसादजी के काव्य में 'पशु' (जीव) का 'पाश' (बन्धन) में फँसना तथा पशुपति द्वारा उसके दुःखों का अन्त तथा परमैश्वर्य लाभ का ही वर्णन है। 'मनु' जब कैलाश पर पहुँचता है तो उसके दुःखों का केवल नाश ही नहीं होता बल्कि उसे परमैश्वर्य की प्राप्ति भी होती है परन्तु प्रसाद पर प्रत्यभिज्ञा दर्शन का प्रभाव विशेष था।

नाथ पन्थ और दर्शन

विकास—नाथ पन्थ एक योग-सम्प्रदाय है। यह 'नाथ पन्थ' इसलिये कहलाता है, क्योंकि इसके प्रवर्तकों और प्रचारकों के नामों के साथ 'नाथ' पद जुड़ा हुआ है। इस पद से उस दार्शनिक सिद्धान्त का भी अर्थ लिया जाता है जिससे शाश्वत-सत्य की प्राप्ति होती है। इस विद्वान बौद्ध मत का योग क्रिया प्रधान रूप मानते हैं, जो कालान्तर में शैव सिद्धान्तों से प्रभावित हुआ। अन्य विद्वान इसे विशुद्ध शैव मत मानते हैं, जिस पर बौद्ध तान्त्रिकों का प्रभाव पड़ा। अतः नाथ पन्थ में शैव व बौद्ध मतों का मिश्रित रूप पाया जाता है।

नाथ सम्प्रदाय एक सिद्ध-सम्प्रदाय विशेष है। सिद्ध-सम्प्रदाय अपनी योगिक-क्रियाओं के लिये बहुत प्राचीन काल से प्रसिद्ध रहा है। इसे 'काया साधना' कहा जाता है। इसमें योगिक-क्रियाओं द्वारा शरीर को अनुशासन में लाया जाता है, जिसमें उसकी शुद्धि हो जाती है और 'शिवत्व' की उपलब्धि होती है।

मृत्यु पर विजय प्राप्त कराना ही योग का उद्देश्य है। सिद्धों का सम्प्रदाय, भारतीय रसायन सम्प्रदाय के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है। 'रसायन सम्प्रदाय' को एक दार्शनिक सम्प्रदाय के रूप में 'सर्वदर्शन संग्रह' में वर्णित किया गया है। यहाँ उसे शैव सम्प्रदाय माना गया है। रसायन (Alchemy) एक प्राचीन विद्या है जो विज्ञान के रूप में ही नहीं, दर्शन के तत्वों को भी लेकर प्रचलित हुई थी। 'रस' का सेवन कर व्यक्ति 'सिद्धि' को प्राप्त कर सकता है। प्रायः कहा गया है कि सिद्ध मृत्यु-जयी साधकों का एक दल था जो रसायन में विशेषज्ञ थे, जो चीन से भारत में आये, जो त्रिविध क्रियाओं से शारीरिक शुद्धि कर

एक नित्य, अलौकिक आनन्द को पाने का प्रयत्न करते थे। पतञ्जलि ने सिद्धि की प्राप्ति के लिये औषधि का सेवन भी बताया है, यह 'औषधि' से सिद्धि मिलने की बात रसायन सम्प्रदाय की ही है। नाथों ने इसी रसायन सम्प्रदाय का पुनः प्रचार किया जिसमें सहस्रार में स्थित चन्द्रमा से 'अमृत' की प्राप्ति की जाती है। रसायन सम्प्रदाय का वैज्ञानिक विधान (Chemical process) नाथों में योगिक क्रिया में परिवर्तित होगया। रसायन सम्प्रदाय को पतञ्जलि से भी प्राचीन प्रागैतिहासिक काल का माना जाना चाहिये। आर्येतर जातियों से इसे आर्यों ने अपनाया था।

यह पंथ प्राचीन रसायन सम्प्रदाय का ही एक विकसित रूप था, शैव मत व पतञ्जलि के योग-दर्शन की भूमि पर यह खड़ा हुआ, थोड़ा बहुत बौद्ध प्रभाव भी इस पर अवश्य पड़ा था पर इससे यह सिद्ध नहीं होता कि यह मूलतः बौद्ध-योगी सम्प्रदाय था और कालान्तर में इसने शैवमत का रूप ग्रहण कर लिया था। नैपाल व तिब्बत में बौद्धमत तथा शैव मत दोनों मिश्रित हो गये हैं परन्तु इस मिश्रण में पाये जाने वाले बौद्ध व शैव दोनों के मतों के बहुत से तत्व आर्येतर जातियों के हैं, अतः वे बौद्ध व शैव दोनों मतों में मिलते हैं और नाथ सम्प्रदाय में भी जन-परम्परा से ही विकसित होकर आगये हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं हो सकता कि बौद्धधर्म की ही क्रियायें मौलिक थीं, शैव मत की नहीं। शैव मत तो बौद्ध धर्म से भी प्राचीन है, आर्यों के पहले भी भारत में योग प्रचलित था। प्राचीन सिंधु की घाटी में शिव की उपासना के अवशिष्ट-चिन्ह मिलते ही हैं। अतः नाथ-सम्प्रदाय मूलतः शैवमत ही था जो बौद्ध तांत्रिकों से प्रभावित हुआ था, यहीं नहीं उसने भक्ति, अद्वैतवाद तथा प्राचीन योग को भी अपनाया था। शंकर ने जिस प्रकार उपनिषद् के ज्ञान-वाद को लिया तथा बौद्धदर्शन से अनेक तत्व ग्रहण कर वेदान्त को ऐसा समन्वयात्मक रूप दिया कि बौद्ध मत के पास अपना कुछ न रहा, उसी प्रकार नाथपंथ ने 'शंकर' के पश्चात् इसी समन्वयात्मक प्रवृत्ति से काम लिया। परन्तु जहाँ 'शंकर' वेद मूलक ज्ञानकाण्ड को लेकर चले वहाँ गोरखनाथ ने वेद की परिपाटी के विरुद्ध विद्रोह

किया, उन्होंने ब्राह्मणों के आचारों, धार्मिक क्रिया-कलापों, यज्ञ पूजा, आदि को चुनौती दी और अपनी यौगिक क्रियाओं के चमत्कार से अपनी योग-महिमा दिखाना प्रारम्भ किया। 'शंकर' के पश्चात् दूसरा महान् व्यक्तित्व जिसने उत्तरी भारत को सबसे अधिक प्रभावित किया, जिसने सुधारक-प्रवृत्ति से वाममार्ग, ब्राह्मणवाद के विरुद्ध अपनी एक विशिष्ट परम्परा स्थापित कर जनता को चमत्कृत किया, नाथ पंथ का प्रचारक गोरखनाथ ही था।[1]

नाथपंथ पर शैवमत का अधिक प्रभाव पड़ा। योग के सभी सम्प्रदायों में 'काया साधना' एक व्यापक प्रवृत्ति है। परन्तु नाथपंथ में महादेव व शिव का विशेष स्थान है, योग के आदि प्रवर्तक भी यही देवता माने गये हैं। गोरखनाथ को शिव का अवतार कहा गया है। नाथपंथ का आराध्य 'शिव' ही है। नाथ लोग उसी प्रकार आज भी 'गाँजा' पीते हैं जैसे 'शिव' पीते हुये माने जाते हैं। "बम, बम" शैव व नाथ मत दोनों का प्रिय शब्द है। परन्तु 'मत्स्येन्द्रनाथ' को नैपाल में "अवलोकितेश्वर" का अवतार कहा जाता है। बौद्ध नैपाल में इन्हें अब भी पूजते हैं। तिब्बती परम्परा में मछन्दर को 'लुहिपा' से सम्बन्धित माना जाता है।

महामहोपाध्याय हरिप्रसाद शास्त्री 'नाथों' को बौद्ध सिद्धों से पूर्ववर्ती मानते हैं और सिद्धों के बहुत से गीतों को 'नाथों' द्वारा रचित मानते हैं। गोरखनाथ का 'अनंग वज्र' भी कहा गया है। हरिप्रसाद शास्त्री गोरखनाथ का नाम 'रमण वज्र' बतलाते हैं परन्तु नैपाली बौद्ध गोरखनाथ से घृणा करते हैं। सतीशचन्द्रदास गोरखनाथ को एक ग्वाला मानते हैं जो बाद में बौद्ध-योगी हो गया। इस प्रकार एक अनिश्चियता का वातावरण नाथों के बारे में बन जाता है। दलजीतसिंह ने डा० मोहनसिंह की पुस्तक की भूमिका में गोरख को असंग व नागार्जुन से सम्बन्धित माना है।[2] डा० बरुआ नाथपंथ

१—विशेष विवेचन के लिये देखिये—
"गोरखनाथ और उनका युग" डा० रांगेयराघव (आगरा यूनि० के द्वारा पी० एच० डी० के लिये स्वीकृत किन्तु अप्रकाशित प्रबन्ध)

२—Gorakh Nath and Mediaeval Hindu Mysticism.

पर आजीवक सम्प्रदाय का प्रभाव खोजते हैं, परन्तु इन दोनों के दर्शन में अन्तर है। नाथों का हठयोग उसे सबसे अलग कर देता है। न नाथ सिद्धों के पूर्ववर्ती थे, न गोरख नागार्जुन या असङ्ग से सम्बन्धित थे, १०वीं शताब्दी के आसपास बौद्धों, सिद्धों की प्रतिक्रिया में भारतीय योग के आधार पर, शैव मत का सूत्र पकड़ कर तथा कुछ बौद्ध प्रभाव लेकर नाथ मत खड़ा होगया। इसने उन सारे सम्प्रदायों को अपने में समेट लिया जो वेद बाह्य समझे जाते थे। शङ्कराचार्य के समय से ही यह प्रवृत्ति बहुत बलवती हो जाती है कि प्रत्येक सम्प्रदाय अपने को वेदों के अनुकूल सिद्ध करता है। यद्यपि शङ्कर ने पाँचरात्रों तथा अनेक आगमवादियों, शैवों, शाक्तों को वेद बाह्य कहा था परन्तु वे सर्वदा अपने को वेदों के अनुकूल सिद्ध करने का प्रयत्न करते रहे। मुसलमानों के आने के बाद कहा जाता है कि यह प्रवृत्ति और भी बढ़ी। बहुतों ने ब्राह्मण-वेद प्रधान हिन्दू समाज से सामञ्जस्य स्थापित कर लिया। शैव-शाक्त साधनायें वेद परक मानली गईं जिसका प्रयत्न तुलसीदास में भी मिलता है परन्तु जिनका सामञ्जस्य न हो सका वे नाथ पंथ में सिमिट गईं। नाथपन्थ स्पष्टतः वेद-विरोधी था, किन्तु कापालिक अपनी अत्यन्त विभ्रष्ट साधनाओं के कारण नाथों से न मिल सके, यद्यपि उन्होंने प्रयत्न अवश्य किया था। वेदों से बाहर रह कर, स्वाभिमान की रक्षा यदि कहीं हो सकती थी तो केवल नाथ-पन्थ में, क्योंकि अक्खड़ योगी 'कथनी' का उपहास करता था। वह 'करनी' का विश्वासी था। अतः 'नाथपन्थ' १०वीं शताब्दी के बाद कितना शक्तिशाली बना रहा होगा यह सहज ही अनुमेय है। नाथ-पन्थ के नेता विद्रोही जन-नेता थे, परन्तु अपनी एकान्तिकता के कारण उनका भी क्रान्तिकारी रूप आगे दब गया।

नाथ नौ तथा सिद्ध चौरासी माने जाते हैं। चौरासी सिद्धों में भी कुछ नाथों के नाम आगये हैं। यह मिश्रण उसी प्रकार का है जिस प्रकार राम व कृष्ण हिन्दू शास्त्रों में भी है और जैन व बौद्धों के साहित्य में भी। अतः यह नौ नाथ तथा चौरासी सिद्धों की परम्परा शुद्ध ऐतिहासिक नहीं है—
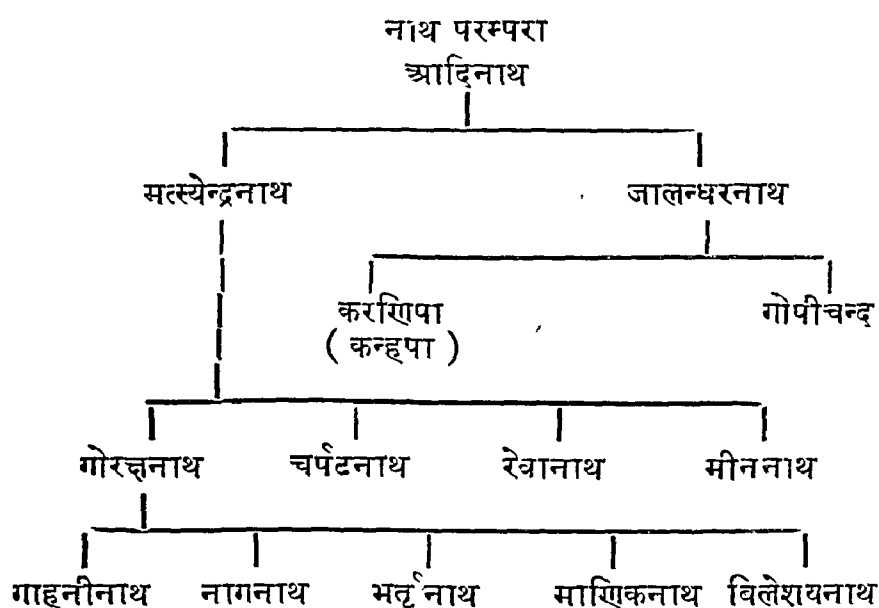
'नवनाथों' की सूचियाँ अनेक हैं, जिनमें आदिनाथ मत्स्येन्द्र-नाथ, गोरखनाथ, जलन्धरनाथ, मीन-नाथ आदि अधिक प्रसिद्ध हैं।

सिद्धान्त - नाथ-सम्प्रदाय के सिद्धान्त प्रायः अस्पष्ट हैं। इस सम्प्रदाय में योग-शक्ति से प्राप्त चमत्कार-प्रदर्शन की प्रवृत्ति सबसे अधिक है। चमत्कार प्रदर्शन एक प्रबल धार्मिक चेतना रही है, 'अथर्व वेद' के समय से ही यह प्रवृत्ति बढ़ती गई, ब्राह्मणों ने इन सबको महत्व देने के कारण ही अथर्व वेद को वेद ही स्वीकार नहीं किया। पाली साहित्य में भी 'इद्धि' (Occult Powers) तथा 'दस-बल' (ten powers) का उल्लेख है। पतञ्जलि ने योग द्वारा प्राप्त अनेक 'विभूतियों' का वर्णन किया है—अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकम्य, ईशत्व, वशित्व ये सिद्धियाँ योग से ही सिद्ध होती हैं। हठ योग से शरीर हलका हो जाता है, उसमें अनेक दैवी शक्तियाँ आ जाती हैं—माया अग्नि उत्पन्न करना, आकाश में उड़ना, सुवर्ण बना देना, रोग दूर कर देना, विष का प्रभाव नष्ट कर देना, आदि-आदि की शक्ति आ जाती है। गोरखनाथ ने ६ माह के बच्चे का रूप धारण कर उस स्त्री का दूध पिया जिसे शङ्कर ने वरदान दिया था कि वह गोरखनाथ को पति-रूप में प्राप्त करेगी।

गोरख ने गुरु मीननाथ को बचाने के लिए 'कदली प्रदेश में स्त्री का रूप धारण किया था। विश्वकर्मा से, तब गोरख ने आभूषण लिये थे। नाथसिद्ध प्रायः आकाशमार्ग से चलते थे। गोपीचन्द व मैनावती की कहानी में अनेक चमत्कारों का वर्णन आता है। वस्तुतः नाथपन्थ के साथ अनेक किम्वदंतियाँ जुड़ती गईं।

नाथों का उद्देश्य 'शिवत्व' की प्राप्ति है, यह प्राप्ति हठ-योग से ही हो सकती है। हठयोग तीन प्रकार का है १—मन्त्र-योग, २—लय-योग, ३—राज योग। ये तीनों मानसिक शक्ति पर अनुशासन से अधिक सम्बन्ध रखते हैं और हठयोग मुख्यतः शरीर को वश में लाने का आधार लेकर चलता है। इससे साधक को जीवन्मुक्ति की प्राप्ति होती है, इस अवस्था में 'अशुद्ध माया' दूर हो जाती है, परन्तु वह 'विशुद्ध-माया' से अवश्य सम्बन्धित रहती है। विशुद्ध माया धर्म की ओर प्रेरित करती रहती है। विशुद्ध माया में 'गुरुत्व' प्राप्त हो जाता है। अन्तिम स्थिति को 'परा-मुक्ति' कहते हैं। इस विशुद्ध माया की तुलना 'बोधिसत्व' से की जा सकती है। क्योंकि बोधिसत्वावस्था में भी विश्व के उद्धार के लिये ही बुद्ध जन्मजन्मान्तरों में क्रिया से युक्त रहते हैं।

शरीर दो प्रकार के हैं—अपक्व तथा पक्व। अपक्व योगाभ्यास हीन व्यक्तियों के शरीर हैं और पक्व योगियों के। पक्व योगी संसार के दुःखों से ऊपर उठ जाता है। इस अवस्था में वह दिव्य-देह या परा-मुक्ति को पा लेता है। जीवमुक्ति से परामुक्ति की प्राप्ति का वर्णन माहेश्वर-मत (शैवमत) के अनुकूल जान पड़ता है।

हठयोग 'अमरत्व' की प्राप्ति ही सिखाता है, जिससे साधक 'शिव' हो जाता है। सारी नाथपन्थी किम्वदन्तियाँ इसी ओर संकेत करती हैं। यम का कोई प्रभाव गोरख व गोपीचन्द पर नहीं पड़ता। कानूपा से मीनपा की कैद का समाचार सुनकर, एक स्त्री के पंजे से गुरु को छुड़ाने के लिये गोरख यम के पास जाते हैं और 'मीनपा' के जीवन नाश के लिये यम के द्वारा प्रयत्न पर उन्हें फटकारते हैं। गोरख यम को घसीटते हुये ब्रह्मा के पास ले जाते हैं, गोरख की 'हुँकार' सुनकर यम अपने लोकों सहित काँपने लगता है। यम के सारे कागजात

गोरख के सामने रख दिये जाते हैं और गोरख मृत व्यक्तियों की सूची से 'मीनपा' का नाम काट कर चले आते हैं। इससे भी मृत्यु पर विजय की कामना स्पष्ट है। इससे यह भी संकेतित है कि योगी को मीनपा की तरह स्त्री के प्रेम में न पड़ना चाहिये। कदली-भूमि के आकर्षण संसार के आकर्षणों के प्रतीक हैं, उनमें न फँसना चाहिये। 'मीनपा' दुर्गा के श्राप से इस उपदेश को भूल गया था। मीनपा को गोरख के द्वारा दिये गये उपदेशों के सम्बन्ध में दुर्गा के प्रश्नों से इस पन्थ के उद्देश्य पर प्रकाश पड़ता है।

दुर्गा—हे स्वामी! (शिव) आप अमर क्यों हैं? मैं क्यों नहीं? शिव उत्तर देते हैं कि मैंने हठयोग का उपदेश दिया था। जिसे मीननाथ ने मछली का रूप धारण कर सुन लिया था। गोपीचन्द्र को भी अमरत्व दिलाने के लिये 'मैनावती' ने प्रयत्न किया था।

अमरत्व प्राप्ति, काया-साधन आदि सामान्य तत्व होने पर भी बौद्ध सिद्ध, निर्गुणवादी हिन्दी के कवि, तथा वैष्णव सहजिया सम्प्रदाय के सिद्धान्तों में कुछ अन्तर रहा है। बौद्ध सिद्ध 'सहजानन्द' चाहते थे, निर्गुणवादी कवि प्रियतम के साथ एकाकार हो जाना, या ब्रह्म में मिल जाना ही मुक्ति मानते थे, वैष्णव-सहजिया पूर्ण प्रेम के रूप में परिणत होना चाहते थे जबकि हठयोगी 'अमरता'—मृत्यु पर जय पाने के इच्छुक थे। नाथपन्थी माहेश्वरत्व को पाने के लिये हठयोग के मार्ग पर चले। बौद्ध सिद्धों व नाथों के यौगिक अभ्यास में भी अन्तर था, जिसे हम आगे देखेंगे।

साधना—काया सिद्धि की प्राप्ति के लिये हठयोगी विभिन्न साधनायें करते थे, इसे 'उलटी-साधना' कहते थे, इसे उलटी-साधना इसलिये कहते थे क्योंकि इसमें प्राणवायु, कुण्डलिनी आदि को ऊपर की ओर—उलटी चढ़ाते थे जिनका स्वभाव स्वभावतः नीचे की ओर गमन करने का है। यह पिण्ड ही ब्रह्माण्ड का सूक्ष्म रूप है। जो ब्रह्माण्ड में है, वही शरीर में भी है। दो तत्व हैं शिव व शक्ति। शिव स्थिर तत्व है, शक्ति क्रियावान और चञ्चल है। शक्ति ही आवागमन का कारण है, वही परिवर्तन करती है। योगी का उद्देश्य इस शक्ति की निम्न-गामी प्रवृत्ति को रोकना है। उसकी गति को ऊपर की ओर ले जाने से ही

यह हो सकता है, इससे अधोमुखी 'शक्ति' ऊर्ध्व-मुखी होकर, गतिवान होकर नाना चक्रों को भेदती हुई शिव से मिल सकती है और तब शक्ति का कार्य समाप्त हो जायगा, शिवत्व की प्राप्ति हो जायगी, परिवर्तन रुक जायगा, अमरता प्राप्त हो जायगी।

नाभि के नीचे शक्ति का निवास है, नाभि के ऊपर शिव का। प्रथम को प्रवृत्ति तथा दूसरे को निवृत्ति कहते हैं। मेरुदण्ड के नीचे के भाग में, गुदा के ऊपर, नीचे मुख किये कुण्डलिनी, जो कि शक्ति की प्रतीक है, अवस्थित है, जबकि शिव सहस्रार चक्र में (हजार पंखुरियों वाले कमल में) स्थित है। मूलाधार चक्र (सुषुम्ना के नीचे) तथा मस्तिष्क में स्थित सहस्रार चक्र के बीच में यह सारी सृष्टि बिखरी हुई है। योगी का कर्त्तव्य है कि वह गति, क्रिया तथा परिवर्तन के प्रतीक निम्नतम चक्र से शक्ति को उठाकर शान्त अवस्था में स्थित शिव तक पहुँचादे ताकि शक्ति का शिव से मिलन हो जाये अर्थात् मनुष्य अशान्त अवस्था से ऊपर उठकर शांत-स्थिर अमर दशा को प्राप्त हो जाये। हम देख चुके हैं कि 'प्रवृत्ति' शब्द महायान सम्प्रदाय में भी प्रयुक्त हुआ है।[1] जब मनुष्य में उच्च बनने की भावना जगती तो मनुष्य के हृदय से अशांति जाती रहती है, साधारण जीव 'असुर-पंथ' पर चलने के कारण कभी शांति प्राप्त नहीं कर सकते। क्योंकि वे बाहर शान्ति खोजते हैं। यद्यपि वह पिण्ड के भीतर ही मिल सकती है। योग में शांति को 'क्षेम' कहा गया है जो पुलिस मैन की तरह शरीर के पापों को कैद कर लेती है।

इस 'क्षेम' की प्राप्ति के लिये मन पर अधिकार आवश्यक है, प्राणायाम से ही यह हो सकता है। नाथ मत में 'प्राणायाम' का महत्व बहुत अधिक है।

सिद्ध साधना पद्धति में शरीर की रचना कर्म, काम, चन्द्र, सूर्य तथा अग्नि द्वारा होती है। इसमें प्रथम दो शरीर की दशायें हैं। अन्तिम तीन तत्वों से शरीर बनता है। इनमें सूर्य व अग्नि एक ही तत्व है अतः सूर्य व चन्द्र ही शरीर-सृष्टि के उपादान कारण हैं। चन्द्र रस व सोम का प्रतीक है और सूर्य अग्नि का अतः शरीर को अग्नि व सोम की उपज कहते हैं। (यहाँ नाथ पंथ पर वैदिक प्रभाव

१—महायान सूत्रालङ्कार।

स्पष्ट है) रस या सोम उपभोग्य है, अग्नि भोक्ता है, पुरुष का वीर्य अग्नि है और स्त्री की रज सोम। सोम में अनेक कलायें होती हैं जो अमृत से पूर्ण हैं। सूर्य में प्रकाश रहता है।

चन्द्र को स्थिरता तथा अमरता का प्रतीक माना गया है, वह शिव के निकट रहता है, 'सूर्य' अस्थिरता तथा परिवर्तन का प्रतीक है जो शक्ति के साथ रहता है। इस प्रकार शिव व शक्ति के साथ चन्द्र व सूर्य मिलते हैं। चन्द्र में अमृत तथा सूर्य में 'कालाग्नि' रहती है। चन्द्र मनुष्य के शीश में स्थित सहस्रार-कमल के कुछ नीचे स्थित है। सूर्य मूलाधार चक्र में स्थित है। वीर्य-बिन्दु के दो रूप हैं पाण्डुरबिन्दु तथा लोहित-बिन्दु। प्रथम 'शुक्र' (वीर्य) के समान है तथा दूसरा 'रज' के समान। पाण्डुर या श्वेतबिन्दु चन्द्र में रहता है और 'रज' सूर्य में रहती है। रज शक्ति है। इस प्रकार स्पष्ट है कि चन्द्र व सूर्य का सिद्धान्त शिव व शक्ति से मिला दिया गया है, अर्थात् प्रतीक रूप में चन्द्र व सूर्य शिव व शक्ति के स्वरूप को ही बताते हैं।

कहीं-कहीं सूर्य को रुद्र भी कहा गया है, यह सूर्य मूलाधार चक्र में बाड़व के मुख पर स्थित है। सात निम्न लोक हैं, सात उच्च लोक, ये 'षटल' कहलाते हैं। जब तक कालाग्नि या सूर्य नीचे के लोक में रहता है तब तक सृष्टि क्रिया चलती रहती है परन्तु जब यह ऊपर को गतिमान होता है तो विघटन प्रारम्भ हो जाता है। सूर्य व चन्द्र के सिद्धान्त बौद्ध सिद्धों में अग्निमय शक्ति से पूर्ण 'निर्माण-काया' के रूप में स्वीकृत हैं, यहाँ सहस्रार चक्र है, वहाँ उष्णीश-कमल, यहाँ मूलाधार चक्र सुषुम्ना के नीचे के छोर पर मानते हैं वहाँ नाभि के पास।

हठयोग का लक्ष्य है चन्द्र व सूर्य का मिला देना। 'ह' का अर्थ है सूर्य और 'ठ' का अर्थ है चन्द्र। सूर्य व चन्द्र की एकता ही 'हठयोग' है। इसका अर्थ है सृष्टि को उलटे क्रम से प्रारम्भ की ओर, लय की ओर ले चलना। प्राणायाम द्वारा प्राण और अपान वायु को वश में करके कुण्डलिनी शक्ति को जगाया जाता है। नाड़ियाँ तीन हैं इड़ा, पिङ्गला, सुषुम्ना। सुषुम्ना बीच में है, दोनों ओर इड़ा और और पिङ्गला हैं। सहस्रार के नीचे चन्द्र से लेकर तालू तक शंखिनी नामक स्थान है। इसे 'बङ्क-नाल' कहा गया है। इसी से होकर चन्द्रमा

से निकला हुआ 'महारस' या अमृत का मार्ग है। यह सर्प के समान है जिसके दोनों ओर मुख है। शङ्खिनी का मुख 'दशम द्वार' कहलाता है। चन्द्रमा से निकला हुआ अमृत इसी द्वार से आता है। चन्द्रमा से निकलकर अमृत रस दशमद्वार से होकर तालू में आता है जहाँ योगी जीभ को उलट कर पहुँचाता है और अमृत का पान कर अमर हो जाता है।

इस 'दशमद्वार' का वर्णन कबीर में भी मिलता है। ऐसा माना जाता है कि चन्द्रमा से सदा अमृत झरता रहता है और दशमद्वार से आकर तालू से सूर्य या कालाग्नि में टपकता रहता है और सूर्य की अग्नि से सूखता रहता है। अतः शरीर रोग शोक अक्षेम तथा मृत्यु का शिकार बनता रहता है। साधक को चाहिये कि चन्द्र से टपकते हुये अमृत को कालाग्नि में पतित होने से बचाये और उसे स्वयं पानकर अमर हो जाये। दशमद्वार बन्द कर दिया जाय या रक्षित रहे।

खेचरी मुद्रा—कालाग्नि से अमृत की रक्षा के लिए 'खेचरी मुद्रा' की आवश्यकता है। इसमें जीभ को उलट कर तालु में दशम द्वार पर लगाया जाता है और दृष्टि को त्रिकुटी के बीच में स्थिर किया जाता है। इस प्रकार जीभ से दशम द्वार बन्द हो जाता है और चन्द्र से झरित अमृत को योगी ही पीता है। अतः 'खेचरी मुद्रा' की अत्यधिक प्रशंसा की गई है। कहा गया है कि योगी की इस मुद्रा में स्थिति हो जाने के बाद यदि कठोर से कठोर परीक्षा ली जाये तो वह अडिग रहता है। वह स्त्री के आलिङ्गन से अप्रभावित रहता है। अतः मुद्राओं द्वारा अमृत पान की यौगिक क्रियायें ही मुक्ति की दात्री हैं।

कतिपय ग्रन्थ चन्द्र से अमृत का सदा झरते रहना नहीं मानते। उनके अनुसार मूलाधार चक्र स्थित कुण्डलिनी को जगा कर जब सहस्रार में पहुँचाया जाता है तभी चन्द्र से अमृत झरता है अन्यथा नहीं। कभी-कभी स्वयं कुण्डलिनी ही अमृत पीती है—यह भी कहा गया है। अमृत को 'अमृत वारुणी' भी कहा जाता है। कबीर में इस वारुणी के खुमार का वर्णन है। सिद्धों की तरह इसीलिए प्रतीक रूप में कहा जाता है (१) शराब पियो—चन्द्र से झरित अमृत पियो। (२) माँस खाओ, जीभ को उलट कर तालू पर लगाओ आदि।

चन्द्रमा में सोलह कलायें कही गई हैं, चन्द्र का अमृत जब सूर्य में गिर कर नष्ट हो जाता है तो यह कहा जाता है कि राहु (सूर्य) ने चन्द्र को ग्रसित कर लिया। चन्द्रमा की कलाओं का अस्त होना तथा पुनः उदित होना ही तिथियों की उत्पत्ति का कारण है। पूर्णिमा, अमावस्या के नाम देकर भी साधना का प्रतीकात्मक वर्णन किया गया है।

स्त्री व पुरुष

सूर्य, शक्ति स्त्री है तथा चन्द्र—शिव—पुरुष है। स्थूल रूप में पुरुष स्त्री के बन्धन में बँध जाता है। वही दशा पिण्ड में है। सूर्य रूपी स्त्री के हाथों चन्द्रमा का सारा अमृत नष्ट हो रहा है। शक्ति मोहक है, पुरुष बँध जाता है, अतः नाथ पूर्ण ब्रह्मचर्य में आस्था रखते हैं। वल्लभाचार्य का मत तथा योगी दोनों दो विपरीत किनारों पर हैं। वल्लभ मतावलम्बी विवाह करते थे और सन्तान भी उत्पन्न करते थे, किन्तु योगी ब्रह्मचर्य का पालन ही आदर्श मानते हैं। इसीलिए 'सूर' ने भ्रमरगीत में योगियों की कड़ी आलोचना की है।

स्त्री के आकर्षण-वश होकर साधक अपनी शक्ति खो बैठता है, इसीलिए नाथों ने स्त्री को साधना के लिये सबसे अधिक घातक कहा है। वह नर्क का द्वार है। सिद्धोने योगिनी—स्त्री के साथ काम क्रीड़ा के द्वारा ही 'दृढ्त्र' को प्राप्त करने का प्रयत्न किया था, किन्तु नाथों के योग में स्त्री को दूर रखने का ही उपदेश है। मीननाथ कदली-प्रदेश में स्त्री के जाल में फँस गये थे और तब उनके शिष्य गोरख ने उन्हें उस पाश से छुड़ाया था—

जाग मछन्दर गोरख आया।

स्त्री जादूगरनी है, वह बाघिन के समान मनुष्य का रक्त पान करती है, वैयक्तिक साधना की सफलता को ध्येय मान कर चलने वाले नाथों ने स्त्री को कोई महत्व नहीं दिया। गोरख ने कहा है कि स्त्री की श्वास के स्पर्श से मनुष्य का शरीर सूख जाता है, यौवन क्रमशः नष्ट होता जाता है। वे लोग मूर्ख हैं जो कुछ नहीं समझते और घरों में रक्त की प्यासी बाघिनी स्त्री को रखते हैं। रात्रि में यह मनुष्य का रक्त चूसती है, दिन में जादूगरिनी बन जाती है। यह दूध चुरा लेती है, उसे उबालती है मृत्यु रूपी बिल्ली उसे पीने के लिए पास आकर बैठ जाती है।

दूध का तत्त्व तो पृथ्वी पर फेंक दिया जाता है और केवल रिक्त पात्र आकाश में स्थिर रहता है (गोरख के गीत, 'धर्ममङ्गल' से)। कबीर आदि सन्तों का भी स्त्री के प्रति यही दृष्टिकोण था। नाथों ने स्त्री को चोर, डाकू, प्यासी शेरनी तथा मक्कार बिल्ली तक कहा है। किन्तु एक बात स्पष्ट हो जानी चाहिए। जब बिना शक्ति व शिव के मिलन के अमृत तत्त्व नहीं मिलता तो स्त्री की निन्दा क्यों? उत्तर होगा साधन मार्ग में ब्रह्मचर्य की आवश्यकता है, बिना इन्द्रिय-जयी हुये हठयोग असम्भव है। अतः साधना की दृष्टि से स्त्री की निन्दा है, सृष्टि की दृष्टि से उसका महत्व नाथ-पन्थ में भी अक्षुण्ण है। तुलसी भी नारी की निन्दा वैरागी प्रवृत्ति के कारण ही करते हैं, सामाजिक दृष्टि से वे 'सीता' को आदर्श मानते हैं। नाथों के पास वह सामाजिक दृष्टि न थी अतः वे साधना को ही ध्यान में रखकर स्त्री की सदा निन्दा करते रहे। स्वयं 'मेनावती' ने गोपीचद्र को जो उपदेश दिया है उसमें गोरख से भी अधिक भयङ्कर शब्दावली में स्त्री को गालियाँ दी गई हैं।

मैनावती ने अपने पुत्र को स्त्री के पंजे से छुड़ाने के लिये ही विरक्ति उत्पन्न करने के लिये ही स्त्री की निन्दा की है। एक स्त्री अपनी जाति की निन्दा कैसे कर सकती है? किन्तु मैनावती सामान्य स्तर से ऊँची उठ चुकी थी वह तो साधना के उच्च स्तर पर थी और तब सामन्ती समाज में फैली हुई घोर व्यक्तिगत चिंतन-पद्धतियों से प्रभावित मैनावती में "नारियों के अधिकार" की भावना जग भी नहीं सकती थी। स्त्री के प्रति इसी दृष्टि-कोण ने निर्गुण स्कूल को प्रभावित किया था।

स्त्री के आकर्षण से विरत होने का मार्ग 'हठयोग' है। चक्र-हठ योग में बिन्दु या वीर्य, वायु तथा मन को वश में लाने की पद्धति बताई गई है। यदि इन तीनों में से एक भी वश में आजाये तो शेष दोनों स्वयं वश में आजाती हैं। मेरुदण्ड के मूल में सूर्य व चन्द्र के बीच एक स्वयंभू लिंग है, जिसे पश्चिम लिंग कहते हैं। यहीं से वीर्य या रज का स्खलन होता है। वीर्य या रज स्खलन में जो आनन्द मिलता है वह घातक है, अतः साधक को वीर्य को ऊपर की ओर ले जाना चाहिये तभी सहजानन्द की प्राप्ति होगी। ब्रह्मचर्य से बिन्दु को ऊपर की ओर गतिमान किया जा सकता है, इसके लिए षटकर्म द्वारा

नाड़ियों की शुद्धि अनिवार्य है, धौति, वस्ति, नेति, त्राटक, नौलि और कपालभाति ही षटकर्म हैं। इससे सुषुम्ना का मार्ग स्वच्छ हो जाता है और विन्दु में स्थिरता आ जाती है।

शरीर की नाड़ियों में दाहिनी ओर की नाड़ियाँ सूर्य तथा वाँयी ओर की नाड़ियाँ चन्द्र की अङ्ग मानी गई हैं, वीच में सुषुम्णा है। योगी प्राणायाम के अभ्यास से दायीं वायीं नाड़ियों को वन्द कर देता है अतः प्राणवायु केवल सुषुम्णा के मार्ग से ऊपर जाती है, फलतः मूलाधार स्थित कुण्डलिनी भी उद्‌बुद्ध हो उठती है। इसी समय स्फोट या नाद होता है और प्राण स्थिर हो जाते हैं, अनेक अनहद-ध्वनियाँ योगी सुनने लगता है।

अनहदनाद—इसमें समुद्र, मेघ, भेरी, झाँझ का शब्द पहले सुनाई पड़ता है फिर शंख, घंटा, काहल, आदि का। परन्तु अनहद-नाद अन्तिम अवस्था नहीं है। आत्मा स्थिर होते ही ये शब्द नहीं सुनाई पड़ते।

षटचक्र—कुण्डलिनी मूलाधार चक्र से षटचक्रों को वेधती हुई सहस्रार चक्र स्थित शिव से मिलती है। मेरुदण्ड के नीचे चार दलों का मूलाधार चक्र है। यह प्रथम चक्र है। द्वितीय चक्र नाभि के पास स्वाधिष्ठान चक्र है जो छः दल वाले कमल के आकार का है। इसके वाद "मणिपुर चक्र" है जो दस दलों के आकार का है तथा उसके ऊपर हृदय के पास अनाहत चक्र है जो वारह दलों के आकार का है। फिर कण्ठ के पास विशुद्धाख्य चक्र है जो १६ दल का है। भ्रूमध्य में 'आज्ञा' नामक चक्र है जिसमें "दो दल" ही हैं। दल कुल मिलाकर ५० हैं। यही स्वर व व्यञ्जनों की संख्या भी है। प्रत्येक कमल में एक एक देवता रहता है। इन सवके वाद मस्तिष्क में शून्य चक्र है जो सहस्रार-चक्र भी कहलाता है। यह १००० दलों वाले कमल के आकार का है। यहीं शिव रहता है। हम आचार्य द्विवेदी के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'नाथ सम्प्रदाय' में दी हुई तालिका को यहाँ प्रस्तुत करते हैं इससे यह चक्र-विधान स्पष्ट हो जाता है।

योग के चार प्रकार हैं मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग। मन्त्रयोग में कहा है कि श्वास लेने में 'ह' और 'स' वर्णों का

चक्र	स्थान	दल संख्या	वर्ण	तत्व व गुण	तत्व का रङ्ग	मंडल का आकार	बीज और वाहन	देवता वाहन	धातु शक्ति	लिंग और योनि	अन्यत्र तत्व, इन्द्रिय	पीठ
मूलाधार	मेरुदंड के नीचेसिरेके पास, लिंग गुदाकेमध्य	४	व, श, ष, स	पृथ्वी आकर्षण गन्ध	पीत	वर्गाकार	लं ऐरावत	ब्रह्मा हंस	डाकिनी	स्वयं भू त्रैपुर त्रिकोण	बोध तत्व घ्राणेन्द्रिय पैर	कामाख्या
स्वाधिष्ठान	कुछ ऊपर (लिङ्ग के ऊपर)	६	ब, भ, म य, र, ल,	जल संकोचन रस	श्वेत	अर्द्ध चन्द्र	व मकर	विष्णु गरुड़	शाकिनी	....	रसतत्व रसना, हाथ	
मणिपुर	नाभि के पास	१०	ड ढ ण न त थ द ध प फ	तेजप्रसरण रूप	लाल	त्रिभुज	रं मेष	रुद्र वृषभ	लाकिनी	....	रूप तत्व, चक्षु, पायु	
अनाहत	हृदय के पास	१२	क, ख, ग, घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ	वायु गति स्पर्श	धूम्र	षट् कोण	य कृष्ण मृग	ईश	काकिनी	वाण त्रिकोण	स्पर्श, त्वचा उपस्थ	पूर्णगिरि
विशुद्धाख्य	कण्ठ के पास	१६	अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः	आकाश अवकाश शब्द	श्वेत	वृत्त	ह श्वेत हस्ती	सदाशिव	शाकिनी	....	शब्द कान्, वाक्	जालन्धर
आज्ञा	दोनोंभ्रुवों के मध्य में	२	ह क्ष	मन	....	....	ओं	शम्भु	हाकिनी	इतर त्रिकोण	महत्, सूक्ष्म प्रकृति हिरण्यगर्भ	उड्डियान
शून्य या सहस्रार	मस्तिष्क में	१०००										

उच्चारण होता है, कुण्डलिनी जगने पर यही मन्त्र सुषुम्णा में सोऽहं हो जाता है। और योगी परमतत्व के साथ अभेद अनुभव करता है, यह हठयोग हुआ। इसके बाद पवन स्थिर हो जाता है, यह 'लययोग' है। एक और भिन्न मार्ग राजयोग है। स्त्री की योनि में जपा या बन्धूक पुष्प के समान लाल रज होती है, यह देवी है। इस रज के साथ रेत या शुक्र का योग, राजयोग है। शुक्र का अर्थ शिव व रज का अर्थ शक्ति है, यह उसके प्रतीकात्मक अर्थ हैं।

१६ आधार—षट चक्रों के साथ, १६ आधारों पर गोरख ने जोर दिया है। इनमें दृष्टि को स्थिर करने, अग्नि को प्रदीप्त करने, मल-मूत्रादि के विनाश आदि के लिये निम्न १६ आधार हैं। पादांगुष्ठ, मूलाधार, गुह्याधार, विन्दुचक्र, नादोत्पादक, नाभिमण्डलाधार, हृदयाधार, कण्ठाधार, क्षुद्रघण्टिकाधार, तालवन्ताधार, रसाधार, ऊर्ध्वदन्तमूल, नासिकाग्र, नासामूल, भ्रमध्याधार, तथा नेत्राधार।

पाँच आकाश—१–श्वेतवर्ण ज्योतिरूप आकाश है जिसके भीतर २–रक्तवर्ण ज्योतिरूप प्रकाश है, इसके भीतर ३–धूम्रवर्ण महाकाश, इसके भीतर ४–नीलवर्ण ज्योतिरूप तत्वाकाश है और इसके भी भीतर ५–सूर्याकाश है।

आसन, प्राणायाम तथा विभिन्न मुद्राओं से इनकी प्राप्ति होती है। गोरख के अनुसार हठयोग जानने के लिये, ६ चक्र, १६ आधार, दो लक्ष्य, तथा व्योमपञ्चक का जानना आवश्यक है। इनको जान कर पिण्ड व ब्रह्माण्ड दोनों का ज्ञान हो जाता है। शिव व शक्ति स्थूल सृष्टि के रूप में अलग-अलग स्थित हो गये हैं। यदि दोनों 'समरसावस्था' में आजायें तो सृष्टि लय हो जाये, कुण्डलिनी को शून्य चक्र तक पहुँचाने से ही ऐसा सम्भव है। कुण्डलिनी दो प्रकार की है। स्थूल और सूक्ष्म। इनमें सूक्ष्म कुण्डलिनी को लोग नहीं जान पाते। सिद्धियाँ तो स्थूल कुण्डलिनी की साधना से मिल जाती हैं। 'सूक्ष्म' की साधना से परा-संवित् अर्थात् माहेश्वरी शक्ति की सिद्धि हो जाती है, पिण्ड व ब्रह्माण्ड की एकता हो जाती है। यह वेदों के अध्ययन, आचारों के अनुगमन तथा ज्ञान से भी नहीं प्राप्ति होती यह केवल हठयोग की साधना से गुरु की कृपा से ही 'परमपद' की प्राप्ति

हो सकती है। ❀

सिद्धान्त—साधना के पश्चात् हम नाथपन्थ के 'दर्शन' पर विचार करेंगे। इस प्रपञ्च का नियामक व स्रष्टा 'परम शिव' है। सृष्टि की इच्छा होने पर वे 'सगुण' कहलाते हैं, परम शिव से दो तत्त्व उत्पन्न होते हैं शिव व शक्ति। शक्ति पूर्ण रूप से स्फुरित होने की अवस्था को प्राप्त करते करते चार स्थितियों से गुजरती है। ये स्थितियाँ परा, अपरा, सूक्ष्मा और कुण्डली हैं। इन स्थितियों में शिव के नाम क्रमशः परम-शून्य, निरञ्जन और परमात्मा हैं। शक्ति का अन्तिम विकसित रूप 'कुण्डली' है। ये पाँचों अवस्थायें इस प्रकार हैं—

१—निजा—परम शिव के साथ संयुक्त।

२—परा—स्फुरण या विकास की ओर उन्मुख।

३—अपरा—स्पन्दित होना।

४—सूक्ष्मा—'मैं' अर्थात् अलगाव का भाव आ जाना।

५—कुण्डली—अपने अलगाव के विषय में पूर्ण रूप से सचेत हो जाना। इन पाँचों अवस्थाओं में शिव भी पाँच रूप धारण करते हैं।

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसे यों समझाया है—
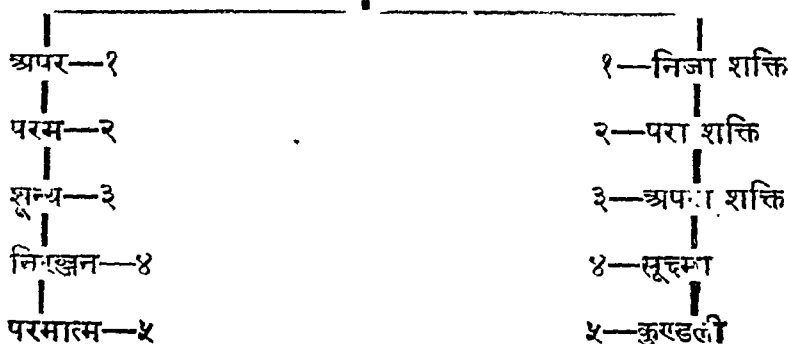
कुण्डली शक्ति स्थूलता की ओर बढ़ती जाती है, तीन तत्त्व स्फुरित हो जाते हैं सदाशिव, ईश्वर और शुद्ध विद्या। सदाशिव में 'अहं'

❀ विस्तृत विवेचन के लिये देखिये 'नाथ सम्प्रदाय' डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा 'गोरखनाथ और उनका युग' डा० रांगेय राघव।

ईश्वर में 'इदं' तथा शुद्ध विद्या में दोनों तत्वों का अहं + इदं का मिश्रण रहता है। अहंकार पाँच अवस्थाओं से होता है—परमानन्द, प्रबोध, चित् उदय, प्रकाश और सोऽहं। इन्हीं आनन्दों से शरीर बना है। गर्भ खण्ड में ७२ हजार नाड़ियाँ, पञ्चप्राण, नौ चक्र, सोलह आधार होते हैं इसके अतिरिक्त दशद्वार, दस नाड़ियाँ (इड़ा, पिङ्गला, सुषुम्ना, गांधारी, हस्तिजिह्वा, शङ्खिनी, पूषा, अलम्बुषा, पयस्विनी, कुहू) होती हैं। आद्य-पिण्ड में पञ्चभूत तथा अष्ट मूर्ति में—शिव, भैरव, श्रीकण्ठ, सदाशिव आदि हैं। सूक्ष्मता से स्थूलता की ओर सृष्टि होते-होते अन्तिम पिण्ड गर्भ-पिण्ड बनता है। तत्त्वों के इस संक्षिप्त विवेचन से स्पष्ट है कि शिव ही शक्ति के संयोग के कारण इस जगत के रूप में बदल गये हैं, संसार का प्रत्येक पिण्ड उसी प्रक्रिया से गुजरता हुआ अपने वर्तमान रूप में आया है जिससे ब्रह्माण्ड बना है। सत्व, रज, तम, काल और जीव की अधिकता व न्यूनता के कारण उनमें भेद प्रकट हो रहा है। अतः हठयोग का प्रथम सिद्धान्त स्पष्ट हुआ "जो पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड में है।"

नाथमत सिद्धान्ततः अद्वैतवादी है परन्तु शङ्कराचार्य से भेद बताने के लिये यह मत अपने को 'द्वैताद्वैत विलक्षणवादी' कहता है अर्थात् ऐसी सत्ता में विश्वास करना जिसे न द्वैत कहा जा सकता है; न अद्वैत, न द्वैताद्वैत। अतः उसे 'द्वैताद्वैत विलक्षण' ही कहना चाहिये। अर्थात् नाथमत अवाङ्‌मनसगोचर ब्रह्म में विश्वास करता है।

शाङ्कर वेदान्ती ब्रह्म की शक्ति माया को 'अनिर्वचनीय' तत्त्व मानते हैं। नाथमत में चित् स्वरूप ब्रह्म की शक्ति चित् स्वरूप ही होगी, अतः शक्ति भी चित्-स्वरूपिणी है वह, मिथ्या नहीं हो सकती। शिव व शक्ति से बना पिण्ड व ब्रह्माण्ड भी सत्य है। शैव-शाक्त आगमों में शक्ति व शिव दोनों को चेतन तत्व माना गया है। धर्मी व धर्म में भेद कैसे होगा? व्यवहार में वे भिन्न मान लिये जाते हैं, इस शक्ति को जगा देने से ही ज्ञान का प्रारम्भ हो जाता है और शिव के साथ संयोग हो जाने से 'कैवल्यावस्था' प्राप्त हो जाती है। यह शक्ति पिण्ड में ही है, बाहर नहीं। शक्ति की साधना—चक्रों को भेदती हुई ऊर्ध्वमुखी कुण्डलनी को ऊपर चढ़ाने की चर्चा हम कर चुके हैं।

नाथों ने 'माया' को बड़ी गालियाँ सुनाई हैं। शङ्कर की माया व नाथों की माया में अन्तर है। शंकर की माया अनिर्वचनीय तत्त्व है। नाथों के यहाँ 'माया' (शक्ति) कांचन-कामिनी-यश प्रतिष्ठा, अज्ञान आदि तत्वों का स्वरूप धारण करने वाली शक्ति है, जो शिवत्व की ओर उन्मुख नहीं होने देती। अतः नाथ 'माया' की खूब खबर लेते हैं। कबीर ने भी 'माया' को खूब कोसा है, परन्तु कबीर की 'माया' पर शङ्कर का प्रभाव अधिक है। उन्होंने जगत का मिथ्यात्व अधिक दिखाया है, उपनिषद् के सोऽहं, तत्त्वमसि आदि की चर्चा की है। कबीर का राम=ब्रह्म भी नाथों की तरह विलक्षण तत्त्व है। कबीर पर मुख्यतः हठयोग का प्रभाव अधिक है।

हम यहाँ नाथ सम्प्रदाय के कुछ पदों का भाव प्रस्तुत करते हैं जिससे इस सम्प्रदाय की धारणाओं पर स्वयं प्रकाश पड़ेगा तथा 'कबीर' को समझने के लिये उचित भूमिका भी निर्मित हो जायगी।

बसती न सुन्यं सुन्यं न बसती, अगम अगोचर ऐसा।
गगन सिखर माहि बालक बोले, ताका नाव धरहुगे कैसा ?

परमतत्व तक किसी की पहुँच नहीं है। वह इन्द्रियों का विषय नहीं है। वह ऐसा है कि न उसे हम बस्ती कह सकते हैं न 'शून्य'। न यह कह सकते हैं कि वह सब कुछ है और न यह कि वह कुछ नहीं है। वह भाव, अभाव, सत् और असत् दोनों से परे है। वह आकास-मण्डल में बोलने वाला बालक है अर्थात् पाप पुण्य से अछूते बालक के समान वह 'परमतत्व' है।

इस पद से 'ब्रह्म' नाथों की ब्रह्म विषयक धारणा स्पष्ट है जैसा पहले कहा है कि नाथ द्वैत, अद्वैत, सत, असत से विलक्षण तत्व को ही 'ब्रह्म' मानते हैं।

"वेद शास्त्रों—किताबी धर्मों की किताबें—जिस परब्रह्म पद का वर्णन नहीं कर सकतीं, उसे विरले योगी ही जानते हैं।"
"एक सूत्र से नाना रूप बने हैं, जो बहुत प्रकार से देखने में आते हैं"
"उत्पत्ति से हम हिन्दू हैं, जरणा के कारण जोगी और अकल से मुसलमानी पीर अर्थात् गुरु"।

उन्मनावस्था—"जो रात-दिन बहिर्मुखी मन को उन्मनावस्था में लीन किये रहता है, वह ब्रह्मा से भी बढ़ कर है।"

"जो अजपा का जाप करता है, शून्य में मन को लीन करता है वही योगी है"।

"आकाश मण्डल में (ब्रह्मरन्ध्र) में एक औंधे मुहँ का कुआँ है जिसमें अमृत का वास है जिसने अच्छे गुरु की शरण ली है वही उसमें से भर कर पानी पी सकता है"

"हे अवधूत! शरीर के नवों द्वारों को बन्द कर के वायु के आने जाने का मार्ग रोक लो। इससे चौंसठ सन्धियों में वायु का सञ्चार होने लगेगा। इससे कायाकल्प होगा और साधक सिद्ध हो जायेगा। हे अवधूत! प्राण को अनुशासन में लाओ, इससे उन्मनावस्था सिद्ध होगी, अनहदनाद रूपी तूर्य बज उठेगा औरै ब्रह्मरन्ध्र म प्रकाश चमक उठेगा।"

"हिन्दू देवालय में ध्यान करते हैं, मुसलमान मस्जिद में, किंतु योगी परमपद का ध्यान करते हैं, जहाँ न देवालय हैं न मन्दिर। हिन्दू कहते हैं राम है, मुसलमान कहते हैं 'खुदा' है किन्तु योगी जिस अलक्ष्य का आख्यान करते हैं वहाँ न राम है न खुदा।"[1]

"हे अवधूत! मनसा हमारी गेंद है, और सुरति (अन्तर्मुखीवृत्ति) चौगान, अनहद को लेकर मैं खेलने लगा। ब्रह्मरन्ध्र खेलने का मैदान है।"

"दण्डी वह है, जो 'आपा'[2] (अहङ्कार) को दण्डित करता है, कामना को खण्डित करता है।"

"अवधूत! यह शरीर बन्दूक है, पवन बारूद है, अनहदरूप आग जगा देने से, बिन्दु रूप गोला, ब्रह्मरन्ध्र में चला जाता है।"

"मुल्लाओं ने कुरान पढ़ा, ब्राह्मणों ने वेद। कापड़ी और संन्यासियों को तीर्थों ने भ्रम में डाल रक्खा है, इनमें कोई 'निर्वाण' के भेद को नहीं जानता।"

---

१ कबीर ने रामानन्द से 'राम नाम' की दीक्षा ली थी परन्तु नाथपन्थ के प्रभाव के कारण उसे अज्ञेयतत्व के रूप में ही वर्णित किया है। नाथमत का 'परमतत्व' ही कबीर का 'राम' है—दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना, राम नाम का मरम है आना।

२ कबीर ने भी 'आपा' शब्द का प्रयोग किया है।

"काल कहता है कि खड़े, बैठे, जागते, सोते, प्रत्येक दशा में मैं मार सकता हूँ, चारों ओर मैंने तीनों लोकों में स्त्री की योनि रूप जाल पसार दिया है, उससे बच कर कहाँ जाओगे ?"

"शृङ्गीनाद कौन करे, वह बजे या न बजे, अनाहतनाद बजता रहे।"

"जिनके बड़े-बड़े कूल्हे और मोटी तोंद होती है उनकी गुरु से भेंट नहीं हुई है।"

निरञ्जन—"न उदय है न अस्त, न रात न दिन, सृष्टि में भिन्नता का भाव कहाँ ? वही शुद्ध निरञ्जन ब्रह्म रह जाता है, वह सर्वव्यापी है, न सूक्ष्म न स्थूल।"

मुक्ति—न निरति है न सुरति है, न योग है न भोग है, न जरा न मृत्यु, न रोग, न वाणी, न ओंकार, केवल 'कैवल्य' अवस्था है।

"गुरु लोहे के समान है, योग युक्ति ताँबे के समान, मुहम्मद चाँदी और खुदा सोने के समान है, लोहा व ताँबा सबके लिये है, चाँदी व सोना काम की वस्तुएँ नहीं केवल शोभा मात्र हैं, इन्हीं दोनों मुहम्मद व खुदा के बीच दुनियाँ गोते खा रही है।

पहचान—अग्नि व पानी में जैसे लोहा शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार जब नाना कठोर साधनाओं से योगी शुद्ध हो जाता है, जब राजा व प्रजा में उसे समदृष्टि हो जाती है तब उसे निष्पत्ति का वेश मिलता है।

"योनि मुख में जो बिन्दु की रक्षा करे, अग्नि के ऊपर जो पारे की रक्षा करे, वही हमारा गुरु है।"

"अघाकर खाना भी मौत है, बिल्कुल न खाना भी मौत है, मध्यम मार्ग ही ठीक है।"[1]

"हे अवधूतो ! माँस खाने से दया-धर्म का नाश होता है, मदिरा पीने से प्राण में नैराश्य छा जाता है, भाँग के प्रयोग से ज्ञान-ध्यान नष्ट हो जाता है, ऐसे लोग यम के दरबार में रोते हैं। जो

---

१ इससे स्पष्ट है कि कबीर इसी मध्यम मार्ग—सहज मार्ग के उपदेशक थे, कबीर योग का वर्णन करते हुये सरल जीवन का ही उपदेश देते हैं।

अफीम खाता है और भाँग भक्षण करता है उसको बुद्धि कहाँ से आयी। भाँग खाने से पित्त बढ़ता है, और वायु उतरती है अतः गोरख ने भाँग नहीं खाई।"

"नींद से वीर्य का नाश होता है, चलने से थकावट आती है, बेकाम रहने से खटपट सूझती है, खड़े रहने से उत्पात होता है। अतः सहज-समाधि में लीन हो जाओ।"

"जीव हत्या क्यों करते हो, मन रूप मृग को मारो।"

"शून्य ही माता-पिता है वही निरञ्जन है, उसके परिचय से स्थिरता प्राप्त होती है"

"बिन्दु-बिन्दु बोलते सब हैं पर 'महाबिन्दु' को कोई विरला ही जानता है।"

पवन मन्त्र का मूल ओंकार है। उसी से सारी सृष्टि की धारा टूटी है। ओंकार ही जगत में व्याप्त है।

"ओ३म् शिव को नमस्कार है, "सोऽहं हंसा" का जाप साँसों के द्वारा हो रहा है। इस वायु मन्त्र को ओंकार ने उत्पन्न किया है।"

रहस्यवाद—हे जोगी (मन) तेरे सासु ससुर किस स्थान के हैं तेरा निवास स्थान कहाँ है।*

गाय (आत्मा) है, नौ बछड़े (नवरंध्र) हैं। पाँच दुहने वाली (इन्द्रियाँ) हैं।

एक भील (आत्मा) जिसके हाथ नहीं है, दाँत भी नहीं हैं, उसने बिना धनुष मृग (मन) को मार डाला।

नगर काया, मन कोतवाल है। नगर तीन सौ साठ पत्थरों (हड्डियों) से बना है, १६ खाइयाँ हैं, ९ दरवाजे (नवरन्ध्र) दिखाई पड़ रहे हैं पर दसवाँ नहीं दिखाई पड़ता। दुर्गपर लकड़ी से ७२ कोठरियाँ बनाई (नाड़ियाँ) गई हैं, नवों द्वारो पर साँकलें चढ़ी है, अनाहत नाद रूपी घड़ियाल बज रहा है, परमज्योति के दीपक जल रहे हैं।"×

चींटी (ब्रह्म) की आँखो में हाथी (विश्व) समा गया। गाय

* मिलाइये "साईं के घर सासुर आई"—कबीर

× जायसी के सिंघलगढ़ वर्णन से तुलना करिये।

के मुहँ में (भौतिक जीवन) वाघिन (आध्यात्मिक-ज्ञान) बच्चे दे रही हैं।

"मौला, अल्लाह एक है। कुरान ने दो कर दिये,"

'काया दुर्ग के भीतर ६ लाख खाइयाँ हैं, यह दुर्गम स्थान पर स्थित है। यहाँ अनेकों पर्वत हैं, पानी सुरक्षित जगह पर है (त्रिकुटी से अमृत की धार गिरती है)"

"बछड़ा (मूलाधार में स्थित सूर्य) अमृत का शोषण कर रहा है, इसे बाँधो।"

"गुणहीन स्त्री (माया) से प्रेम कर रात बितादी। जागो। माया वृक्ष के समान मिथ्या है, न शाखा है न जड़, न पत्ते न छाया। पंगु उसे बिना जल के सींचता है, फल कहाँ से मिलेगा? चींटी (माया) ने पर्वत (आत्मा) को गिरा दिया, गाय (माया) ने वाघिन को खालिया, खरगोश (माया) समुद्र को लाँघ गया, इससे बचो।"

पातञ्जलि योग और नाथमत

योग आर्येतर आदिवासियों की साधना से विकसित हुआ है। सुनते हैं कि 'हिरण्यगर्भ' ने पतञ्जलि को इसका उपदेश दिया था। उपनिषदों में इसके तत्त्व बिखरे पड़े हैं। पतञ्जलि के सूत्र इस 'योग दर्शन' के अन्तिम विकसित अवस्था के प्रतीक हैं। इन सूत्रों के चार पाद हैं—

१—समाधिपाद, २—साधनपाद, ३—विभूतिपाद, ४—कैवल्यपाद।

पतञ्जलि चित्तवृत्ति के निरोध को ही योग कहते हैं। किन्तु सभी प्रकार का निरोध योग नहीं है। क्रोध की अवस्था में प्रेम की वृत्ति निरुद्ध होती है पर यह योग नहीं है। योग में तो चित्त का ऐसा निरोध ही योग माना जाता है जिसके होने से अविद्या आदि क्लेश नष्ट हो जायें। ऐसा योग दो प्रकार का है (१) संप्रज्ञात (२) असंप्रज्ञात प्रथम में सारी वृत्तियों का निरोध नहीं होता पर दूसरी में होता है।

समुद्र में तरङ्गों की भाँति चित्त में असंख्य वृत्तियाँ उत्पन्न होती रहती हैं—प्रमाण, विपर्यय (मिथ्या ज्ञान), विकल्प, निद्रा और

स्मृति। इनका पूर्ण निरोध असंप्रज्ञात अवस्था में होता है, इस अवस्था के उत्कृष्ट उपाय हैं, श्रद्धा, वीर्य, स्मृति और योगाङ्ग। इस अवस्था की अन्तिमकोटि में 'पुरुष' (आत्मा) अपने 'कैवल्य' स्वरूप को प्राप्त हो जाता है।

योग और सांख्य का घनिष्ट सम्बन्ध है। सांख्य ईश्वर को नहीं मानता, योग मानता है। अन्य बातें मिलती हैं अतः योग को सेश्वर सांख्य कहा है। सांख्य के अनुसार प्रकृति व पुरुष दो तत्त्व हैं। पुरुष चेतन स्वरूप, निष्क्रय, उदासीन और ज्ञाता है, प्रकृति जड़, त्रिगुणात्मिका और क्रिया करने में स्वतन्त्र। प्रकृति व पुरुष के साहचर्य से जड़ प्रकृति में विक्षोभ होता है। गुणों की साम्यावस्था, विषम अवस्था में बदल जाती है और सृष्टि होने लगती है। सांख्य चार प्रकार के पदार्थ मानता है—प्रकृति, प्रकृति विकृति, विकृति, न प्रकृति न विकृति। इनमें प्रथम तो स्वयं अव्यक्त प्रकृति ही है द्वितीय पदार्थ वे हैं जो प्रकृति और पुरुष के संयोग होने पर उत्पन्न होते हैं। अर्थात् बुद्धि अहंकार तथा पञ्चतन्मात्रायें। ये ही द्वितीय श्रेणी के 'प्रकृति विकृति' पदार्थ हैं। विकृति इसलिये हैं क्योंकि प्रकृति से उत्पन्न हैं और प्रकृति 'इसलिये क्योंकि ये तृतीय श्रेणी के 'विकृति' नामक पदार्थों को उत्पन्न करते हैं। चौथा पुरुष न प्रकृति है न विकृति। सृष्टि प्रक्रिया इस प्रकार है—
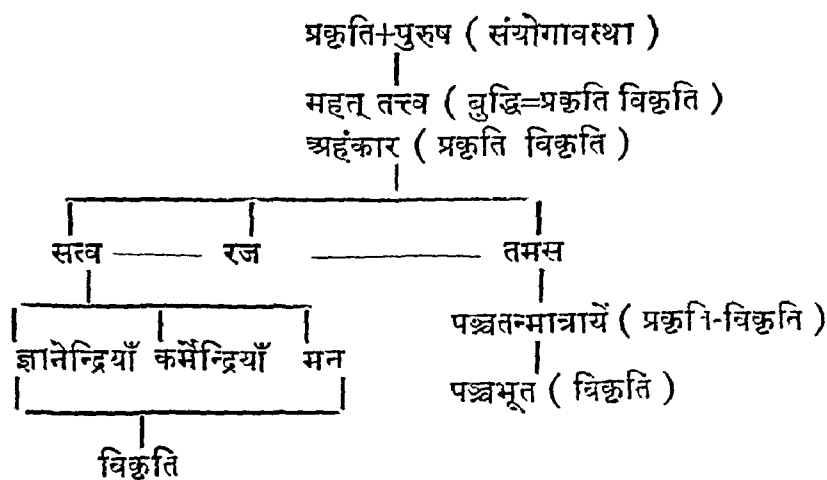
इस प्रकार प्रकृति+पुरुष (पुरुष=न विकृति न प्रकृति) + प्रकृति-

विकृति 'बुद्धि-अहंकार + पञ्चतन्मात्रा=७ + विकृति (पञ्चभूत + ११ इन्द्रियाँ) १६=२५ पदार्थ हैं।

इन २५ पदार्थों को 'योग' स्वीकार करता है, केवल ईश्वर तत्व और जुड़ा हुआ है। योग में चित्त अन्तःकरण को कहते हैं और अन्तः-करण में मन, बुद्धि और अहङ्कार तीनों सम्मिलित हैं।

इस 'चित्त' में अनेक वृत्तियाँ उत्पन्न होती रहती हैं। उनके सूक्ष्म-रूप 'संस्कारों' के रूप में रह जाते हैं। इनका भी विरोध होता है। विवेक की प्राप्ति के लिए, यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि की आवश्यकता है। इनसे कैवल्य की प्राप्ति हो जाती है।

पातञ्जलि योग की मुख्य देन उसका दर्शन नहीं अपितु उसकी साधन पद्धति है। यह साधन पद्धति आगे विकसित होकर 'हठयोग' में विकसित हुई। 'चित्त-निरोध' और काया-साधना' के विभिन्न मार्ग खोजे गये, नाना चक्रों, मुद्राओं के आविष्कार होते गये। कभी-कभी उनमें 'काम-वासना' का भी प्रयोग हो जाता था। बौद्ध सिद्धों में यह अधिक रहा परन्तु नाथों की शुद्ध साधन-पद्धति में स्त्री का प्रयोग वर्जित रहा। और इस प्रकार पतञ्जलि की साधन-पद्धति एक विशेष रूप में हठयोग में विकसित हुई। रामदास गौड़ कहते हैं कि "इस पन्थ वालों का योग-साधन पातञ्जलि विधि का ही विकसित रूप है। उसका दार्शनिक अंश छोड़ कर हठयोग जोड़ देने से नाथपन्थ की योग क्रिया हो जाती है।"

नाथमत और शब्दाद्वैतवाद—नाथ पन्थ तथा कबीर की कवि ताओं में नाद, बिन्दु, प्रणव, ओंकार आदि शब्दों का प्रयोग बराबर मिलता है। सभी योग मत वाले किसी न किसी रूप में 'शब्द' की उपासना करते हैं, इसे प्रणववाद या 'स्फोटवाद' भी कहते हैं। भर्तृहरि ने 'वाक् प्रदीप' में शब्दाद्वैतवाद का प्रवर्त्तन किया है। नाथ सम्प्रदाय में भी शब्द पर पूरा जोर दिया गया है।

वेदों में ही यह सिद्धान्त मिल जाता है, उपनिषदों में 'ओंकार' को ब्रह्म माना गया है। माण्डूक्योपनिषद में 'प्रणव' की महत्ता का वर्णन है। पतञ्जलि ने सर्व प्रथम 'स्फोट' शब्द का प्रयोग किया है।

विश्व के सारे पदार्थ विचारों के प्रतिबिम्ब मात्र हैं, बाह्य सत्ता अपर्याय है। (शङ्कर भी यही मानते हैं) 'शब्द' के ज्ञान विना ज्ञान अपने को प्रकाशित नहीं कर सकता। शब्द नित्य व अनादि है, वह सर्व व्यापक व नित्य है। शब्द की शक्ति अवर्णनीय है। शब्द ब्रह्म से ही विश्व की रचना हुई है। 'प्रणव' ही इस प्रपञ्च का आधार है। यह प्रपञ्च इसी 'शब्द' का विवर्त है, परिणाम नहीं। शब्द ब्रह्म की अनुभूति के लिये 'प्रणव' की उपासना आवश्यक है।

सब्दहिं ताला सब्दहिं कूँची, सब्दहिं सब्द समाया।
सब्दहिं सब्द से परचा भयो, सब्दहिं सब्द समाया॥

× × ×

गगन सिखर महिं सब्द प्रकास्या, तँह बूझै अलख विनाणी।

नाथमत तथा बौद्ध सहजयान—नाथ अमरत्व को तथा सिद्ध 'महासुख' को लक्ष्य मानते हैं। नाथ आवागमन के चक्र से मुक्ति पाने को, स्थूल शक्ति को दिव्य शरीर में परिवर्तन करने के लिए इच्छुक हैं। परन्तु 'महासुख' की प्यास में बौद्ध सिद्ध आवागमन को टालते हैं, जो 'शून्य' को समझ लेने से ही सम्भव है। और 'शून्य' भी तब समझ मे आता है जब 'महासुख' की प्राप्ति हो जाये। नाथ इस शरीर को नाश से बचाना चाहते हैं, अपने को अमर करना चाहते हैं, परन्तु सिद्ध यौन सम्बन्ध पर आधारित भोग-प्रक्रिया से—सामान्य काम तृप्ति को शाश्वत आनन्द में बदलना चाहते हैं। अमृत पीने की भावना सिद्धों में भी है ताकि 'स्कन्ध' अजर और अमर हो सकें। बोधिचित् के चन्द्र से झरित अमृत पान की इच्छा वहाँ भी है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि 'काया-साधना' का तत्व सिद्धों व नाथों में मिलता-जुलता है। 'वारुणी' सिद्धों में भी मिलती है 'सुरा' के रूप में। तब काया-साधना में अन्तर यही है कि दोनों का दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न था। एक शरीर को कष्ट देकर ही 'अमृत' पा सकता है, दूसरा सामान्य रति-सुख को ही 'महासुख' में बदलने के लिये तुला हुआ है। इसीलिए नाथ स्त्री से दूर भागते हैं और सिद्ध उसी की खोज में रहते हैं। सिद्ध स्त्री को प्रज्ञा या शून्य का अवतार मानते हैं और इसलिए स्त्री व पुरुष के संयोग के विना 'महासुख' मिल ही नहीं सकता।

सिद्धों में इस 'महासुख' की कल्पना के नीचे मनोविज्ञान था। वैष्णव सहजिया-साधकों ने तो लौकिक यौन भावना को ही मनोवैज्ञानिक ढङ्ग पर अलौकिक बनाने का प्रयत्न किया था परन्तु नाथमत में यह मनोवैज्ञान नहीं मिलता। वे तो बलपूर्वक प्राणवायु का संयम कर मन को वश में करते हैं। सहजिया सम्प्रदाय में अलौकिक प्रेम बिना किसी सुन्दर स्त्री के सहवास के मिल ही नहीं सकता। नाथ इसी विचारधारा की प्रतिक्रिया में उठे थे। नाथों के समानान्तर वैष्णव सहजिया 'महाभाव' को प्राप्त करने के लिये चण्डीदास के समान नारी के गीत गाते रहे। विद्यापति ने राधा के शृङ्गार का नग्न वर्णन किया। परन्तु नाथ सम्प्रदाय हठपूर्वक स्त्री से मन को हटा कर अमृत की तलाश में अनेक कठोर साधनायें करता रहा।

नाथ पन्थ और वैदिक सोम पद्धति—नाथों के द्वारा चन्द्र से झरित अमृत पान का तत्व वैदिक सोम पद्धति से सम्बन्धित किया जा सकता है। सोमरस भी सोमलता को निचोड़ कर निकाला जाता था जैसे योग में अमृत चन्द्रमा से निकलता है। सोमलता चन्द्रमा के प्रकाश में खूब वृद्धि पाती थी। अतः सोम व चन्द्र का सम्बन्ध प्राचीन है। इसे 'चन्द्र का पौधा' कहा भी गया है। आगे चन्द्रमा को ही सोम कहा जाने लगा। चन्द्र में १६ कलायें प्राचीन काल से ही मानी जाती रही हैं। समुद्र मन्थन से सोम, चन्द्र व अमृत साथ-साथ निकले थे। मन्थन के समय निकला हुआ अमृत चन्द्र के शरीर में ही स्थित था। इस प्रकार चन्द्र सोम, अमृत का सम्बन्ध प्राचीन है जो नाथ पन्थ द्वारा स्वीकार किया गया।

रसायन-सम्प्रदाय—नाथमत में यह विश्वास है कि मत्स्येन्द्र, गोरख आदि सिद्ध अब भी दिव्य शरीर धारण कर हिमालय प्रदेश में रहते हैं, वे अमर हैं। वे मनमाने रूप धारण कर सकते हैं। रसायन-विद्या भी शरीर में अनेक परिवर्तन करना सिखाती है। रस-सम्प्रदाय 'जीव-मुक्ति' पर आधारित है। पारे को औषधियों से शुद्ध कर उसके सेवन से अलौकिक शक्ति प्राप्त हो सकती है, ऐसा रस सम्प्रदाय का विचार है। 'रसार्णव' में भैरव या शिव ने 'रस' का महत्व बताया है, 'जीव मुक्ति' के लिए पिण्ड को शुद्ध बनाना ध्येय है, 'रस' के सेवन से ही यह सम्भव है। इसमें प्राण वायु पर अनुशासन भी बताया गया है।

पारद में अनेक गुण हैं, 'रस' इसीलिये 'पारद' है क्योंकि उसके सेवन से मनुष्य संसार के उस पार, पहुँच सकता है। यह शिव का सार है। अभ्रक पार्वती की रज और रस शिव का वीर्य है। इन दोनों के मिलन से जो तत्व उत्पन्न होता है वह साधक को 'अमर' कर देता है। रस को शिव का बिन्दु भी कहा है, इसके सेवन के बाद सिद्ध को दिव्य देह प्राप्त होती है। नाथ-सिद्ध व रस सिद्ध दोनों शरीर को रोग, मृत्यु, नाश, से बचाना चाहते हैं। रस-सिद्ध देह व दिव्य-देह में अन्तर मानते हैं यथा नाथ अमर व अविनाशी में।

कबीर की विचार-धारा

अरे इन दोउन राह न पाई ।
हिन्दू अपनी करै बड़ाई, गागर छुअन न देई ।
वेश्या के घर पायन तर सोवैं, यह देखी हिंदुआई ।
मुसलमान के पीर औलिया, मुरगा मुरगी खाई ।
खाला केरी बेटी ब्याहैं, घरहि में करैं सगाई ।
हिंदुन की हिंदुआई देखी, तुरकन की तुरकाई ।।
कहैं कबीर सुनौ भाई साधौ, कौन राह ह्वै जाई ।।

कबीर ने हिन्दू और मुसलमानों का ही नहीं जैन, शाक्त, नाथ, सूफ़ी मतों का भी खण्डन किया है और साथ ही उनके विचारों में उक्त मतों का प्रतिबिम्ब भी मिलता है । फिर एक ही मत की विभिन्न दार्शनिक धारणायें भी उनमें मिलती हैं यथा कहीं सर्ववाद है; कहीं (मुस्लिम) एकेश्वरवाद, कहीं अद्वैतवाद कहीं द्वैत, कहीं द्वैताद्वैत-विलक्षणवाद, कहीं शून्य और सहजवाद । कहा गया है कि कबीर सुनी सुनाई बातों को कहा करते थे, "हम यह भी जानते हैं, वह भी जानते हैं और इन सबसे अधिक कुछ और भी जानते हैं", यह प्रवृत्ति कबीर में पाई जाती है । यह भी कहा गया—

(१) कबीर सूफी थे ।
(२) कबीर अद्वैत वेदान्ती थे ।
(३) कबीर वैष्णव भक्त थे ।
(४) कबीर नाथ-यौगिक मत के अनुगामी थे ।
(५) कबीर सहजयानी व शून्यवादी थे ।

यह भी कहा गया है कि कबीर में चूँकि उक्त सभी तत्व मिलते हैं और फिर इन सबकी पहुँच के परे एक विशेष रहस्य का उद्घाटन

भी वे करते हैं अतः उनमें एक विकास मिलता है—"वे पहले अवतारवाद मानते थे, फिर वे निर्गुण की ओर झुके, फिर योगियों के रहस्यवाद और षट्चक्र-साधना की ओर। बाद में वे सहज सधना में चमत्कारवाद से आगे बढ़ गये। अन्त में तो वे एक नई भूमि पर पहुँच गये......कबीर में सूफी मत वेदान्त, रहस्यवाद, नारी निन्दा आदि अनेक बातें हैं, जैसे संसार की असारता पर जोर, मायावाद आदि का वर्णन, पर यह अनेक विकास की मञ्जिलें हैं वे धीरे-धीरे आगे बढ़ गये हैं।*

हमने कहा है कि मध्यकालीन धर्म साधना में कबीर व तुलसी ये ही दो महान् विचारक उत्पन्न हुये। इनकी अन्तरदृष्टि अन्य सब कवियों से महान थी। तुलसी तो उदार ब्राह्मणवाद के आधार पर वैदिक तथा वेद के अविरोधी अवैदिक मतों में सामञ्जस्य स्थापित कर, इस्लाम के समानान्तर एक शिविर स्थापित कर सके। कबीर वेदान्त, सहजयान, नाथमत, सूफी, निरञ्जन आदि मतों से थोड़ा बहुत प्रभावित होते हुये भी हिन्दू मुसलमान दोनों मतों के समानान्तर एक जनवादी शिविर स्थापित कर सके जिसमें हिन्दू समाज व इस्लामी समाज से पीड़ित लोगों के लिए राहत का सन्देश था।

किन्तु कबीर जिस युग में उत्पन्न हुये थे, उसमें सामाजिक जागृति का माध्यम धार्मिक साधना थी, वैयक्तिक विश्वासों के माध्यम से ही क्रान्तद्रष्टा कबीर अपनी सामाजिकता को रूप दे सके, अतः यहाँ सर्व प्रथम हम उनकी इन्हीं धारणाओं का किञ्चित विश्लेषण प्रस्तुत करेंगे। इन्हीं धारणाओं के सम्बन्ध में हमने विभिन्न विद्वानों के मतों को ऊपर उद्धृत कर दिया है। इन सबमें आंशिकसत्य अवश्य है परन्तु 'कबीर' पर विचार करते समय जब लेखक उनमें अपने सिन्द्धातों का दर्शन करने लगता है तब तुलसीदास की पुरानी बात स्मरण हो आती है—जाके मनै भावना जैसी।

कबीर के सम्बन्ध में वस्तुतः सब कुछ अनिश्चित है। उनके नाम पर पाये जाने वाले साहित्य के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि वह सब कबीर की ही सृष्टि है। अतः कबीर में 'विकास'

---

* लोई का ताना—भूमिका—डा० रांगेय राघव

खोजने का कार्य संशयात्मक ही होगा क्योंकि रचनाओं के क्रम के अनुसार हम विकास का क्रम निर्धारित कर सकते हैं, यह नहीं सिद्ध कर सकते कि सगुणवादी, एकेश्वरवादी पद या दोहे पहले लिखे गये हैं और सहजयान तथा योग परम्परा से सम्बोधित पद बाद में तथा सभी मतों की आलोचना सबसे बाद की है अतः विकास की बात लेखक के अपने अनुमान पर ही निर्भर करती है। तब कबीर के सिद्धान्तों का वैज्ञानिक रूप कैसे स्थिर हो ?

कबीर के सिद्धान्त अपने पूर्व के सिद्धान्तों पर निर्भर हैं साथ ही कबीर ने उन्हें एक विशिष्ट रूप भी दिया है। विकास के संशयात्मक सिद्धान्त को हम एक ओर रख कर, कबीर में हम उन विभिन्न प्रभावों को खोज सकते हैं तथा प्रभावों की समष्टि में कबीर की व्यष्टि को मिला कर उनकी विचारधारा का स्वरूप निर्धारण कर सकते हैं।

कबीर और परमतत्व—हम कह आये हैं कि बौद्ध सिद्धों के दर्शन में 'शून्य' के लिए 'वज्र' शब्द का प्रयोग हुआ था। शून्य मूलतः वस्तु का वह स्वरूप था जो कथन में नहीं आ सकता, शून्य का अर्थ वस्तु का अभाव न था, परन्तु शनैः शनैः शून्य का अर्थ वस्तु-सत्ता का अभाव (Void) लिया जाने लगा था। महायान शाखा का सम्बन्ध धीरे-धीरे हिन्दू दर्शन से होता गया और उपनिषद् के 'अद्वैत' तत्व के पर्याय के रूपमें शून्य व वज्र शब्द का प्रयोग होने लगा परन्तु वज्र व शून्य की व्याख्या एक अनिर्वचनीय तत्व के रूप में वर्णित हुई। सिद्धों के इस अनिर्वचनीय तत्व का रूपान्तर नाथों में पाया जाता है। वहाँ स्पष्टतः अद्वैतवादी दर्शन का प्रभाव पाया गया। शङ्कर के अद्वैतवाद की मौन स्वीकृति तो नाथ पन्थ में स्पष्ट है क्योंकि उसने ही शून्य के अभाववाद के स्थान पर उसे सत्तात्मक शून्य में बदल दिया था। परन्तु नाथमत तो अपने को ब्राह्मण, शैव, शाक्त, बौद्ध सभी मतों से श्रेष्ठ समझता था, अतः उसने शङ्कर के अद्वैतवाद पर श्रेष्ठता दिखाने के लिये अपने मत को द्वैताद्वैत विलक्षण ही कहा जो मूलतः अद्वैत से भिन्न न था, क्योंकि स्वयं शङ्कर के मत में ब्रह्म का वर्णन नहीं हो सकता वह तो अवाङ्मनस गोचर है न परन्तु अद्वैतवादी नकारात्मक विशेषणों से ही उसे वर्णित करते हैं वह निर्गुण है, अरूप है, अनामय

है, आदि। अतः जिसे हम 'द्वैतअद्वैत विलक्षण' कहते हैं उस ब्रह्म को शङ्कर के द्वारा दिये विशेषणों से संकेतित ब्रह्म के ऊपर बताया गया, कहा गया कि नाथों का ब्रह्म निर्गुण, सगुण, सबसे परे है।

कबीर किसी 'सत्ता' में अवश्य विश्वास करते हैं। वे कभी-कभी उसे समझने के लिये इस्लाम की शब्दावली भी अपना लेते हैं। परन्तु उनका मत यही है कि उसका वर्णन नहीं हो सकता, उसे जो जैसा समझता है वह उसके लिए वैसा ही है। वह न हिन्दुओं का राम है न इस्लाम का खुदा है, वह इन दोनों से परे है, अपने अनुमान से ही साधक उसे समझ सकता है। वेद, कुरान आदि उसे नहीं जानते।

१— सुमिरत हूँ अपनैं उनमाना, क्यंचित जोग राम मैं जाना।
२— जो दीसै सो तौ है नाहीं, है सो कहा न जाई।
कोई ध्यावै निराकार कों, कोई ध्यावै आकारा।
या विधि इन दोनों से न्यारा, जानें जानन हारा॥

ब्रह्म है तो 'निराकार' ही, कुछ 'साकार' नहीं, परन्तु जब वेद और शास्त्र नकारात्मक विशेषणों से निर्गुण का वर्णन करने लगते हैं तो कबीर खीझ उठते हैं। भाई तुम उसे नहीं जानते, कोई नहीं जानता, केवल 'जाननहारा' जान सकता है।

वेद कहे सरगुन के आगे, निरगुन का बिसराम।
सरगुन निरगुन तजहु सुहागिन, देख सबहि निजधाम॥

यहाँ भी कबीर 'परमतत्व' को वेद द्वारा वर्णित 'निर्गुण'—शास्त्रीय 'निर्गुण' से परे विद्यमान 'सत्ता' में विश्वास करते हैं। कबीर कहते हैं उसे कहने का प्रयत्न मत करो, वह न कहा जा सकता है न लिखा जा सकता है—

कहैं कबीर मुख कहा न जाई
ना कागद पर अंक चढ़ाई
मानो गूँगे सम गुड़ खाई
कैसे वचन उचारा हो।

इस प्रकार प्रकारान्तर से कबीर अद्वैतमत का द्वैताद्वैत विलक्षण के नाम से प्रतिपादन करते हैं। नाथों की भी यही परम्परा थी

और नाथों से कबीर का सीधा सम्बन्ध था, चाहे वह सम्बन्ध पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में वंश परम्परा के माध्यम से हो या किसी अन्य स्रोत से। कबीर भी नाथों की तरह ही शास्त्र का खण्डन कर 'गुरु-सबद' पर विश्वास करते हैं। आत्मानुभूति ही वहाँ सबसे अधिक प्रामाणिक है। इसी के बलपर कबीर ने उस अवर्णनीय सत्ता का अनुभव किया है। नाथों के अवधूत गीतों में भी सत्य को द्वैत अद्वैत से परे माना गया है। कबीर तो इस सम्बन्ध में गोरख के अधिकार को भी नहीं मानते थे :—

> गोरख राम एकों नहिं उहवाँ, ना वँह वेद विचारा।
> हरि हर ब्रह्मा ना शिव शक्ती, ना वँह तिरथ अचारा॥

ब्रह्म के सम्बन्ध में किसी मत का अनुगमन न करके अपनी अनुभूति को महत्ता देने से, दलित जातियों में अद्भुत आत्म-सम्मान जगा। जब उसे कोई नहीं समझ सकता और सब समझ सकते हैं तो समाज पर हावी हो जाने वाली शास्त्रीयता से कबीर के नेतृत्व में हिन्दू व मुसलमान दलितों ने अपना पिण्ड छुड़ाना चाहा, समाज के निम्न स्तरों के लिये सवर्ण हिन्दू तथा काजी, शेख, मौलवी एक से ही अत्याचारी थे। हर मुसलमान गैर मुसलमानों की दृष्टि में भले ही एक हो परन्तु वे शेख, सैयद, मुगल, पठान अपनी-अपनी वंश की महत्ता के लिये बराबर लड़ते रहे और जुहाहे, धुनियाँ, कसाई, चिड़ीमार तथा ऐसे ही कमकर मुसलमान हमेशा नीचे समझे जाते रहे, अपमानित होते रहे। अतः वेद व हदीस दोनों दलितों के शत्रु थे, दोनों की बात कबीर क्यों मानते? यद्यपि बात वही थी जो उपनिषदों ने कही थी परन्तु कबीर ने स्वानुभूति पर ही जोर दिया। उन्होंने वेदों में प्रतिपादित निर्गुण ब्रह्म से अपने ब्रह्म को 'कुछ और' बताया था। ब्राह्मणों के चिन्तन से अपने चिन्तन को बढ़ा हुआ दिखाने के लिए 'नाथों' ने जो पद्धति प्रचलित की, कबीर ने वही अपनाई। गोरखनाथ भी किताबी ज्ञान का बड़ा उपहास करते थे क्योंकि बिना पढ़े-लिखे जोगियों व जुलाहों में आत्म-सम्मान का केवल एक यही मार्ग था।

परन्तु 'सत्ता' का यह अनिर्वचनीय रूप निर्धारित हो जाने के पश्चात् कबीर संसार की भाषा में उसे साहिब, खालिक, दयालु आदि

सगुण विशेषण भी देते हैं, उसे वे 'राम' के नाम से भी पुकारते हैं और उसे प्रेम के द्वारा प्राप्त करने का परामर्श देते हैं। गुरुवचन, सत्त-नाम ही उस सत्तस्वरूप को पाने का एक मार्ग है। इस सत्यस्वरूप को वे निरञ्जन, तथा सहज आदि नाम भी देते हैं। आगे निरञ्जन-सम्प्रदाय से जो कि शायद सुदूरपूर्व में प्रचलित था, तथा नाथ सम्प्रदाय से जो सारे उत्तरी भारत में यत्र-तत्र फैला हुआ था, कबीर के सम्प्रदाय की प्रतिद्वन्द्विता चल पड़ी अतः बीजक में कबीर के नाम पर ऐसे पद लिख दिये गये जो निरञ्जन को मायावी शैतान के रूप में चित्रित करते हैं। नाथमत तथा कबीर के पदों में निरञ्जन को ब्रह्म का ही पर्याय माना गया है।[१] गोरख को भी कबीर द्वारा चुनौती दिलवाई जाने लगी, ब्राह्मणों के वेदों को—शैतान निरञ्जन की सृष्टि कहा गया और नाथ जोगियों के चमत्कारों से भी बढ़ कर, अलौकिक चमत्कारों के आख्यान 'कबीर' के साथ जोड़ दिये गये।

नित्य सत्ता की अनुभूति में कबीर ने बौद्ध, नाथ, इस्लाम, वेदान्त सभी मतों में ब्रह्म के लिए प्राप्त शब्दों का निर्भय हो कर प्रयोग किया है इसीलिए यह भ्रम होता है कि अन्ततः वे एकेश्वरवादी थे या अद्वैतवादी, द्वैतवादी, द्वैताद्वैत विलक्षणवादी या सगुणवादी। वे ब्रह्म को तत, परमतत, निजतत, आत्मा, आप, गुनविहून, गुनअतीत, सबद, अनहद, ज्ञान, अमृत, उन्मन, ज्योति, सत्त, कुलाल, करतार आदि कहते हैं परन्तु ये सब उसी एक अनिर्वचनीय सत्ता के ही विभिन्न नाम हैं, अतः परस्पर विरोधी ब्रह्म के पर्यायवाची शब्दों को देख कर दिग्भ्रमित हो जाना ठीक नहीं।

सन्तौ धोखा कासूँ कहिये।
गुण में निरगुण, निरगुण में गुण, बारि छाड़ि क्यूं बहिये॥
अजरा अमरा मध्यै सब कोई, अलख न कथणां कोई।
जाति स्वरूप वरण नहिं जाके, घरि घरि रह्यौ समाई॥
प्यंड ब्रह्मण्ड कथै सब कोई—वाकै आदि अरु अन्त न होई।
प्यंड ब्रह्माण्ड छाँड़ि जे कथिये, कहै कबीर हरि सोई॥

जीव व जगत—कबीर की जीव व जगत सम्बन्धी धारणाओं

१—देखिये कबीर—पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ ५४-५५

पर शङ्कर के मायावाद का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा है। यद्यपि जगत की सृष्टि-प्रक्रिया बीजक में शङ्कर से पूर्णतः भिन्न पद्धति पर है और उस पर इस्लाम का भी काफी प्रभाव है, परन्तु जीव व ब्रह्म को तत्त्वतः सूफी धर्म में भी एक माना गया है। या यों कहें कि सूफी धर्म पर वेदान्त के जो प्रभाव चिन्ह दिखाई पड़ते हैं उनमें जीव व ब्रह्म की एकता ही मुख्य है। जगत के सम्बन्ध में सूफियों की धारणायें मायावाद से भिन्न प्रकार की हैं, प्रायः विशिष्टाद्वैत से मिलती जुलती, यद्यपि कुछ सम्प्रदाय जगत को मायात्मक भी मानते थे। कबीर जगत को मायात्मक घोषित करते हैं परन्तु उसे छोड़ने का परामर्श नहीं देते। जगत को भ्रम मात्र समझ कर भी एक प्रकार का अनासक्तियोग उनमें पाया जाता है। इसीलिये न वे नाथों की तरह उग्ररूप से नारी निन्दा ही करते हैं न संन्यास धर्म पर ही जोर देते हैं। वे संसार में रह कर ही अनासक्ति पर जोर देते हैं, राम की भक्ति और सरल जीवन को ही श्रेष्ठ कहते हैं। जीव व ब्रह्म की एकता तात्त्विक रूप से ही सिद्ध हो सकती है, साधना के सोपानों में साधक उस परम सत्ता से द्वैत भावना की कल्पना कर विरह वेदना को जगाता है, उसकी याद में तड़पता है, आँसू बहाता है और उसके मधुर आभासों की लालिमा में स्वयं भी निमग्न हो जाता है—रहस्यवाद की यही पद्धति है। साधना के समय द्वैतता को मिटाकर अद्वैत की तीव्र अनुभूति के समय भावात्मक उद्‌गार प्रकट होते हैं जिनसे कबीर का रहस्यवाद बना है। कबीर ने जीव व ब्रह्म की इस द्वैत अद्वैत की स्थिति को दरिया व लहर, बूँद और समुद्र, हिम व पानी आदि के उदाहरणों से वर्णित किया है:—

पाणी ही तैं हिम भया, हिम ह्वै गया विलाय।
जो कछु था सोई भया, अब कछु कहा न जाय॥

× × ×

जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, बाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहिं समाना, यह तत कथहु गियानी॥

या

जल भर कुम्भ जलै बिच धरिया, बाहर भीतर सोई।
उनको नाम कहन को नाहीं, दूजा धोखा होई॥

दरियाव की लहर दरियाव है जी,
दरियाव और लहर में भिन्न कोयम् ।
उठै तौ नीर है, बैठे तो नीर है,
कहौ जी दूसरा किस तरह कोयम् ॥
उसीका फेर के नाम लहर धारा,
लहर के कहे क्या नीर खोयम् ।
जक्त ही फेर सब जक्त पर ब्रह्म में—
ज्ञान कर देख माल गोयम् ॥

सरिता और तरङ्ग में केवल नाम रूप का ही तो भेद है—

सो तैं तोहि, ताहि यह भेदा ।
वारि वीचि इव गावहिं वेदा ॥ —तुलसी

जीव व ब्रह्म की एकता के लिये कबीर ने उपनिषद् की शब्दावली को दुहराया है ।

निरगुन आगे सरगुन नाचै बाजै सोहँग (सोऽहं) तूरा ।

कबीर मानते हैं कि जो पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड है । जीव के सम्बन्ध में कबीर कहते हैं—

ना इहु मानस ना इहु देउ,
ना इहु जाती कहावै सेव ।
ना इहु जोगी, ना अवधूता,
ना इहु माई न काहू पूता ।
कहै कबीर इहु राम को अंसु,
जस कागद पर मिटै न मंसु ॥

वस्तुत: जीव व ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं है, माया के कारण भ्रम हा रहा है । कर्म के बन्धन से जीव अज्ञान वश अपने को ब्रह्म से भिन्न समझता है । जीव व ब्रह्म की एकता स्थापित करने के लिये कबीर सूफियों की तरह कभी-कभी प्रतिविम्ववाद का आश्रय ग्रहण करते हैं । ऊपर जीव को 'राम' का अंश कहा गया है, परन्तु रामानुज भी जीव को ब्रह्म का अंश बतलाते हैं, किन्तु कबीर प्रतिविम्बवाद के सहारे अंशांशिभाव को एक ओर स्पष्ट करते हैं और दूसरी ओर वे 'मायावाद' को भी अपनाते हैं । माया के सिद्धान्त को मानने का अर्थ यह

है कि कबीर ब्रह्म का स्वगत भेद नहीं मानते, जैसा रामानुज मानते हैं। अतः कबीर जीव व ब्रह्म के अंशांश भाव को शाङ्कर वेदान्त के अनुसार ही मानते हैं।

जगत—जगत ब्रह्म के जादू (माया) से उत्पन्न है—

वाजीगर डङ्क बजाई, सब खलक तमासै आई।
वाजीगर स्वाँगु सकेला, अपने रग रमै अकेला॥

शङ्कर अज्ञान को त्रिगुणात्मक बतलाते हैं और कबीर भी—

सत, रज, तम तैं कीन्हीं माया, आपण माँझै आप छिपाया॥

नाथों ने माया को बहुत बुरा भला कहा है, कबीर भी उसे सुन्दरी, नटिनी, डाइन आदि बतलाते हैं। माया के कारण मन चेतन व अचेतन के खम्भों पर भूल रहा है, सब इसी के चक्कर में हैं—

ई माया रघुनाथ की बौरी, खेलन चली अहेरा हो।
चतुर चिकनियाँ चुनि-चुनि मारे, काहू न राखे नेरा हो।
मौनी, वीर-दिगम्बर मारे, ध्यान धरन्ते जोगी हो।
जङ्गल में के जङ्गम मारे, माया किन्हुहुँ न भोगी हो।
वेद पढ़न्ते वेदुआ मारे, पूजा करते सामी हो।
सिंगी रिस वन भीतर मारे, सिर ब्रह्मा कर फोरी हो।
नाथ मछन्दर बन भीतर मारे, सिंघल हू में बोरी हो।
साकट के घर करता, धरता, हरि भगतन की चेरी हो॥

इस प्रकार वेद, कुरान, जैन, शाक्त, जोगी, जङ्गम, ऋषि, मुनि सब अभी तक माया के भ्रम में ही पड़े हुये हैं। माया कबीर को भी पति बनाने आती है परन्तु कबीर उसे बहिन मान लेते हैं, पर वह तब भी नहीं मानती। कबीर सूर की तरह माया का अर्थ केवल काञ्चन, कामिनी की अस्थिरता नहीं लेते बल्कि वे शङ्कर की तरह जगत के अस्तित्व को ही मायात्मक मानते हैं। माया वह वस्तु है जिसे न सत् कहा जा सकता है न असत्। कबीर का जब ब्रह्म ही अनिर्वचनीय था तो 'माया' अनिर्वचनीय क्यों न होती ?

जगत को मायात्मक मान कर भी, कबीर जगत को त्यागने का उपदेश नहीं देते।

अवधू, भूले को घर लावै, सो जन हमको भावै।
घर में जोग, भोग घर ही में, घर तज वन नहिं जावै।
घर में जुक्त, मुक्त घर ही में, जो गुरु अलख लखावै।
सहज सुन्य में रहै समाना, सहज समाधि लगावै।
उन्मनि रहै ब्रह्म कों चीन्है, परम तत्व को ध्यावै।
घर में बसत, वस्तु भी घर है, घर ही वस्तु मिलावै।
कहैं कबीर सुनो हो साधू, ज्यों का त्यों ठहरावै।

यदि कबीर जगत को मायामय मानते हैं तो स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि कबीर विज्ञानवादियों के समान संसार को 'स्वप्नमय मानते थे या शङ्कर के समान 'मायामय'। बौद्धों की दृष्टि से संसार की कोई वास्तविक सत्ता नहीं है, केवल चेतना या विज्ञान ही सत्य है किन्तु शङ्कर की 'माया' का व्यावहारिक दृष्टि से दृढ़ अस्तित्व है। कबीर शङ्कर की पद्धति पर हैं, क्योंकि सिद्धों व नाथों में नागार्जुन के शून्यवाद तथा तान्त्रिक सिद्धान्तों का विकास मिलता है, कुछ विज्ञानवाद का नहीं फिर जब जगत, जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध में कबीर वेदान्त का ही आश्रय पकड़ते हैं फिर संसार को स्वप्नवत् मानने का प्रश्न नहीं उठता यों सामान्यतया शङ्कर की पद्धति पर चलने वाले विचारक भी जगत को 'स्वप्न' कह देते हैं पर ऐसे प्रयोग जगत का मिथ्यात्व दिखाने के लिए ही होते हैं। शङ्कर स्वप्न व जागृत अवस्थाओं के भेद पर पूर्णतया जोर देते हैं और विज्ञान वाद का घोर खण्डन करते हैं।

अनुभूति के सोपान—कबीर जीव व ब्रह्म के एकात्म्य के अनुगामी हैं। इसके लिए कबीर अन्तर्मुखीवृत्ति पर जोर देते हैं, अपने को पहचानने को ही वह अधिक महत्व देते हैं—

घर में वस्तु नजर नहिं आवत, वन-बन फिरत उदासी।
आतम ज्ञान विना जग झूँठा क्या मथुरा क्या कासी?

आत्म-अनुभूति के आगे वे प्रत्येक मत के आचारों का उग्र खण्डन करते हैं, उसके अभाव में योग, ज्ञान, व्रत, संयम, नमाज, पूजा सब दम्भ है—

मन ना रँगाये, रँगाये जोगी कपड़ा।
आसन मारि, मन्दिर में बैठे, ब्रह्म छाँड़ि पूजन लागे पथरा। (ब्राह्मण)

कनवा फड़ाय, जटवा बढ़ौले, दाढ़ी बढ़ाय जोगी होइगैले बकरा ॥
(नाथ जोगी)

जङ्गल जाय जोगी धुनिया रमौले,
काम जराय जोगी होय गैले हिजरा ॥
मथवा मुँड़ाय जोगी, कपड़ा रँगौले,
गीता बाँच के होय गैले लबरा ॥ (संन्यासी)

यदि आत्मानुभूति नहीं है तो गृहत्याग व्यर्थ है, और यदि है तो घर में भी संन्यास ही है। मन में अनुराग जगाना ही कबीर का सब से बड़ा उपदेश है। वे नाथों, सूफियों, संन्यासियों, ब्राह्मणों और शेखों के सारे भावना विहीन आचारों को व्यर्थ और हानिकर समझते हैं, पर क्या भावना युक्त आचार का वे समर्थन करते हैं? नहीं, वे आचारों को तो मायामय ही मानते हैं। तीर्थ, व्रत, पूजा, योग, नमाज सब व्यर्थ हैं, इनसे कोई लाभ नहीं। ये ही धार्मिक द्वन्द्व के कारण हैं। इन्हें मिटाये बिना समाज में समता और सुख की उद्भावना नहीं हो सकती। कबीर कितना प्रगतिशील विचारक था!

कबीर की आत्मानुभूति रहस्यवाद के रूप में अभिव्यक्त हुई है जिसके तीन छोर हैं—योग, रहस्यवाद व भक्ति। योगात्मक अनुभूति में वे नाथपन्थ के अनुसार नाना चक्रों को पार कर कुण्डलिनी को सहस्रार तक पहुँचने तथा अनहदनाद सुनने आदि पर ज़ोर देते हैं। रहस्यवाद में सूफी प्रेम-भावना का समावेश हो जाता है, पर उसमें भारतीयता ओतप्रोत है। यहाँ आत्मा स्त्री है, परमात्मा पुरुष, जब कि सूफियों में जीव व ब्रह्म का सम्बन्ध इसके विपरीत है।

प्रिया के अखण्ड अनुराग, अनवरत विरह-विह्वलता तथा आत्यंतिक मिलन की स्थितियों का वर्णन कबीर ने विभिन्न लौकिक रूपकों द्वारा किया है जिस पर बहुत कुछ लिखा जा चुका है। इस सम्बन्ध में कथनीय इतना ही है कि आत्मा को विरह व्याकुलता में जो तड़प, मूर्च्छा और उन्माद है वह सूफियों के यहाँ से ली गई है।

अन्तिम तत्व भक्ति का है। कबीर ने केवल वैष्णवों के प्रति हार्दिक श्रद्धा दिखाई है। अतः कबीर भक्ति के सिद्धान्त में विश्वास करते थे।

योग—यौगिक क्रियाओं में नाथों के हठयोग के अतिरिक्त तान्त्रिक साधनायें भी समावेशित हैं, पर अपना विशिष्ट व्यक्तित्व लिए हुये, सिद्धों की शब्दावली का भी वे अपने अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिए प्रयोग करते हैं।

अद्वैतवादियों में शब्दाद्वैतवाद बहुत प्रसिद्ध है। नाथ भी प्रणव व ओंकार में विश्वास करते थे। नाथों के अनुसार वेदों के दो भाग हैं—(१) जिसमें शब्द का वर्णन है, (२) जिसमें यज्ञ, याज्ञ आदि कर्मकाण्डों का वर्णन है। नाथ 'शब्दवेद' में विश्वास करते थे, परन्तु वैदिक कर्मकाण्ड का घोर खण्डन करते थे। नाथों की यह प्रवृत्ति कबीर में भी मिलती है।

शब्द-ओंकार या प्रणव की महत्ता का वर्णन उपनिषदों में भी यत्र-तत्र मिलता है। संस्कृत के वैयाकरण तथा मीमांसक शब्द को नित्य और अक्षर मानते हैं। नाथों में अनहद्-नाद की बड़ी चर्चा है जब साधक प्राणायाम के द्वारा चित्त का निरोध करता है तो इन्द्रियाँ शान्त होने लगती हैं, कुण्डलिनी ऊर्ध्व गामिनी हो जाती है। तब साधक को अलौकिक शब्द सुनाई पड़ते हैं। यही अनहदनाद है। कबीर ने इस अनहद्नाद का अनेकों बार वर्णन किया है।

ओंकार का भी महत्व कबीर मानते हैं। यह सृष्टि शब्द से ही उद्भूत हुई है। पातञ्जल योग में शब्द-ब्रह्म में अपने को लीन कर देने की प्रक्रिया का वर्णन है, परन्तु कबीर सुरति व निरति की चर्चा बहुत करते हैं। इन शब्दों के अर्थों के विषय में मतभेद है। सुरति के स्मृति, जीवात्मा, प्रेम, अन्तर्मुखी वृत्ति आदि अनेक अर्थ विद्वानों ने किये हैं। इसी प्रकार निरति का अर्थ पं० हज़ारीप्रसाद ने वाह्य प्रवृत्तियों का नाश बताया है। कुछ इसे वैराग्य मानते हैं—(क्षितिमोहन सेन)। डा० त्रिगुणायत के अनुसार सुरति का अर्थ बहिर्मुखी आत्मा है, अन्तर्मुखी प्रवृत्ति आदि नहीं। उनके अनुसार ये शब्द भी उपनिषद् से ही आये हैं, जो एक बड़ा भ्रम है। उपनिषदों में इनका प्रयोग मिल सकता है, तथापि किसी आध्यात्मिक अर्थ में इनका प्रयोग सिद्ध नाथ सम्प्रदायों में ही मिलता है—

सुरति समानी निरति में, निरति भई निरधार।
सुरति निरति परचा भया, तब खुले स्वयंभू द्वार॥

सुरति का अर्थ है जागृत अन्तर्मुखी वृत्ति। यह सुरति, सति अर्थात् ब्रह्म का प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करती है, परन्तु तभी जब मन निर्मल होता है। जब तक बहिर्मुखी वृत्तियाँ शान्त नहीं होतीं, तब तक सुरति नहीं जगती, अर्थात् अन्तर्मुखी वृत्ति प्रकाशित नहीं होती। परन्तु आत्म परिचय होते ही परमतत्व की प्रतिच्छाया सुरति में पड़ती है, इसी सुरति का सम्बन्ध अनहद नाद से भी जोड़ा गया है।

कबीर में खेचरीमुद्रा का भी वर्णन मिलता है, जीभ को उलट कर तालु में लगाकर चन्द्र स्थान से झरित अमृत पान का प्रयत्न खेचरीमुद्रा में आता है। इसी प्रकार अनेक शब्दों का अर्थ कबीर विशेष अर्थों में करते हैं। उनका अध्ययन उनके अपने प्रयोगों तथा नाथ तथा सिद्धपरम्परा के प्रयोगों को एक साथ रखकर करना होगा।

सहज साधना—कबीर यद्यपि नाना चक्रों, नाड़ियों, प्राणायाम, नाद, बिन्दु, अनहद नाद आदि की चर्चा करते हैं। अनेक रूपकों से इन यौगिक क्रियाओं का वर्णन करते हैं। उलट बाँसियों को कबीर शायद इसलिये और कहते थे कि वे रहस्यमय उक्तियों से शास्त्र-निष्णात ब्राह्मणों और शेखों आदि के ज्ञान के दम्भ को चूर करते थे और इससे कबीर के अनुयायियों को गौरव का अनुभव होता था। किन्तु कबीर इन सब यौगिक साधनों का वर्णन करके भी सामान्य सहज जीवन को ही श्रेष्ठ मानते थे। वैष्णवों का सहज जीवन उन्हें अधिक प्रिय था इसीलिये वे 'सहज समाधि' का उपदेश देते थे। कबीर ब्रह्म को भी 'सहज शून्य' कहते थे पर यहाँ नागार्जुन का शून्य नहीं है, यहाँ तो वह केवल ब्रह्म का पर्यायवाची शब्द मात्र है। इस सहज (ब्रह्म) में मन को लय करना सहज योग माना जाता है। अतः वे नाथ जोगियों से भी कठिन साधना छोड़ कर इस सहज पथ पर चलने का उपदेश करने लगे, जिसमें सरल स्वाभाविक, संयमित जीवन पर ही जोर दिया गया था :—

सो जोगी जाके मन मुद्रा।
राह दिवस न करइ निद्रा॥
मन में आसन, मन में रहना।
मन का जप, तप, मन सू कहना॥

मन में खपरा, मन में सींगी।
अनहद नाद बजावें रंगी॥

कबीर के अनुसार सामान्य व्यक्ति को न आचारों के पालन करने की आवश्यकता थी, न हठयोग, सुरति योग आदि के चक्कर में पड़ने की। मन पर संयम रखना, गुरु के वचनों पर विश्वास रखना, राम में प्रेम की लगन, सत्तनाम का जाप करना तथा ईमानदारी से परिश्रम पूर्वक कमाये हुये धन से जीविका चलाना, बस यही सहज मार्ग था। न रोजा न नमाज, न व्रत न पूजा, न वेद न कुरान। बस उक्त सहजमार्ग ही कबीर ने खोज निकाला था।

संतो सहज समाधि भली।
साँई ते मिलन भयो जा दिन तैं, सुरत न अन्त चली।
आँख न मूँदूँ, कान न रूँधूँ, काया कष्ट न धारूँ।
खुले नैन मैं हँस हँस देखूँ, सुन्दर रूप निहारूँ।

आत्यंतिक स्थिति :—हमारे यहाँ मोक्ष की विभिन्न दशायें हैं। एक नैयायिकों की मोक्ष है जिसमें २२ प्रकार के दुःखों की निवृत्ति तो हो जाती है परन्तु आनन्द का अभाव ही रहता है। वेदान्त की मुक्ति की कल्पना आनन्दमय है। बौद्धों के निर्वाण की अवस्था का वर्णन प्रायः अभावात्मक शब्दों में मिलता है। वह दशा अनिर्वचनीय होती है। इस अलौकिक स्थिति को भी साधक प्राप्त कर सकता है। सहजयानी इसे 'शून्य' कहते थे। नागार्जुन ने निर्वाण की अवस्था को अवर्णनीय कहा, सिद्धों ने उसे शून्य कहा, परन्तु उसमें अभावात्मकता न थी। वह एक भावात्मक स्थिति होगई। नाथपंथी योगियों ने सहस्रार चक्र को शून्य कहा और बतलाया कि जब कुण्डलिनी शून्य स्थान पर पहुँचती है तो जीवात्मा केवलावस्था को प्राप्त हो जाता है। सांख्य दर्शन में केवल अवस्था का वर्णन मिलता है, जिसमें सुख दुःखों से उदासीन स्थिति का संकेत मिलता है, पर आनन्द वहाँ भी नहीं है। कबीर केवलावस्था को, सिद्धों की तरह सहज-शून्य कहते हैं। सामान्यतया शब्दावली का अन्तर छोड़कर नाथों की केवलावस्था (सहजावस्था) व सहज शून्यावस्था में कोई अन्तर नहीं है, नागार्जुन के बाद प्रायः निर्वाण, केवलावस्था व सहजशून्यावस्था शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ में किया गया है अर्थात् वह स्थिति जिसमें आत्मा द्वन्द्व रहित स्थिति को प्राप्त करले।

आनन्द का प्रवेश वेदान्त की पद्धति पर सिद्धों ने 'सहजानन्द' के रूप में कर दिया था। वे उस आत्यंतिक स्थिति में प्राप्त सुख को 'महासुख' कहा करते थे। नाथों व सिद्धों की मोक्ष कल्पना में इतना अन्तर अवश्य है कि नाथों के सहजानन्द में आत्मा में ज्ञान का प्रकाश भी आनन्द के साथ रहता है परन्तु सिद्धों के यहाँ किसी प्रकार का कुछ भी भान नहीं रहता, वहाँ पूर्ण रूप से निजत्व का विलयन हो जाता है। इसीलिये सिद्ध उस स्थिति को कह नहीं पाते।

कबीर की मोक्ष भी 'सहज शून्य' शब्द से संकेतित है। कबीर बड़ी मस्ती से इस स्थिति का वर्णन करते हैं। वस्तुतः यह अवस्था आत्मा व परमात्मा के मिलन की अवस्था है। 'राम' को उनकी बहुरिया जब देख लेती है तो 'रामरस' का आनन्द मिलता है। यह रस देवता तक नहीं प्राप्त कर पाते, संसार पीछे छूट जाता है।

एक मेव ह्वै मिल रह्यो, दास कबीरा राम

इस विकास को हम यों देख सकते हैं :—

मोक्ष कल्पना

शून्यावस्था	सहजावस्था	सहजावस्था	सहज-शून्यावस्था
नागार्जुन	शून्यावस्था	सहजानन्द	रामरस
अवर्णनीय स्थिति	(तान्त्रिक सिद्ध)	नाथयोगी	कबीर
(अभावात्मक स्थिति)	'महासुख'	केवलावस्था	आत्मा परमात्मा
आत्मा का अभाव	अवर्णनीय स्थिति	(आत्मा का अस्तित्व)	का मिलन

कबीर ने आत्यन्तिक स्थिति को खसमावस्था भी कहा गया है, जिसका अर्थ है गगनोपम अवस्था, आकाश के समान आदि सत्ता में मन को लीन कर देने के पश्चात् यह अवस्था प्राप्त होती है, जहाँ द्वैत, अद्वैत, द्वैताद्वैत सब बुझ जाते हैं। इसके अतिरिक्त कबीर में घरनी=घरवाली शब्द का भी प्रयोग मिलता है। इस पर सहजयानियों का प्रभाव है, जो नाड़ियों के नाम डोम्बी, चाण्डाली, अवधूती आदि रखते थे। पाठकों को इनका वर्णन सिद्ध-दर्शन में देखना चाहिये।

यह आत्यन्तिक स्थिति इस प्रकार की है :—

जाके बारह मास वसन्त होय, ताके परमारथ बूझै बिरलै कोय।
बिनु तरिवर फूलै आकाश, सिव विरञ्चि तहँ लेहिं वास।
सनकादिक भूले भँवर बोय, लख चौरासी जोइन रोय।

कबीर हरि रस यों पिया, बाकी रही न थाकि।
पाका कलस कुम्हार का, बहुरि न बढ़ई चाक॥

भक्ति भावना—हठयोग और सुरतिसाधना के अतिरिक्त कबीर में भक्ति की चर्चा विशदरूप से की गई है। कबीर केवल वैष्णवों के सम्मुख ही झुके उन्होंने शाक्तों, योगियों, ज्ञानियों सबको फटकारा, परन्तु वैष्णवों के प्रति वे सर्वदा नम्र रहे। उनसे उन्हें 'हरिरस' मिला था। रामानन्द ने 'राम नाम' का मन्त्र देकर उन्हें कृतकृत्य कर दिया था।

कबीर ने कहा—

शून्य मरै, अजपा मरै, अनहद हू मर जाय।
रामसनेही ना मरैं, कह कबीर समुझाय॥

अर्थात् शून्य और अनहद की साधना का वर्णन करते हुये भी कबीर भक्ति को ही सर्वश्रेष्ठ मानते थे। उनकी सहज समाधि यही है कि कबीर जो कुछ करें वही सेवा बन जाय, सारा जीवन 'राम' को समर्पित हो जाय। हरि भक्ति और सच्चा जीवन यही कबीर ने सुझाया, व्यर्थ के आचारों में क्या रक्खा है? परन्तु यौगिक साधना का महत्व अर्थात् चित्त को वश में करने का महत्व कबीर कभी न भूले। वे तोतों की तरह राम-राम रटने को व्यर्थ समझते थे। बौद्धों ने शायद सर्व प्रथम कहा था कि बुद्ध का नाम भूल कर भी लेने पर निर्वाण प्राप्त हो जाता है (History of Indian Literature, Winter nitz) फिर वैष्णवों ने भी कहा था कि राम का नाम ले लेने से सहज ही मुक्ति हो जाती है। कबीर इतने सस्ते भक्त न थे। राम नाम तो परम-सत्ता का प्रतीक मात्र था। वे अनुभूति पर सदा जोर देते थे और इसीलिये वे योग और सुरति योग का वर्णन करते हुये पाये जाते हैं। वे जानते थे कि बिना चित्त को वश में लाये हुये भक्ति असम्भव है। अतः उनके यहाँ योग, सुरति व भक्ति में विरोध नहीं है और जटिल क्रियाओं के विरुद्ध तो वे आवाज उठा ही चुके थे क्योंकि उद्देश्य तो चित्त-निरोध

था, कुछ सिद्धि पाना नहीं। उद्देश्य तो राम से मिलना था, राममय हो जाना था, चमत्कार दिखाना नहीं। वे योग क्रिया द्वारा भी उस परमपद की प्राप्ति को सम्भव मानते थे क्योंकि उसका अभ्यास जोगी व जुलाहे करते आ रहे थे, परन्तु जोगियों का दम्भ उन्हें पसन्द न था। साधारण ग्रहस्थ जीवन का विनाश वे न देख सकते थे। अतः योग का वर्णन करते-करते उन्हें 'सहज समाधि' और गृहस्थ जीवन ही ठीक लगा। यहाँ कबीर घोर वैयक्तिक साधनाओं से सामाजिकता की ओर आरहे थे। राम नाम का उच्चारण सब एक साथ कर सकते हैं। कबीर पन्थ में एक साथ अब भी पदों का गायन होता है, खञ्जरी पर अब भी सामूहिक भजन होते हैं अतः कबीर ने भक्ति की प्रशंसा सब से अधिक की है। उनका रहस्यवाद यौगिक पद्धति पर था और भक्ति राम के प्रति अनुराग पर निर्भर थी। कबीर ने नीरस योग की अपेक्षा सरस राम की भक्ति का प्रचार किया—

भक्ति द्राविण अपनी, लाये रामानन्द।
परगट किया कबीर ने, सप्तदीप, नवखण्ड ॥

कबीर की भक्तिमें विरह का तत्त्व बहुत प्रबल है। नारद ने भी अपने भक्ति सूत्रों में इस पर जोर दिया है। परन्तु सूफियों के प्रभाव के कारण उनकी विरहव्यथा अत्यन्त मार्मिक हो गई है। शैली भी वही है, जिसमें बाण की चोट, घाव, आह आदि का वर्णन बहुत आता है किन्तु भक्ति के स्वरूप निर्धारण में योग का तत्व भी मिला हुआ है, योग से प्राप्त अन्तिम त्रिगुणातीत अवस्था भक्ति की भी अन्तिम अवस्था ठहराई गई है। डा० त्रिगुणायत ने एक बड़ी मनोरञ्जक बात कही[1] है कि क्योंकि नारद ने भी ४६ वें भक्ति सूत्र में कहा था कि वेद का विरोधी होने पर भी सच्चा भक्त लोकों को तार देता है सो यदि कबीर ने वेद का विरोध किया तो क्या बुरा किया? इस चिन्तन के पीछे ब्राह्मणवादी सङ्कीर्ण भावना है जो ऋषभ, बुद्ध व कबीर जैसे ब्राह्मण विरोधियों को भी अवतार मान कर पूजती रही है, अपने स्वार्थ के लिये, ताकि उनका विद्रोह थोड़ा लचीला हो जाये और इसी उपाय से किञ्चित झुककर ब्राह्मणवाद ने बौद्धों को अपने में पचा डाला था। जहाँ ब्राह्मण व कठमुल्ले दोनों ही जनता के शत्रु हों, वहाँ वेदों का विरोध सामाजिक भूमि

१—कबीर की विचारधारा—डा० त्रिगुणायत

पर था, व्यक्तिगत भूमि पर नहीं। वेदों का विरोध तो गीता ने भी किया था, पाँच रात्रों और शैवों ने भी। परन्तु वे सब ब्राह्मणवादी थे, वर्णाश्रम व्यवस्था को मानते थे। कबीर उनमें से थे जो ब्राह्मणवाद की मूल वर्ण-व्यवस्था पर प्रहार करते थे, कुरान व हदीस के भी वे शत्रु थे। वे एक सामान्य जनवादी मार्ग निकाल रहे थे। उनका मार्ग था—

(१) संसार को मत छोड़ो। नारी, निन्दा की वस्तु नहीं। संसार से भागना कायरता है—इसे सुधारो।

(२) 'सत्ता' अवश्य है, पर उसका स्वरूप नहीं समझाया जा सकता। उसे हम 'राम' कहते हैं, उससे प्रेम करो।

(३) मन पर अंकुश रखो, यही पाप का मूल है।

(४) गुरु के वचनों पर विश्वास करो।

(५) पुरान, कुरान, वेद, हदीस सब व्यर्थ का प्रलाप है—धर्म-व्यवसायियों का शब्दाडम्बर मात्र।

(६) श्रम का महत्व समझो, ईमानदारी से मेहनत करके खाओ। संन्यासी बनकर, जनता के रक्त पर जीवित मत रहो।

(७) कठोर साधनाओं को छोड़कर, स्वानुभूति को जगाओ। राम से प्रेम करो।

(८) ऊँच-नीच, छुआछूत, जाति-पाँति, धर्म-अधर्म का भेद डालकर ये मन्दिर-मस्जिद वाले सवर्ण हिंदू तथा उच्च वंश के शेख-सैयद आदि जनता के दुश्मन हैं। धन ही पाप की जड़ है।

यह था कबीर के भक्तिमत का सामाजिक रूप। वे सुधारक न थे, घोर क्रांतिकारी थे।

कहा जाता है कि कबीर नारदीय-भाव-भक्ति पन्थ को मानते थे। "वे वैधी भक्ति के विश्वासी न थे जो भागवत धर्म में थी"। परन्तु नारदीय भाव भक्ति व कबीर की भक्ति में अन्तर है। रामानन्द से उन्होंने बस 'राम' का ही नाम लिया था। प्रेम की तीव्रता उन्हें सूफियों से मिली थी, नारद से नहीं। फिर नारद की तरह कबीर अप्रत्यक्ष झगड़ा कराने की प्रणाली पसन्द न करते थे। असत्य का नक़द विरोध करना उनका स्वभाव था, जब कि भाव-भक्ति के विश्वासी भक्त भगवान के

प्रेम में ही निमग्न रहना तथा सामाजिक प्रश्नों से कतराना अपना आवश्यक कर्तव्य समझते थे।

इस प्रकार कबीर योगी थे, सहज साधना वादी थे और उससे भी अधिक भक्त थे। उनकी भक्ति अन्तर्मुखी साधना पर निर्भर थी, तभी वह निर्गुण-भक्ति कहलाई। सगुण ब्रह्म की भक्ति सरल होती है। आराध्य के विभिन्न मनोरम रूपों को मन के सम्मुख रखकर भक्त भावावेश में डूब जाता है। संसार से विरक्ति पाने के लिये रूप का ध्यान सुन्दर उपाय है। वहाँ आसक्ति तो रहती है, इन्द्रियों के विषय भी रहते हैं, पर चूँकि वे भगवान के प्रति समर्पित हो जाते हैं, अतः वे अभिनन्दनीय हो जाते हैं। किन्तु कबीर का कार्य कठिन था। उनका आधार केवल 'नाम' था परन्तु रस्मी तौरपर उसका जाप कबीर का कोई हित न कर सकता था क्योंकि राम-राम का उच्चारण तो तोते भी कर लेते हैं। राम के नाम से संकेतित उस अप्रत्यक्ष सत्ता से प्रेम करना जिसके आभास जब तब इसी संकुल जीवन के भाग्यशाली क्षणों में हमें हो जाते हैं, कठिन कार्य है। उसके लिए सबसे प्रमुख कार्य था मन को वश में करना। इसीलिए योग साधनाओं का वे वर्णन करते हैं और उनके साथ ही राम की दुलहिया बन कर, अपने अखण्ड अचल सुहाग की घोषणा भी करते जाते हैं। अतः भक्तों की तरह कबीर को 'नाम व रूप' का आधार न था। वे यह नहीं कह सकते थे कि कलियुग में केवल नाम का आधार है। वे तो सर्वदा अविनासी राम से प्रेम को तलवार की धार पर चलने के समान मानते थे। राम का घर खाला का घर नहीं था जिसमें जब चाहे जैसे प्रवेश पा जाते, यहाँ तो वही जा सकता था जिसने शीश उतार कर भू पर रख दिया हो, जिसने मन रूपी मृग की शिकार करली हो। कबीर इस प्रेम के पथ को अत्यन्त कठिन मानते थे—

कबिरा खड़ा बजार में लहैं लुकाठा हाथ।
जो घर जारैं आपना, चलै हमारे साथ॥

बिना घर जलाये, पुत्र, कलत्र, यश, मान, हानि, लाभ, का मोह छोड़े हुये प्रेम के पन्थ पर जाना असम्भव था। क्या नारद की भक्ति का यही रूप था!

सूफ़ी-दर्शन

विकास—७ वीं शताब्दी से मुसलमानों का सम्पर्क भारत से बढ़ा। सर्व प्रथम वे दक्षिणी पश्चिमी समुद्र तट पर आये। १३ वीं शताब्दी में उत्तरी भारत का बहुत सा भाग उनके अधिकार में आ गया। इस प्रकार ७ वीं शताब्दी से १३ वीं शताब्दी तक, इस बीच की अवधि में बहुत से धर्म प्रचारक विद्वान सूफी मुसलमान भारतवर्ष में आये और इनके द्वारा भारत के साथ सांस्कृतिक सम्बन्ध जुड़ता गया। सूफी मत भारत में आने के पूर्व ही पश्चिमी देशों में विकसित हो चुका था। वहाँ उसके विकास की कहानी भी बहुत ही शिक्षाप्रद और रोचक है।

सूफी शब्द के कई अर्थ माने जाते हैं—

१—सफ़—आगे की पंक्ति। क़यामत के दिन आगे की पंक्ति में बैठने वाले लोग सूफ़ी हैं।

२—सुफ़ा—चबूतरा। मुहम्मद के सबसे अधिक प्रेमी मस्जिद में एक ऊँचे चबूतरे पर बैठते थे अतः ये लोग सूफी कहलाये।

३—'सूफ' का अर्थ है पवित्रता, अतः सूफी का अर्थ है "वह व्यक्ति जो हृदय से पवित्र है"।

४—सूफ़—ऊन। ऊनी वस्त्र पहनने वाले सन्त सूफी कहलाये। ये सन्त सादा ऊनी वस्त्र धारण करते थे अतः सूफी कहे गये। प्रायः इस अन्तिम मत को ही वैज्ञानिक माना गया है।* ईश्वर से प्रेम करना, सादा जीवन बिताना, स्वेच्छा से निर्धन रहना—ये सूफियों की विशेषतायें थीं।

---

*सूफी शब्द का यह अर्थ Noldeke की खोज का परिणाम है।

पश्चिमीय देशों में सूफी मत का स्रोत मुहम्मद के मत से भी प्राचीन साधनाओं में मिलता है, परन्तु आज जिसे हम सूफी मत कहते हैं उसका आधार 'कुरान' ही है।

मुहम्मद की मृत्यु के पश्चात् खलीफाओं का युग आया। इनमें पहले के चार खलीफा अबूबकर (६३४ ई०), उमर (६४३ ई०), उस्मान (६५५ ई०) अत्यधिक धार्मिक, सदाचारी और आदर्श व्यक्ति थे। आगे के खलीफाओं में शासन लिप्सा तथा राज्यविस्तार की भावना बढ़ती गई, खलीफाओं की प्रवृत्ति घोर साम्प्रदायिक होती गई और धर्म का प्रकृत स्वरूप लुप्त होता गया। शेखों और उलेमाओं ने इस्लाम को कठोर आचार प्रधान धर्म बना डाला। क्रिया-प्रधानता के वातावरण में 'भावना' का दम घुटता गया। नमाज़, रोज़ा को ही धर्म का सर्वस्व मान लिया गया। उन्हें जो न मानता उसका सिर बड़ी सुविधा से उड़ा दिया जाता। इस पवित्र कार्य को 'जिहाद' कहा गया। जिहाद के लिए खलीफाओं की सेनाओं ने भारत, ईरान आदि देशों में बड़े-बड़े अभियान किये। कुफ्र को मिटाने के लिए भारत में सर्व प्रथम आक्रमण मुहम्मद बिन क़ासिम का ७१२ ई० में सिन्ध पर हुआ था।

क्रिया-प्रधान कठमुल्लावाद के विरुद्ध भावनावाद की प्रतिक्रिया हुई। यही सूफी आन्दोलन था। सूफियों ने नमाज, रोजा आदि के विरुद्ध ईश्वरीय अनुराग को अपनी साधना का आधार बनाया। आचारों के विरुद्ध लौकिक प्रेम, सुरापान, सौन्दर्य प्रियता को ईश्वरीय साधना का आवश्यक अङ्ग मान लिया गया और आध्यात्मिक प्रेम का वर्णन, लौकिक प्रेम के आवरण में होने लगा। शेखों और उले-माओं ने इन सूफियों का भयङ्कर दमन कराया जिनमें मन्सूर को सूली पर चढ़ा देने की कथा प्रायः सर्वविदित है। दमन से प्रतिक्रिया और भी तीव्र हुई, तब सूफी साधना तथा परम्परा वादी मुहम्मदीय इस्लाम में सामञ्जस्य खोजा गया। यह कार्य इमाम गज़ाली ने किया और इस प्रकार सर्वदा के लिये सूफीमत को कुरान के अनुकूल सिद्ध कर दिया गया। नमाज को प्रार्थना के रूप में सूफियों ने स्वीकार कर लिया सूफियों का दर्शन, परम्परावादियों का दर्शन (तसव्वुफ) बना। भारत में प्रायः १२ वीं शताब्दी के बाद सूफी मत के सम्प्रदाय सङ्गठित

होकर प्रचार करने लगे तब उपर्युक्त सामञ्जस्य हो चुका था और परम्परावादी नमाज रोजा में विश्वास करने वाले मुसलमान बादशाह तथा शेख उलेमा भी सूफी फकीरों की प्रतिष्ठा करने लगे थे। ईश्वर के साथ गुप्त-प्रेम के कारण रहस्य प्रियता बढ़ी और इस रहस्यप्रियता ने सूफी फकीरों में चमत्कार-प्रियता उत्पन्न करदी थी। भारत में आकर चमत्कार-प्रदर्शक नाथ-पन्थ की योग साधना का इस मत पर प्रभाव पड़ा था। सूफी फकीर अपने चमत्कार के लिये नाथों की तरह ही प्रसिद्ध थे। हिन्दू और मुसमान दोनों पीरों और मुर्शिदों के पास लौकिक इच्छाओं की पूर्ति के लिये जाने लगे थे। सूफी प्रेम साधना का प्रभाव भारतीय साधना पर भी यत्र-तत्र पड़ा। निर्गुण धारा के सन्तों की अभिव्यक्ति पर वह प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। चूँकि भारत में प्रचारित सूफी मत कुरान पन्थ के साथ सामञ्जस्य का परिणाम था अतः सूफी मत की प्रवृत्ति ही सामञ्जस्य प्रधान थी सूफियों ने भारत में अपनी प्रेम की नीति से ही अपना प्रचार करना उत्तम समझा। हम इस विकास को इस प्रकार देख सकते हैं—

क्रमिक विकास :—कठोर आचार-वादियों ने धार्मिक शिकंजे में जनता को कस दिया था। अतः सूफियों ने इसके विरुद्ध पश्चात्ताप, प्रेम और आत्म समर्पण का पथ अपनाया। सूफी मत के वहाँ तीन सोपान दिखाई पड़ते हैं। प्रथम सोपान में साक़िक़, अयाज़, रबिया आदि सूफी साधक हैं। इनमें रबिया नामक साधिका का नाम अति प्रसिद्ध है। ईश्वरीय प्रेम में वह रात दिन रो रो कर प्रार्थनायें किया करती थी, वह ईश्वर के प्रति माधुर्य भाव रखती थी। ईश्वर से एकांत मिलन के आनन्द में वह बेहोश हो जाया करती थी। इस प्रथम सोपान का विकास 'मुहम्मद' के पूर्व युग में ही हुआ। तब सूफी शब्द का प्रयोग विरक्त साधु (Ascetic) के लिये होता था। 'रबिया' की प्रार्थनाओं में ही हमें उन प्रतीकों के बीज मिलते हैं जिनका प्रयोग सूफी कवियों के लिये आवश्यक होगया। विशेषकर 'प्रेम' और 'सुरा' के प्रतीक। तब यह केवल अनुभूति प्रधान पंथ था, दार्शनिकता का समावेश द्वितीय सोपान में हुआ।[1]

द्वितीय सोपान सूफियों के प्रचार का सोपान था, इस युग में

१—इन्साइक्लोपेडिया आफ ब्रिटेनिका।

यूनानी व भारतीय दार्शनिक धारणाओं से इस्लाम का परिचय हुआ। सूफियों पर नियोप्लेटोइज्म तथा भारतीय वेदान्त एवम् बौद्ध सिद्धान्तों का अद्‌भुत प्रभाव पड़ा और एक सशक्त दर्शन की उत्पत्ति हुई। इसमें जीव व ब्रह्म की एकता, संसार की असारता या मायात्मकता आदि सिद्धान्तों को स्वीकृति मिली। 'मंसूर' ने जीव व ब्रह्म की एकता को घोषित किया ('अन-अल हक')। अतः कठमुल्लावादी शासकों ने उसे सूली पर चढ़ा दिया क्योंकि मुहम्मदीय मत में जीव को गुलाम (बन्दा) तथा ईश्वर को स्वामी माना जाता था, दोनों की एकता घोषित करना गुस्ताखी समझा गया। कर्खी दारानी (८१५ ई० मृत्यु) ने संसार-त्याग, भावावेश, कर्म त्याग, ईश्वर-प्रेम, आत्म-समर्पण आदि का प्रचार किया था। 'जुनैद' ने निर्वाण (फना) का सिद्धान्त प्रचारित किया था। आगे ६२२ ई० में मंसूर को सूली पर चढ़ा दिया गया। द्वितीय युग का सबसे अधिक क्रान्तिकारी प्रचारक यही मंसूर था। मंसूर कुरान के बताये मार्ग को अवहेलना करता था। नमाज, रोज़ा का वह अविश्वासी था। वह हृदय की अनुराग-भावना को बढ़ा कर भावावेश की स्थिति में ईश्वर व जीव की एकता का उपदेशक था। उसे विधर्मी मानकर प्राणदण्ड दे दिया गया। इस प्रकार द्वितीय सोपान में सूफी धर्म मुहम्मद मत की प्रतिक्रिया के रूप से विकसित हुआ। मुहम्मद की मृत्यु के बाद सूफी सन्त इधर-उधर भ्रमण करते हुये त्यागमय जीवन व्यतीत करते थे। इस युग में एक ओर तो कोरा कर्मकाण्ड था, दूसरी ओर घोर विलासिता, अधिकारों का दम्भ तथा घोर धार्मिक अभिमान था। सूफी इसके विरुद्ध प्रेम व त्याग के मार्ग पर चले अतः उनका महत्व बढ़ता गया। उल्माओं का विरोध होने लगा, धीरे-धीरे यह सङ्गठित सम्प्रदाय बनगया जिसमें 'गुरु' का स्थान सबसे अधिक महत्व पूर्ण रहा। 'गुरु' 'करामात' के लिये प्रसिद्ध होते गये, इसी समय सूफी धर्म का विभिन्न दार्शनिक पद्धतियों से परिचय हुआ और सूफी-दर्शन 'तसुव्वुफ' का रूप विकसित होता गया। सूफियों में जो 'शान्ति' का सिद्धान्त (quieticism) प्रचलित था, वह 'सर्ववाद' में बदल गया और यह 'इस्लाम विरोधी' दर्शन बन गया, इस्लाम के साथ समन्वय तृतीय युग में हुआ।

तृतीय युग के आरम्भ में स्पष्टतः दो चिंतन धारायें बन गई

थीं। १—कुरानवादी क्रिया-प्रधान चिंतनधारा जिसमें शेख, उलेमा आदि परम्परावादी थे, इनके मुख्य सिद्धान्त ये थे—ईश्वर एक है, वह सर्वशक्तिमान, सृष्टा, आकाश व पृथ्वी का स्वामी है। वह प्रथम और अन्तिम शक्ति है, वह व्यक्त और अव्यक्त है, कल्पनातीत है, कुरान ने ईश्वर के ९९ नाम दिये हैं जो ईश्वर के स्वरूप को बताते हैं। संसार ईश्वर का फैज (grace) है। इसका अस्तित्व है, यह मिथ्या नहीं है। (वजूद)

जीवात्मा (रूह) अनुपम, शाश्वत और विशुद्ध है, यह मृत्यु के बाद सुख व दुख का अनुभव करती है। यह मनुष्य शरीर में शासन करती है। जीव ब्रह्म नहीं हो सकता वह सेवक है और ईश्वर सेव्य।

सनातनी इस्लाम का मुख्य आधार भय की भावना है, न्याय-दिवस (Judgement day) तथा नर्क की अग्नि का बार-बार वर्णन कुरान में किया गया है। 'मुक्ति' की प्राप्ति ईश्वर की इच्छा पर है। अल्लाह सद् व्यक्ति को धार्मिक पथ पर ले जाता है और दुष्ट को पथभ्रष्ट कर देता है, बुरे व्यक्ति उसके कोपभाजन बनते हैं। केवल कुरान के आदेशों का पालन करके ही उसकी दया की प्राप्ति सम्भव है। रोजा, नमाज, प्रार्थना-आदि बाह्य क्रियाओं का पालन ही साधन है। सनातनी मत के अनुसार अल्लाह प्रेम का विषय नहीं हो सकता। वह केवल श्रद्धा का विषय है। इस मत में तत्त्वज्ञान प्रायः नहीं के बराबर है। इस्लाम का अल्लाह, शाश्वत, सर्वशक्तिमान देवता के समान है। 'परात्पर ब्रह्म' के साथ हम इस 'अल्लाह' को नहीं रख सकते। अल्लाह स्वामी है, मनुष्य उसका 'बन्दा' (Slave) है। वह एक दयालु पिता के के समान नहीं है जो अपने अज्ञानी बच्चों के अपराधों को क्षमा कर देता है। वह एक कठोर, न्याय प्रिय, भावना-विहीन शासक के समान है, और अपनी दया केवल उन्हीं पर दिखाता है जो उसके क्रोध को नम्रता, निरन्तर सेवाकार्य, शास्त्रानुमोदित नियमों के पालन तथा पश्चाताप आदि से शान्त कर पाते हैं। क़भी कोई साधक अल्लाह से वैयक्तिक सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकता। कुरान के नियमों में कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। वह अन्तर्चेतना (Intution) का विषय नहीं है, वह सेवा व आज्ञा-पालन से प्राप्त 'अल्लाह' है।

इसके विरुद्ध सूफी चिन्ताधारा थी जो ईश्वर व जीव की तात्विक-एकता, उसकी सर्व व्यापकता, जगत को उसका ही व्याप्य स्थल मान कर उसमें ईश्वर के सौन्दर्य की झलक देखने की प्रवृत्ति, क्रिया के स्थान पर आन्तरिक अनुराग की वृद्धि, आत्म समर्पण, ईश्वर से मिलन के लिये विरहाकुलता तथा मिलन की स्थिति में अद्‌भुत भावावेश के कारण बेहोशी आदि में विश्वास करती थी। संक्षेप में इस्लामी चिंतन एकेश्वरवादी था, दूसरा सूफी चिंतन सर्वात्मवादी। प्रथम में सेवा, आज्ञापालन, प्रार्थना व नियम पालन का महत्व था, दूसरे में प्रेम की मस्ती में नियमों की अवहेलना, कर्म त्याग तथा घर फूँक मस्ती थी।* अतः दोनों दो विपरीत धारायें थीं। मंसूर जैसे अनेकों सूफियों के बलिदान के पश्चात् तृतीय युग में दोनों में सामञ्जस्य बिठाने का प्रयत्न किया गया। यह ऐतिहासिक कार्य 'गजाली' ने किया। सूफीमत का अव्यवस्थित रूप इन्होंने ही सँम्हाला। अब तक सनातन पंथी मुसलमान इससे घृणा करते थे और सूफी इन कठमुल्लों के विरुद्ध डटकर प्रचार करते थे। अब दोनों मतों के कोने घिस कर दोनों में स्वीकृति योग्य परिष्कार कर दिया गया। गजाली ने जीव व ब्रह्म के एकत्व (तौहीद) तथा तवक्कुल (आत्मसमर्पण) को स्वीकार किया और 'नमाज' को प्रार्थना के रूप में स्वीकार कर लिया। अब 'इस्लाम व सूफी मत' का साथ-साथ प्रचार हुआ, भारत में दोनों का अधिक प्रचार उक्त समझौते के बाद ही हुआ था। इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि यद्यपि सनातनवादियों ने सूफी दर्शन के तत्वों को

---

* The earliest groups of Muslims who were inclined towards Mysticism were ascetically-minded men who desired to turn away from worldly distractions in order to devote themselves wholly to contemplation and worship. They were swayed by powerful religious emotion and they laid more emphaisis on inner discipline and purity rather than on conformity with religious injunctions and performance of religious rites.

—History of Philosophy, Eastern & Western, P. 497

स्वीकार कर लिया और सूफियों ने भी प्राचीन कटुता को कम कर दिया परन्तु सूफी काव्य में सदा ही शेख, जाहिद, (परहेजगार=पवित्रतावादी, संयमी) नासेह (धर्मोपदेशक) के विरुद्ध काव्यात्मक विद्रोह की अभिव्यक्ति होती रही। प्रेम, विरह, मस्ती, बेहोशी तथा मिलन के भावावेश के आगे धार्मिक प्रवृत्तियों व संयम-प्रधान उपदेशों की सदा निन्दा की जाती रही। उर्दू के सूफी कवियों गालिब, मोमिन, शाद, जिगर, जोश आदि सब में यह प्रवृत्ति पाई जाती है किन्तु इसके विपरीत जायसी, कुतबन, उस्मान आदि में इस्लाम की प्रशंसा तथा प्रचार की भावना अधिक तीव्र प्रतीत होती है। कहीं-कहीं हिन्दूधर्म की निन्दा भी की गई है।

इससे स्पष्ट है कि इमाम गजाली की समन्वयवादी चिन्तनधारा का प्रभाव मध्यकालीन हिन्दी के सूफी कवियों पर विशेष था जबकि दरबारों के सूफी उर्दू कवियों में द्वितीय सोपान वाली मन्सूर की क्रान्तिकारी विचार धारा को अधिक प्रश्रय मिला जहाँ दरबारी कवियों का विरोध अपनी विलासिता की रक्षा के लिए बहाना खोजने के कारण था। चूंकि सूफी दर्शन में लौकिक प्रेम को ही सोपान माना जाता था और दोनों में अविरोध था, अतः दरबारी कवि सूफियों की पद्धति पर शराब, बुतपरस्ती तथा प्रेम का विरोध करने के कारण शेखों तथा धार्मिक उपदेशकों को खूब कोसते थे, और शराब, गुल व बुलबुल के प्रेम व विरह के गीत खुलकर गाते थे। आगे गजल के लिये शराब, प्रेम की प्रशंसा, धार्मिक-प्रवृत्तियों की निन्दा आदि प्रवृत्तियाँ रूढ़ होगई और इसी नफ्सपरस्ती या विलासी नवाब बादशाहों की चाटुकारिता के कारण उर्दू कविता में प्रतिबिम्बित सूफी-चिन्तन में वह पवित्रता न रही जो ईरान के सूफी साधकों में दिखाई पड़ी थी। स्वयं फारसी के शायरों के स्तर को उर्दू के कवि स्थिर न रख सके। पतन की अन्तिम सीमा हम अवध के नवाबों की दरबारी कविता में स्पष्टतः देख सकते हैं। सारांश यह है कि गजाली के द्वारा समन्वित सूफी मत का प्रभाव आगे धार्मिक व दार्शनिक क्षेत्रों में स्वीकृत हो गया, जिसकी अभिव्यक्ति हम हिन्दी के सूफी कवियों में देखते हैं और साथ ही फारसी व उर्दू कविता में मंसूर या हल्लाजवादी धारा का प्रसार व प्रचार देखते

हैं। वस्तुतः सूफियों में गजाली के बाद १२ सम्प्रदाय जीवित रहे जिनमें सनातन पन्थियों ने 'हुलूली' (अवतारवादी) तथा 'हल्लाजी' (मंसूरी) (अद्वैतवादी) को अस्वीकार ठहराया था। कहना न होगा कि उर्दू व फारसी कविता पर हल्लाजी (मन्सूर का दूसरा नाम हल्लाज था) धारा का प्रभाव था। चूँकि सनातन पन्थी इस धारा को निन्दनीय मानते थे अतः कवियों ने गजलों, रुबाइयों आदि में सनातन पन्थियों की कठोर आलोचना की है। यह दूसरी बात है कि ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण विलासिता के युग में आध्यात्मिक शराब व प्रेम का स्थान लौकिक वासनात्मक प्रवृत्तियों ने लेलिया था। आगे कवियों का उद्देश्य सदाचार से शत्रुता के प्रदर्शन करने में ही रह गया।

उक्त दो धाराओं के अतिरिक्त १० और सूफी सम्प्रदाय थे जो प्रायः सनातन-वादियों द्वारा स्वीकृत थे पर इनमें भी कोई कम क्रान्तिकारो था कोई अधिक।

आगे सुहरावर्दी व मुहीउद्दीन इब्न अरबी नामक दो सूफियों ने पुनः सूफी-दर्शन को व्यवस्था दी। सुहरावर्दी का ग्रन्थ 'अवारिफुल मारूफ' सूफियों का मुख्य ग्रन्थ माना जाता है। स्टैण्डर्ड सूफी-दर्शन के लिये यह ग्रन्थ पठनीय है।

फारसी कवियों में उमर खैयाम (मृत्यु ११२३ ई०) निजामी (१२०३ ई०), रूमी (१२७३ ई०) सादी (१२८२ ई०) हाफिज (१३९० ई०) तथा जामी (१४९२ ई०) आदि प्रसिद्ध कवि हुये हैं।❀

इन कवियों ने सूफी-दर्शन को काव्य के माध्यम से समझाया है। जलालुद्दीन रूमी ने अपनी मसनवी में कहा है कि 'सूफीमत' को समझाया नहीं जा सकता, उसकी परिभाषा नहीं की जा सकती। जैसे अन्धकार में हाथी को कोई केवल पैर, कोई केवल पूँछ तथा कोई केवल सूँड़ समझता है उसी प्रकार 'सूफीमत' को कोई कुछ और कोई कुछ समझता है। परन्तु रूमी के अनुसार सूफीधर्म के निम्नलिखित

❀ देखिये History of Philosophy—Eastern and Western, सूफी काव्य संग्रह—परशुराम चतुर्वेदी तथा तसव्वुफ और सूफीमत—चन्द्रवली पाण्डेय।

तत्त्व हमारे सम्मुख आते हैं इनसे सूफीमत पर कुछ प्रकाश अवश्य पड़ता है :—

१—सूफीमत वह मत है जिसमें कर्म का महत्त्व नहीं है, साधक आराध्य के साथ मिलनावस्था को प्राप्त कर लेता है। इस मिलन स्थिति को केवल आराध्य ही समझता है।

२—सूफी मत आत्मानुशासन (Self discipline) का ही दूसरा नाम है।

३—सूफी मत अपरिग्रहवाद है।

४—सूफी मत नियमानुसरण नहीं है, यह एक आन्तरिक साधना है, यदि यह केवल नियमों का पालन होता तो उससे प्रत्यक्ष पद्धति पर आराध्य की प्राप्ति सम्भव हो जाती, पर ऐसा सम्भव नहीं है। सूफी मत एक विज्ञान नहीं है क्योंकि यदि यह विज्ञान होता तो इसकी शिक्षा सम्भव हो जाती परन्तु न तो यह मत शिक्षण का ही विषय है न किसी नियम पालन का ही।

५—सूफी मत मुक्ति का नाम है, बन्धनों से मुक्ति।

६—जगत सीमित और अपूर्ण है, अतः अपूर्णताओं की ओर से आँख बन्द करके, पूर्ण का चिन्तन करना ही सूफीमत सिखाता है।

७—सूफी मत प्राणवायु तथा ऐन्द्रिक सङ्गठन पर अनुशासन करना सिखाता है। (The mystics of Islam page 26)

स्पष्ट है कि यहाँ 'सूफीमत' इस पद में अनेक विभिन्न अर्थों की व्यञ्जना भरी हुई है। उसकी साधना का रूप निश्चित न होने से उनमें अनेक सम्प्रदाय बनते गये, अनेक धारणाओं को पचा लेने की उसमें शक्ति बनी रही। सूफीमत वेदान्त, बौद्ध दर्शन, यूनानी 'नियोप्लेटो-इज्म' तथा कुरानमत से अनेक धारणाओं को लेकर अपना विकास करता गया।

ऐतिहासिक विकास (भारत में)—भारत में सूफी मत का प्रचार मुस्लिम राज्य की वृद्धि के साथ-साथ हुआ। सूफी विचारकों तथा सनातन पन्थी मुस्लिम दार्शनिकों पर भारत के दर्शन का भी महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। हम पहले ही दिखा आये हैं कि सूफी मत के विकास के द्वितीय

सोपान में यूनान तथा भारत के दर्शन का प्रचार ईरान में हो चुका था। हारूँ रशीद के शासनकाल में बहुत से भारतीय ग्रन्थों का अनुवाद हो चुका था। सूफी मत वस्तुतः भारतीय वेदान्त, यूनानी दर्शन (यूनानी दर्शन पर भी भारतीय प्रभाव पड़ा है) तथा कुरान मत का एक मिश्रित रूप है। सूफी मत का मुख्य सिद्धान्त है जीव, ब्रह्म व जगत की एकता। जीव व ब्रह्म की एकता वेदान्त का मुख्य विषय है। जगत व ब्रह्म की एकता (हक=ब्रह्म, खलक=जगत) विशिष्टाद्वैती वेदान्त का ही एक भाग है। पर जीव व ब्रह्म की एकता तो निश्चित रूप से सूफीमत में भारत से ही उधार ली गई है। भारत में आकर भी सूफी मत पर भारतीय-दर्शन का प्रभाव पड़ा, यहाँ आकर योग व वेदान्त का सम्पर्क सूफी मत से अत्यधिक बढ़ता गया।

मुगल साम्राज्य के पूर्व तुगलक बादशाहों ने संस्कृत के ग्रन्थों का अनुवाद फारसी में कराया था। मुगल दरबार दार्शनिक चिन्ताओं के केन्द्र बनते गये। १६ वीं शताब्दी के पूर्व सूफियों का दर्शन प्रायः बाहरी प्रेरणाओं पर चलता रहा परन्तु मुगल काल में मौलिक चिन्तक उत्पन्न होते गये। शाहजहाँ की संरक्षकता में अब्दुल हकीम सियालकोटी, मीर जाहिद (औरङ्गजेब के काल में) प्रसिद्ध मौलिक चिन्तक थे। परम्परावादियों में शाहवलीउल्ला प्रख्यात दार्शनिक थे। वलीउल्ला ने मुगल दरबारों तथा राज्य व्यवस्था की कड़ी आलोचना की है। गान्धीजी के भी पहले इसी दार्शनिक ने कहा था कि राजनीति व धर्म को अलग-अलग नहीं मानना चाहिये, व्यक्ति व समाज में अन्तर न होना चाहिये।

सूफी-साधकों ने इस्लाम की तलवार के पीछे प्रेम के मार्ग से इस्लाम का प्रचार किया। उनके त्याग-मय सादा जीवन का भारतीय जनता पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। उन्होंने चमत्कार दिखाने में परम्परा से प्राप्त भारतीय अन्ध विश्वास से भी लाभ उठाया। पीर व मुर्शिदों की समाधियाँ पुजने लगीं।

इनमें चिश्ती सम्प्रदाय सर्वाधिक प्रसिद्ध हुआ, प्रसिद्ध मुईनुद्दीन चिश्ती (११४२ ई०—१२३६ ई०) अजमेरी ने सर्वप्रथम भारत में इस मत का प्रचार किया। मुहम्मद गोरी ने अजमेर में एक मस्जिद

इनके लिए बनवा दी थी, अजमेर की इस दरगाह को एक पवित्र तीर्थ माना जाता है। इनके शिष्यों में 'काकी' प्रसिद्ध थे। निज़ामिया, साबिरिया सुहंरावर्दी, क़ादरिया, नक्शबंदिया, मदारी, शत्तारी, उवैसी, कलकंदरिया, मलायती आदि अनेक सूफी सम्प्रदाय हैं। जिनका विकास १२वीं शताब्दी के बाद भारत में होता रहा।

दार्शनिक दृष्टि से भारत में दो सम्प्रदाय मुख्य थे, (१) वजूदिहा (अद्वैतवादी) (२) शहूदिहा (सर्वात्मवादी)। प्रथम मत के दार्शनिक यह विश्वास करते हैं कि सब कुछ ब्रह्म है उसके अतिरिक्त यहाँ कुछ नहीं है। दूसरा सम्प्रदाय यह मानता है कि यह सब प्रसार ब्रह्म का ही अंश है, उसी से बना है। प्रथम शङ्कराचार्य तथा दूसरा रामानुज के अनुकूल पड़ता है। भारत में 'हुजवीरी' नामक सूफ़ी दार्शनिक १२वीं शताब्दी में आया था। यह भी कहा जाता है कि स्वयं मंसूर यहाँ आया था। हुजवीरी लाहौर में रहा था।

ऊपर बताये गये अनेक सम्प्रदायों में कुछ बातें सामान्य रूप से मान्य हैं। उनका मतभेद प्रायः प्रयोग के समय आ पड़ता है। मनुष्य के भीतर अद्भुत शक्ति का निवास है, उसके भीतर सारी दुनिया (ख़लक) रहती है, अर्थात् मनुष्य के पिण्ड में आत्मा व जड़ तत्व दोनों पदार्थ हैं। आत्मिक तत्व हैं—क़लब=हृदय, रूह=आत्मा, सिर्र=चेतना, काफी= गुप्त तत्व, अक़फ़ा=अत्यधिक गुप्त तत्व। इनके अतिरिक्त पाँच प्रकार के अहङ्कार (नफ़्स) तथा चार महाभूत पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु जड़ तत्त्व हैं। उक्त आत्मिक (Spritual) तथा जड़ (Mate·ial) तत्त्वों के मिलने से मनुष्य की शुद्धता समाप्त हो जाती है, वह अपना शुद्ध स्वरूप भूल जाता है, ईश्वर तथा मनुष्य के बीच पर्दा पड़ जाता है।

आध्यात्मिक जीवन एक यात्रा है (तरीक़ा) तथा साधक एक यात्री (सालिक) है। सोपान इस प्रकार हैं—

(१) शरीअत—इसमें साधक पश्चात्ताप करता है, आगे ईश्वरीय आज्ञा का पालन करने के लिये कटिबद्ध होता है।

(२) तरीक़त—इसमें कर्म त्याग, पवित्रता तथा ईश्वर की स्मृति का अभ्यास किया जाता है।

(३) मारफत—इसमें चिन्तन व मूर्च्छितावस्था रहती है ताकि

ईश्वर व जीव के बीच में भिन्नता की भावना का नाश हो जाय और ब्रह्म की प्राप्ति हो जाय।

(४) हकीकत—उक्त तीन अवस्थाओं को पार करने के बाद जीव का ब्रह्म से मिलन हो जाता है, इसे 'वस्ल' कहते हैं। यात्रा के अन्त में जीव को अद्भुत आनन्द व प्रकाश की प्राप्ति होती है। वजूदिहा तो जीव व ब्रह्म का आत्यन्तिक मिलन बताते हैं और शुहूदिया मिलन-स्थिति का सापेक्षिक रूप से वर्णन करते हैं। वजूदिहा सम्प्रदाय में जगत का वर्णन शङ्कर की पद्धति पर हुआ है। ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु को सत्ता नहीं है। जगत सत्य नहीं, कल्पित है। 'सत्य' नाम व रूपों से परे है। वह ब्रह्म स्वयं अपने आप, अपने से ही क्रीड़ा कर रहा है कहीं कोई अन्य वस्तु नहीं है, (He revealed Himself of Himself to Himself) अन्य जगत की वस्तुयें प्रतीयमान सत्ता रखती हैं जैसे कोई वस्त्र पहन लेता है उसी प्रकार महाभूतों का वस्त्र जीवात्मा पहन कर ब्रह्म से अन्यथा प्रतीत होता है। यह विवेचन शङ्कर के अद्वैतवाद का अनुकरण मात्र है। वजूदिहा सम्प्रदाय के दार्शनिक इब्न-अल-अरबी, तथा अब्दुल करम जिली के अनुगामी थे, इनमें 'अब्दुर्रहमान जामी' सबसे प्रसिद्ध दार्शनिक हुआ है।

आगे दारा-शिकोह ने सूफी दर्शन की व्याख्या की। दारा-शिकोह औपनिषद-दर्शन तथा सूफीदर्शन को एक मानता है। दोनों 'ज्ञान' की सत्ता स्वीकार करते हैं, दोनों मानवीय व दिव्य ज्ञान में विश्वास करते हैं। मानवीय ज्ञान सामान्य ज्ञान है और दिव्य ज्ञान अन्तर्चेतना (Intuition) पर निर्भर है। प्रथम में इन्द्रियाँ सहायता करता है, दूसरे में जब ऐन्द्रिक ज्ञान सुप्त हो जाता है तब दिव्य ज्ञान होता है, सूफियों में इस दिव्य ज्ञान को 'हाल' की अवस्था माना जाता है। मूर्च्छितावस्था में अनेक अलौकिक अनुभव होते हैं, और ईश्वर से साक्षात्कार होता है। मानवीय ज्ञान को 'इल्म' तथा दूसरे को 'मारफत' कहते हैं।

दारा शिकोह के अनुसार हिन्दू व सूफी दोनों मतों में सत्य रूप ब्रह्म एक है और अद्वितीय है। इसे हिन्दू 'परम' तथा सूफी 'मुतलक़' कहते हैं सत्यस्य सत्यम् या हक़ीक़त-अल-हक़ीक़त। इस

ब्रह्म के अतिरिक्त जो कुछ है वह मिथ्या, कल्पना, माया, मौजूद या मौहम है। यह ब्रह्म अव्यक्त, बातिन तथा व्यक्त 'जाहिर' है। वह सर्वव्यापी, मुहीत तथा अन्तर्यामी, 'सारी' है। इस शक्ति को पहचान कर (मारफत) अद्वैत भावना का अभ्यास करने से अन्त में 'मैं वही हूँ' की स्थिति प्राप्त हो जाती है। अन्तिम स्थिति तक पहुँचने के लिए भूमि या मञ्जिलों की आवश्यकता होती है। वे मञ्जिलें ये हैं—

(१) जागृतावस्था (नासूत), (२) स्वप्न (मलकूत), (३) सुषुप्ति (जबरूत), (४) तुरीय (लाहूत)। अन्तिम अवस्था में 'मैं' व 'तू' की भावना नष्ट हो जाती है, और साधक को 'सोऽहमस्मि' अर्थात् अन-अल-हक़ की अवस्था प्राप्त होती है जिसका अर्थ है—मैं वही हूँ। मुझमें व ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं है। मंसूर को यही अन्तिम स्थिति प्राप्त हो गई थी, जब उसने सूली के ऊपर अन-अल-हक़ पुकारा था।

दारा शिकोह की उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि किस प्रकार शाहजहाँ के समय तक हिन्दू व सूफी दर्शन निकट आ रहे थे, और दोनों में समता खोज ली गई थी। यह तो समाज के उच्चवर्ग का प्रयत्न था, समझदार शासक वर्ग का। किन्तु जन-आन्दोलनों में भी हिन्दू-मुस्लिम एकता का भाव जागृत होगया था, जिससे दोनों जातियों की परस्पर कटुता बहुत कुछ कम होगई। सूफ़ी आन्दोलन के साथ ही साथ भक्ति-आन्दोलन का विकास हुआ। एक ओर कबीर, नानक, चैतन्य आदि थे तो दूसरी ओर जायसी, उसमान व कुतबन। भक्तों के दो उद्देश्य थे—(१) उपासना में धार्मिक दम्भ के विरुद्ध विद्रोह करना। भक्त हृदय की शुद्धता, सरलता, पवित्रता तथा प्रेम पर अधिक ध्यान देने लगे। वाह्य प्रदर्शन, रीति-रिवाज, क्रिया-प्रक्रिया को वे महत्व न देते थे, नाम का जाप तथा ध्यान ही उनका सर्वस्व था। (२) मानव-मात्र की एकता, प्रेम व सेवा का प्रसार करना।

कबीर, नानक, तुकाराम आदि ने एकता, प्रेम व सेवा का प्रचार किया, सूफी आन्दोलन भी प्रेम के बल पर फला फूला। उसने हिन्दुओं को हिन्दुओं की कहानियों में ही इस्लाम का सन्देश समझाया। अवतारवादी भक्तों सूर-तुलसी चैतन्य आदि ने भी 'प्रेम' को ही साधना का आधार माना। भक्ति आन्दोलन ने शूद्र, स्त्री सबको धर्मा-

विकार किया, जाँति-पाँति, छूआछूत की भावना की भी निन्दा की गई। एक सामान्य मानवतावाद का प्रचार भक्ति आन्दोलन ने किया। सूफी धर्म ने इसमें आवश्यक भाग लिया। सूफियों की प्रेम साधना ने भक्ति आन्दोलन को भी किसी सीमा तक प्रभावित किया।

सूफी साधना और दर्शन—हम सूफी दर्शन के अनुसार जीव व ब्रह्म के स्वरूप का ऐतिहासिक विकास दिखा चुके हैं, सूफी जीव को बून्द तथा ब्रह्म को नदी की उपमा देते हैं। जिस प्रकार क़तरा (बून्द) व दरिया में कोई अन्तर नहीं, उसी प्रकार जीव व ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं। शुहूदिया सम्प्रदाय जो जगत को ब्रह्म का ही प्रतिरूप मानता है, जगत को बर्फ तथा ब्रह्म को जल की उपमा देता है। जैसे बर्फ पिघल कर जल बन जाता है उसी, प्रकार जगत व ब्रह्म में अभेद है।

साधना के सम्बन्ध में हम चतुर्विध सोपानों का वर्णन कर चुके हैं इनके अतिरिक्त सूफी सप्त सोपान और मानते हैं ये सप्त सोपान पश्चाताप (तोबा), आत्म शुद्धि, दारिद्रय, नफ्स, का संयम, ईश्वर-विश्वास, जिक्र तथा ध्यान हैं, जायसी ने इन्हीं सात सोपानों तथा चार अवस्थाओं (शरीअत, तरीकत आदि) के लिये लिखा है—

चार बसेरे सौं चढ़ै, सत सौं उतरे पार।

कुछ विद्वान उपर्युक्त सात सोपानों को प्रारम्भिक तैयारी मानते हैं। जब रत्नसिंह पद्मावती की सौन्दर्य प्रशंसा हीरमन तोते से सुनता है तो पहले वह अपने पूर्व जीवन पर पश्चाताप करता है, फिर वैराग्य जगता है, जोगी बन कर वैभव को छोड़कर वह दरिद्र बनता है, धैर्य व ईश्वर विश्वास के साथ वह सन्तोष की वृत्ति धारण करके अटल रहता है, तभी वह पद्मावती के दर्शन का आनन्द उठा पाता है। वस्तुतः सोपान (Stage) तथा स्थिति (State) में अन्तर माना गया है। उपर्युक्त सप्तसोपान तथा चार मंज़िलें सूफीधर्म के संन्यास धर्म तथा चरित्र सम्बन्धी अनुशासन को निर्देशित करने वाली स्थितियाँ हैं, इनसे आगे की या समानान्तर स्थितियाँ (States) 'हाल' कहलाती हैं। यह एक मनः स्थिति विशेष है। 'किताब-अल-लुमा' के अनुसार 'हाल' १० स्थितियों के समूह का नाम है। ये इस प्रकार हैं—

(१) ध्यान (२) ईश्वर की निकटता का अनुभव (३) प्रेम (४)

भय (५) आशा (६) इच्छा (७) घनिष्ठता (८) शान्ति (९) चिन्तन (१०) निश्चिन्तता। सोपानों तथा स्थितियों में अन्तर यह है कि जहाँ हम सोपानों का अपने प्रयत्न से अतिक्रमण कर सकते हैं वहाँ 'स्थितियों' के लिये आध्यात्मिक आवेश, भाव-निमग्नता, गम्भीर अनुभूति तथा चित्तवृत्तियों की घोर अन्तर्मुखता की आवश्यकता होती है। स्थितियाँ प्रयत्न साध्य नहीं हैं वे स्वयंमेव आती जाती रहती हैं साधक का उनके ऊपर वश नहीं है :—

'They (States) descend from God in his heart without his being able to repel them when they come or to retain them when they go."*

साधना के सोपानों को पार कर लेने के पश्चात् ईश्वर साधक को इन स्थितियों में से गुजरने का अवसर देता है। इसके बाद ही ज्ञाता ज्ञेय को पहचान लेता है। इन अन्तिम स्थितियों को 'मारफत' और 'हकीकत' कहा गया है। यहाँ 'तालिब' (साधक) सच्चा ज्ञाता या 'आरिफ' बन जाता है और तब ज्ञाता व ज्ञेय का भेद मिट जाता है। ज्ञाता अपने स्वरूप को पहचान लेता है, दोनों के बीच से 'पर्दा' हट जाता है। सांसारिक अनुभव नष्ट होकर शुद्ध आध्यात्मिक भूमि में विचरण करता हुआ साधक अन-अल-हक या 'सोऽहमस्मि' का अनुभव करता है। द्वन्द्वातीत अवस्था यही है। इस अवस्था में निमग्न रहकर सूफी साधक प्रायः अचेत हो जाते हैं। इस स्थिति की तुलना 'खुमार (मस्ती) से भी की गई है, यह आध्यात्मिक नशा स्थायी रहता है।

इस स्थिति में जीव व ब्रह्म के मिलन को 'वस्ल' कहा जाता है और इस आनन्दमय खुमार की अवस्था 'वज्द' कहलाती है। ईश्वर के प्रति सच्चे 'इश्क' से ही यह 'वज्द' तथा 'वस्ल' की स्थिति प्राप्त होती है।

१—सप्त सोपानों में गुजरता हुआ साधक कैसे वज्द व वस्ल तक पहुँचता है—यह समझ लेना आवश्यक है।

प्रथम स्थिति 'तोबा' की स्थिति है, अर्थात् पापों को छोड़ कर, सूफीमत में प्रवेश करना, यही 'तोबा' की स्थिति है। इसके भी तीन सोपान हैं—

* The mystics of Islam.

क—पश्चाताप—इससे 'रूह' में जागृति उत्पन्न होती है, पापी अपने पाप के विषय में सोचने लगता है।

ख—वह पापकर्मों को सहसा छोड़ देता है।

ग—वह प्रतिज्ञा करता है कि अब वह इन सांसारिक कृत्यों में न फँसेगा। यदि वह प्रतिज्ञा की रक्षा नहीं कर पाता तो पुनः प्रतिज्ञा करता है, इसी प्रकार अन्त में वह कभी न कभी सफल हो ही जाता है एक सूफी ने ७० बार प्रतिज्ञा तोड़ी, अन्तिम बार वह उसकी रक्षा कर सका। क्या पापों से तोबा कर लेने के बाद पापों को याद करना चाहिए? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि उसकी कोई आवश्यकता नहीं है, उन्हें भूलना चाहिये। जब सारे सांसारिक अनुभवों को साधक भूल कर ईश्वर में निमग्न हो जाता है तो फिर पाप कहाँ रहेंगे?

२—सप्तसोपानों में दूसरा सोपान है आत्मसंयम या आत्म शुद्धि (Pargative stage) इसमें साधक, किसी शेख, पीर या मुरशिद (गुरु) को खोजकर उसकी देख रेख में अपने मन व इंद्रियों पर अनुशासन सीखता है। यह ट्रेनिङ्ग ३ वर्ष की होती है। इसमें असफल होने पर साधक को सम्प्रदाय में प्रविष्ट नहीं किया जाता। सफल होने पर उसे सूफियों के वस्त्र देदिये जाते हैं। यह पोशाक 'मराकृत' कहलाती है। इस दशा में साधक को भिक्षा माँगना, जन सेवा आदि कार्य भी करने पड़ते हैं।

३—दारिद्रय—इस्लाम में भी एक प्रकार का 'नियतिवाद' प्रारम्भ से ही स्वीकृत रहा है कि मनुष्य के सारे कार्यों का अनुशासन अल्लाह करता है, मनुष्य की स्वतंत्र सत्ता कुछ नहीं है। साधक को ईश्वरीय नियमों के विरुद्ध न जाना चाहिये। सांसारिकता में निमग्न न होना मुख्य नियम है. कम से कम सांसारिक वस्तुओं का संग्रह ही दारिद्र्य है, जो जैनियों के 'अपरिग्रह' से मिलता जुलता है। 'दाऊद' नामक साधक केवल एक चटाई और एक ईंट (तकिया) अपने पास रखता था। सूफी इस बाहरी त्याग के साथ आन्तरिक निस्पृहता को भी महत्व देते हैं।

सुफी फकीर तथा 'दरवेश' हृदय से इच्छा रूपी धन को अलग कर देते हैं तथा शरीर से उपभोग की सामग्री को अलग रखते हैं।

यदि ईश्वर किसी सूफी को सम्पत्तिवान बना देते हैं तो वह मन से निर्लिप्त रहने का अभ्यास करता है। दारा शिकोह ऐसा ही सूफी था।

४—नफ़स का समय (Self-mortification) प्रत्येक मनुष्य में आसुरी प्रवृत्तियाँ होती हैं, यही वासनायें हैं, (नफ़स) इनके ऊपर विजय पाना अनिवार्य है, ऐन्द्रिक प्रेम इसी का ही एक रूप है, साधक इस पर विजय प्राप्त करता है। 'नफ़स' का नाश संयम से ही सम्भव है। मौन, व्रत, एकान्तवास, चिन्तन आदि से वासनाओं के प्रवाह तथा इन्द्रियों की चञ्चलता को रोका जाता है। इच्छाओं के दमन से 'रिदा' (सन्तोष) तथा 'तवक्कुल' (विश्वास) की प्राप्ति होती है।

५—ईश्वर में विश्वास—सूफी अपने को ईश्वर पर छोड़ देते हैं। व्यापार, भोजन, औषधि आदि की चिन्ता वे नहीं करते। वे विश्वास करना सीखते हैं कि उनका निश्चित् अंश उन्हें अवश्य मिलेगा। विश्वास प्राप्ति के लिए अपने को ईश्वर का अंश समझना चाहिये। यह विश्वास का प्रथम चरण है। द्वितीय स्थिति में सूफी साधक पिता, माता, भ्राता, मित्र आदि सब स्नेहियों से अधिक ईश्वर पर विश्वास करता है। तृतीय स्थिति में साधक अपने मन को ईश्वर से सम्पृक्त करने का प्रयत्न करता है। द्वन्द्वों के तूफान में अप्रभावित रहता है। विश्वास से उसमें शक्ति का सञ्चार हो जाता है।

६—जिक्र (Recollection)—ईश्वर का सदा स्मरण, सांसारिक वस्तुओं के विस्मरण में सहायता पहुँचाता है। इस सोपान में साधक 'सुभान अल्लाह, सुभान अल्लाह' पुकारता है (Glory to Allah)। वह पुकारता है—'ला इलाह इला लाह' (अर्थात अल्लाह को छोड़ कर अन्य कोई नहीं है) इस प्रकार अल्लाह का जिक्र=चर्चा या स्मरण आवश्यक है। दरवेशों में 'जिक्र' के कई स्वरूप प्रचलित रहे हैं। गायन, नृत्य, सङ्गीत आदि को 'फ़ना' की स्थिति के लिये आवश्यक माना गया है। कुछ सूफी अपने शरीर को लकड़ी, ईंट आदि से विभिन्न कष्ट देते रहते थे। भारत में आकर सूफी लोगों में योग की साधनाओं का अभ्यास चल पड़ा था। जायसी तथा अन्य कवियों ने कबीर तथा नाथ-पन्थी यौगिक साधनाओं की यत्र-तत्र चर्चा की है।

(७) 'ध्यान' (Meditation या मुराक़बत) बौद्धों के ध्यान या समाधि की तरह सूफियों में 'मुराक़बत' प्रचलित थी। ध्यान के समय 'नूरी' का प्रत्येक रोम निष्कम्प रहता था, ऐसा कहा जाता है।

इन सप्त सोपानों को पार कर लेने के बाद साधक में 'यक़ीन' जागृत हो जाता है। उसकी रूह का आंतरिक प्रकाश अनुभूत होने लगता है। कुरान में कहा गया है कि "अल्लाह स्वर्ग का प्रकाश है"। उसे हम भौतिक आँखों से नहीं देख सकते। हृदय दर्पण है। उसमें वह प्रकाश प्रतिबिम्बित हो सकता है, यदि वह साधना से स्वच्छ-कर लिया गया हो। हृदय-दर्पण में इस प्रकाश की अनुभूति होने पर साधक में तत्व को पहचानने की शक्ति 'फिरासत' आ जाती है। 'फिरासत' को सारे ज्ञान का परिणाम कहा गया है। यह अल्लाह की कृपा से ही मिलती है। 'फिरासत' के द्वारा साधक केवल दिव्य सत्ता का ही चिंतन करता है, उसकी चेतना दिव्य सत्ता में लुप्त हो जाती है तब वह 'इहसान' की स्थिति को प्राप्त हो जाता है (The Station of well-doing)। कवियों ने इन स्थितियों का वर्णन विभिन्न प्रकार से किया है, साधक चारों ओर एक ही दिव्य छटा देखने लगता है। वह जगत के सारे पदार्थों में केवल एक सत्ता के दर्शन करता है। उसे अपने चारों ओर वही सौन्दर्य, वही प्रकाश बिखरा हुआ प्रतीत होता है।

सूफी धर्म का मुख्य सिद्धान्त 'फ़ना' का सिद्धान्त है जबकि साधक की आत्मा, ब्रह्ममय हो जाती है तो स्वरूप-स्थिति हो जाती है। वेदान्त व सूफी धर्म यहाँ प्रायः एक ही स्तर पर हैं—(When the individual self is lost, the universal self is found) इसी को 'फ़ना' कहते हैं। मिलन की स्थितियों को सूफ़ियों ने कई भागों में बाँटा है :—
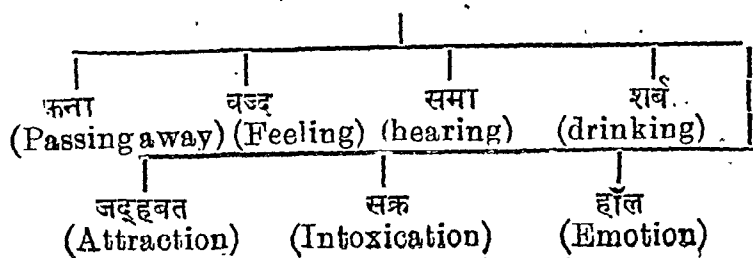
इनके अतिरिक्त 'गैबत्' आदि अन्य स्थितियाँ भी बतलाई गई हैं। मिलन की अवस्था में मूर्च्छा या आवेश की स्थिति का सूफी कवियों ने बड़े विस्तार से वर्णन किया है, कहीं इसे "दैवी, रहस्यमय स्थिति कहा गया है जिसे अल्लाह साधक को दान करता है और जिसमें निमग्न होकर अंश (रूह) अंशी से मिलकर एक हो जाता है" कहीं उसे "एक चिनगारी माना गया है जो रूह में भ्रमण करती है और जो प्रेम से उत्पन्न होती है"। 'फना' की अनेक व्याख्याएं हैं—

(क)—इच्छाओं के नाश के पश्चात् आत्मा का ब्रह्म की ओर उन्मुख होना।

(ख)—प्रत्यक्ष अनुभव की स्थिति के बाद अलौकिक प्रत्यक्ष की स्थिति को प्राप्त करना।

(ग)—चित्त का विचार-रहित हो जाना। 'फना' की अन्तिम स्थिति वह है जब यह चेतना भी नष्ट हो जाये कि "मैंने फना को प्राप्त कर लिया है"। इसी को सूफी 'फना-अल-फना' कहते हैं। इसके पश्चात् रहस्यवादी सूफी 'दिव्य-चेतना' का अविभाज्य अंश हो जाता है, यही वेदान्तियों के यहाँ 'तत्त्वमसि' की स्थिति है। इसे 'बका' कहते हैं। इसका अर्थ है 'ब्रह्म में निवास करना'।

'फना' की उक्त स्थितियों में 'क' स्थिति बौद्धों के 'निर्वाण' से सादृश्य रखती है। यह इच्छाओं के अभाव की स्थिति है, दूसरी स्थिति स्वयं प्रकाश की स्थिति है और तीसरी दशा 'पूर्ण ऐक्य' की स्थिति है।

इस प्रकार साधना के सप्त सोपानों को पार कर के, फना एवं बका की स्थिति में आत्मा व परमात्मा का ऐक्य ही सूफी साधना का विषय है। इस 'ऐक्य' की स्थिति को 'वाकिफत' कहा गया है और साधक को 'वाकिफ'। अब तक वर्णित अवस्थाओं, स्थितियों तथा विभिन्न लोकों को हम इस प्रकार रख सकते हैं[1]—

---

१ देखिये 'जायसी' नामक पी-एच०.डी० उपाधि के लिए आगरा यूनी० द्वारा स्वीकृत किन्तु अप्रकाशित प्रबन्ध, ले० श्री जयदेव कुलश्रेष्ठ।

क्रम	अवस्था	लोक	यात्री (सालिक) की संज्ञा	मुकामात		
				आदि	मध्य	अन्त
१	शरीअत	नासूत (नरलोक)	मोमिन	अब्द	×	इश्क
२	तरीकत	मलकूत (देवलोक)	सालिक	इश्क	ज़ाहद	मारिफ़
३	मारिफ़त	जबरूत (ऐश्वर्यलोक)	आरिफ़	मारिफ	वज्द	हक़ीक़
४	हक़ीक़त	लाहूत एवं हाहूत (माधुर्य और सत्यलोक)	हक़	हक़ीक़	वस्ल	फ़ना तथा बक़ा

ब्रह्म, जीव और जगत—सूफी आत्मा को मानते हैं परन्तु आत्मा के दो भेद कर लेते हैं-१-रूह, २-सिर्र। इसके अतिरिक्त 'हृदय' (क़ल्ब) की सत्ता भी वे मानते हैं, साधना में इन तीनों अवयवों के अलग-अलग कार्य हैं—

क़ल्ब—ईश्वर को जानना।

रूह—ईश्वर को प्यार करना।

सिर्र—ईश्वर का चिन्तन करना।

इसमें 'क़ल्ब' वस्तुतः दिल से भिन्न कल्पित अवयव है। इसका कार्य भी बौद्धिक माना गया है, जहाँ बुद्धि ईश्वर को समझने में असमर्थ हो जाती है वहाँ 'क़ल्ब' उसे समझने में समर्थ हो जाता है। तर्क से ईश्वर नहीं समझा जा सकता, वह तो अनुभूति से जाना जाता है। सूफी साधक इसीलिए तार्किकों तथा शास्त्र के आधार पर वाद-विवाद करने वालों की खूब खबर लेते रहे हैं। ईश्वर तो स्वयं प्रकाश ज्ञान एवं अनुभूति का विषय है न कि पुस्तकीय ज्ञान तथा सीमित बुद्धि का। 'इल्म' (पुस्तकीय ज्ञान) उसे नहीं जान सकता, वह तो मारफ़त या 'इरफान' से जाना जाता है। मारफ़त का अर्थ ईश्वर से सम्बन्धित साक्षात ज्ञान है। जो स्वयं-प्रकाश्य है।

सूफी तथा सनातनी मुसलमान दोनों ईश्वर को एक मानते हैं, इस्लाम उसे असामान्य गुणवान् तथा सर्वशक्तिमान् मानता है, अर्थात्

वैसा समर्थ अन्य कोई जीव नहीं हो सकता। वह सबका मालिक और सबसे बड़ा है, वह स्रष्टा और दाता है। परन्तु सूफी मानता है कि ईश्वर शाश्वत सत्ता है जो जगत के प्रत्येक पदार्थ में विद्यमान है, अतः जगत विश्वरूप है, उससे भिन्न किसी की सत्ता नहीं। परन्तु प्रश्न यह है कि वह अन्ततः इस अनेकात्मक जगत के रूप में अपने को व्यक्त क्यों करता है? इस प्रश्न का उत्तर भारतीय दर्शन के अनुकरण पर ही दिया गया है—"उसने इच्छा की, एक से बहुत हो जाऊँ"। सूफियों के अनुसार ईश्वर एक गुप्त निधि के समान है—उसने सोचा कि मुझसे सब परिचित हो जायें, अतः उसने सृष्टि निर्मित की।*

सूफियों के अनुसार प्रायः ईश्वर प्यार का इच्छुक है, वह जगत के रूप में अपने सौन्दर्य को अभिव्यक्त करता है। जगत के सारे पदार्थों में अपना सौन्दर्य नहीं है, सारा सौन्दर्य उसी एक दिव्य सत्ता का है।

इसी सम्बन्ध में जामी कहता है—'उस प्रेमिका (दिव्य-सत्ता= अल्लाह) ने अदृश्य एकान्त में अपना अवगुण्ठन खोल दिया, उसने अपने ही मुख को देखने के लिये दर्पण उठाया, उसने अपने सौन्दर्य को अपने ही सम्मुख प्रदर्शित किया। वह दृष्य भी है और द्रष्टाभी, केवल उसी की आँखें सारे विश्व को देख रही हैं। सृष्टि के पूर्व एक ही तत्व था, द्वैत

---

* "Being can only be known through not-being wherein as in a mirror Being is reflected and this reflection is the phenomenal universe".

साथ ही सृष्टि को "सौन्दर्य का प्रसार" इस प्रकार माना गया है—

God is the Soul reality (आलहक़) and is above all names and definitions. He is not only absolute Being, but also Absolute good, and therefore Absolute Beautiful. It is the nature of beauty to desire manifestation, the phenomenal universe is the result of this desire.

—Ency clopaedia of Britanica

न था। मेरे, तेरे का भाव न था, सब शून्य था, फिर भी उसने इच्छा की कि वह दर्पण के रूप में अपने को बदल दे। ....उसके शाश्वत दिव्य गुण ही इस अनेकात्मक जगत के रूपमें बदल गये। जहाँ भी सौन्दर्य दिखाई पड़ता है, प्रेम साथ ही प्रतीत होने लगता है। जब सौन्दर्य गुलाबी गालों में झलकता है तो प्रेम अपनी मशाल उसी सौन्दर्य की चिनगारी से जला लेता है। ....सौन्दर्य तथा प्रेम शरीर व प्राण के समान हैं, सौन्दर्य कोप है और प्रेम बहुमूल्य रत्न है, ये दोनों आरम्भ से ही साथ रहे हैं। + इससे ये बातें स्पष्ट हैं—

१—अधिकतर सूफी जगत को ब्रह्म की अभिव्यक्ति मानते हैं। रामानुज व वल्लभ यहाँ सूफियों के साथ हैं।

२—ब्रह्म व जीव में तात्त्विक एकता है।

३—सूफी प्रतिबिम्बवादी हैं, शङ्कर की तरह अवच्छेदकवादी नहीं।❀

४—ब्रह्म प्रेयसी है, जीव प्रेमी। ब्रह्म सौन्दर्य युक्त है, जीव प्रेम युक्त। प्रेम से सौन्दर्य को खोजा जा सकता है।

५—ब्रह्म व जीव की एकता ही साधना का ध्येय है, जिसके लिए सांसारिकता का त्याग आवश्यक है।

इन्हीं तत्वों का प्रचार करने के लिये फारसी व भारतीय सूफी कवियों ने मसनवी-काव्य का सृजन किया था। जायसी में हमें उक्त तत्व पूर्णतया सुरक्षित मिलते हैं जिन्हें हम यथा स्थान देखेंगे।

विशिष्टाद्वैत मत भेदमय जगत को सत्य मानता है, क्योंकि वह वस्तुतः ब्रह्म के अचित् अंश की ही अभिव्यक्ति है। सूफी ब्रह्म के स्वगत भेद को नहीं मानते। ब्रह्म जगत के रूप में अभिव्यक्त होकर भी, उससे अलग रहता है, इसलिये जामी कहता है कि यह सब भेद-मय जगत 'हक़' ही है।

"All limitations and all multiplicity is the Real (हक़) on the other hand, viewed in his aspect of mul-

---

+ The mystis of Islam.

❀ इन दोनो के अन्तर के लिये देखिये 'वेदान्त' प्रकरण।

tiplicity and plurality, under which he displays himself when clothed with phenomena. He is the whole created universe. Threfore the universe is the outward visible expression of the Real, and the Real is the inner unseen reality of the universe."

मुहम्मद उस दिव्य व्यापक सत्ता का प्रकाश है। वह सृष्टि के पूर्व भी था। वह जीवन का स्रोत है, वह पूर्ण मनुष्य है, उसमें सारे दिव्य गुण विद्यमान हैं, अतः जो उसे पहचान लेता है वह अल्लाह को पहचान लेता है। मुहम्मद को सूफियों ने इस प्रकार ईश्वर का प्रकाश कहकर स्वीकार कर लिया है यद्यपि प्रारम्भ में सूफी मत के साधक मुहम्मद के नियम-प्रधान धर्म के विद्रोही थे। भारत में सूफियों को यह समन्वय परम्परा से मिल चुका था अतः वे मुहम्मद के गुण गाते हुये पाये जाते हैं। जायसी ने भी उनका गुण गान किया है। यह विश्वास का आग्रह था।

सूफियों की महान देन है। मनुष्य के गौरव को मान्यता देना। सूफी मानते हैं कि मनुष्य ईश्वर की सृष्टि में श्रेष्ठतम् रचना है। मनुष्य ईश्वर की प्रतिकृति है, जो वस्तु उसमें नहीं है, उसे वह नहीं जान सकता। मनुष्य ईश्वर का नेत्र है, वह मनुष्य के द्वारा जगत को देखता है। मनुष्य ईश्वर के निकट है। प्रश्न यह है कि जब जगत सुन्दर और असुन्दर दोनों रूप रखता है। मनुष्य में भी दुर्बलतायें और दोष हैं, तब क्या ये दोष निर्दोष ब्रह्म से उत्पन्न हुये हैं? इसके उत्तर विभिन्न सूफियों ने विभिन्न प्रकार से दिये हैं। अधिकांशतः पाप की सत्ता स्वीकृत नहीं की जाती, या पाप को शून्य से उत्पन्न मानते हैं। सृष्टि के पहले (Non-being) शून्य की स्थिति थी। उसी से पापादि तत्त्व उत्पन्न हुये हैं, अतः वे अवास्तविक हैं। स्पष्ट है कि सूफी जगत की व्याख्या सन्तोष जनक नहीं कर सके। प्रतिबिम्बवाद स्वयं एक दोष पूर्ण स्थिति पर पहुँच जाता है।

यह भी कहा गया है कि जगत चित्र है, ब्रह्म चित्रकार। यदि चित्र में बुराई है तो उसका अर्थ यह नहीं कि वह दोष चित्रकार में भी है पर यह उत्तर भी सन्तोषजनक नहीं है। रूमी ने यह कहा है कि 'बुराई' वस्तुतः प्रतीयमान सत्य है, और वह भी अच्छाई के लिए ही

है। सृष्टि में कोई वस्तु पूर्णतया दोषपूर्ण नहीं है। तब इस बुराई से भरे संसार में हम उस दिव्यता को कैसे खोज सकते हैं। रूमी के मत से केवल प्रेम द्वारा ब्रह्म की खोज की जा सकती है। अन्य कोई मार्ग नहीं है।

प्रेम को माध्यम मान लेने से सूफी कविता में अलौकिक प्रेम का वर्णन लौकिक प्रेम की पद्धति पर होने लगा था। 'इब्न-अल-अरबी' नामक प्रसिद्ध सूफी कवि पर यह आक्षेप हुआ था कि उसने अपनी कविताओं में अपनी लौकिक प्रेमिका का वर्णन किया है। 'अरबी' ने इस भ्रम का निवारण करने के लिए आक्षेपकर्ताओं की कटु भर्त्सना की थी। अरबी की एक कविता का भाव यह है:—

"वह सुन्दर सुकुमारी कितनी सुन्दर है? उसकी प्रभा अन्धकार में भटकने वाले यात्री के लिए दीपक के समान है, वह केशों के आवरण में छिपे हुए मोती के समान है, वह मोती जिसके लिए हमारा 'विचार' सागर की गहराइयों में डूब कर वहीं का हो रहता है। जो उसे देखता है, वह उसे मरु-प्रदेश की सुन्दर हरिणी के समान समझता है क्योंकि उसका कंठ सुन्दर है, उसकी मधुर चेष्टायें मार्मिक हैं" *

इस प्रतीकात्मक शैली के द्वारा ही सूफी उस दिव्य सत्ता की ओर संकेत करते हैं। जायसी ने 'पद्मावत' में नागमती के सौन्दर्य का ऐसा ही आकर्षक वर्णन करते हुये उस अनन्त सौन्दर्य की ओर मधुर संकेत किये हैं। दिव्य-सत्ता की झलक पाकर मुग्ध होने वाले सूफियों के लिये इस प्रतीकात्मक शैली को छोड़ कर अन्य कोई मार्ग नहीं था, क्योंकि अलौकिक अनुभूति का वर्णन प्रत्यक्ष पद्धति पर नहीं किया जा सकता। यह प्रतीकात्मकता या व्यञ्जना की पद्धति साधना के अनुसार विभिन्न प्रकार की है। यदि साधक कवि है, तो मानवीय प्रेम के उद्गारों के माध्यम से ही वह दिव्य प्रेम को संकेतित करेगा यथा उमर खैयाम व उर्दू के कवियों ने किया है। ऐसे कवि जब यह कहते हैं कि "शराब पियो, सारे बन्धन तोड़ डालो" तो उसका अर्थ यह होगा कि "भौतिक आवरण छोड़ दो और अपनी रूह को आध्यात्मिक जगत में प्रवेश पाने दो।"

योरोपियन आलोचकों ने सूफियों की शृङ्गारिक-अनुभूतियों के समझने में असमर्थ होकर ही कहा था कि सूफी कविता में शराब व यौन-

* Wherever you turn there is a face of Allah,

भावना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यह ठीक है कि सच्चे सूफियों के साथ-साथ अनेक दुराचारियों ने भी शराब, व यौन-पिपासा के गीत गाये, परन्तु सूफी काव्य से इसकी महानता घटती नहीं है। ऐसे ही प्रवंचकों को फटकारते हुये इब्न-अरबी ने लिखा था :—

Love, qua love. is one and the Same reality to those Arab lovers and to me; but the objec s of our love are different, for, they loved a phenomenon, whereas I love the Real. They are a pa'tern to us because god only afflicted them with love for human beings in order that might show, by means of them, the falseness of those who pretended to love Him, and yet feel no such transport and rapture in loving him as deprived those enamoured men of their reason and made them unconscious of themselves.❀

जलालुद्दीन रूमी ने कहा है कि प्रेम हमारे अभिमान और आत्म-प्रवंचना की औषधि है, सारी दुर्वलताओं का सुधार प्रेम से हो जाता है। किन्तु यह 'प्रेम' का मार्ग कायरों के लिये नहीं है, इसके लिये साहस, धैर्य, निःस्वार्थता, संसार-त्याग, इच्छा-नाश, तथा समर्पण की आवश्यकता है। नूरी, रक़्म, तथा अन्य सूफियों को इसी प्रेम के लिये प्राण त्याग करने पड़े थे।

सूफी लौकिक प्रेम को अलौकिक प्रेम का सोपान मानते हैं, लैला मजनू, यूसुफ जुलैखा, गुल व बुलबुल आदि के उदाहरण इसी आधार पर दिये जाते हैं। 'हुजवीरी' ने बताया है कि लौकिक प्रेम चित्त को एक वस्तु पर एकत्रित करने के लिये आवश्यक होता है। मजनू ने इसीलिये लैला पर अपना चित्त स्थिर किया था, वह अपनी प्रेमिका में सारे विश्व को देखा करता था। पद्मावत में रतनसेन की भी यही स्थिति दिखाई गई है। मजनू लैला से प्रेम करते करते उसी अलौकिक स्थिति को प्राप्त कर लेता है। लौकिक प्रेम की तीव्रता अलौकिक प्रेम की मूर्च्छा व उन्माद में बदल जाती है, यही 'फना' की स्थिति है। इसके बाद साधक को बक़ा' की स्थिति प्राप्त हो जाती है।

❀ The mystics of Islam,

जायसी की विचारधारा

ब्रह्म, जीव, जगत—जिस प्रकार भारतीय दार्शनिक श्रुतियों में अपने सिद्धान्तों का स्रोत खोजते थे उसी प्रकार सूफियों के दर्शन का आधार कुरान था। इमाम गजाली के बाद सभी सूफी कवि अपनी प्रत्येक धारणा का समर्थन कुरान की आयतों से करते दिखाई पड़ते हैं। किन्तु जैसा हमने पहले देखा है, कुरान में एकेश्वरवाद का प्रतिपादन है, अद्वैतवाद का नहीं। अतः सूफियों ने जहाँ अद्वैतवाद का वर्णन किया है वहाँ एक ओर तो वे कुरान के एकेश्वरवाद को सर्वथा नहीं छोड़ते और दूसरी ओर वे भारतीय अद्वैतवाद तक जा पहुँचते हैं। इसी प्रवृत्ति के कारण जायसी में हमें दोनों मत एक साथ प्रतिपादित दिखाई पड़ते हैं, साथ ही भारतीय वेदान्त के शाङ्कर वेदान्त-अन्तर्गत अवच्छेदकवाद, प्रतिबिम्बवाद तथा रामानुजीय विशिष्टाद्वैतवाद इन तीनों मतों के समर्थक कथन मिल जाते हैं। तब सहज ही प्रश्न होता है कि अन्ततः जायसी का मुख्य सिद्धान्त क्या था? प्रायः कहा गया है कि जायसी अपनी सारग्राहिणी प्रवृत्ति के कारण सभी मतों का वर्णन कर जाते हैं और इसलिये उनकी विचार-धारा में असम्बद्धता है।* स्वयं 'तसव्वुफ' में कुछ बातों के विषय में निश्चितता नहीं है यथा जगत की व्याख्या के सम्बन्ध में। कभी सूफी जगत को 'अध्यास' मानते हैं, कभी प्रतिबिम्ब मात्र, कभी रामानुजीय पद्धति स्वीकार करते हैं और कभी 'कार्य कारणवाद' को मानते हैं। तब जायसी की निश्चित विचार धारा की खोज का प्रश्न और भी जटिल हो जाता है।

वेदान्त के अनुसार ब्रह्म ही जगत का निमित्त व उपादान कारण है। जगत के निर्माण के लिये कहीं बाहर से उपकरण नहीं लाये

---

* देखिये 'जायसी'—जयदेव कुलश्रेष्ठ।

जाते, स्वयं ब्रह्म अपनी शक्ति से उसे उत्पन्न करता है। प्रश्न यह है कि तब उस सत्ता का रूप क्या है ?

जायसी निश्चित रूप से प्रतिबिम्बवादी थे, प्रतिबिम्बवाद के अनुसार ब्रह्म बिम्ब है। जगत रूपी परदे में उस परम सत्ता की छाया पड़ती है, ये जो अनेक जीव दिखाई पड़ रहे हैं वे वस्तुतः उसी परम सत्ता के ही रूप हैं, एक के अनेक रूप। यथा सूर्य आकाश में दीप्तमान होने पर भूतल स्थित सहस्रों घटों में अपना प्रतिबिम्ब डालता है, तब प्रत्येक घट में एक-एक सूर्य दिखाई पड़ता है। फिर जैसा घट का जल होगा उसी रँग का सूर्य दिखाई पड़ेगा। उसी प्रकार इस संसार में जो अनेक जीव दृष्टिगोचर होते हैं वे वस्तुतः ब्रह्म के ही प्रतिबिम्बि हैं। जैसे घट फूट जाने पर सूर्य का प्रतिबिम्बि सूर्य में ही समा जाता है उसी प्रकार जीव भी ब्रह्म में समा जाते हैं, उनकी अलग सत्ता नहीं है। जगत की भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। वह तो केवल ब्रह्म की आत्म क्रीड़ा का माध्यम मात्र है। ब्रह्म अपनी शक्ति से उसे उत्पन्न कर उसमें अपना प्रतिबिम्ब देखता है।

गगरी सहस पचास, जो कोउ पानी भरि धरे।
सूरज दिपे अकास, मुहमद सब मँह देखिये।

जिस प्रकार घट का जल, जल स्थित प्रतिबिम्ब को तथा बिम्ब सूर्य को कलुषित नहीं कर सकता, इसी प्रकार जगत के मूल में एक शुद्ध, नित्य, निर्लिप्त सत्ता रहती है। सत्ता के सर्वव्यापकत्व के सम्बन्ध में सभी सूफी एक मत हैं। अतः जायसी को भी इस सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं है। सूफियों के लिए जगत विज्ञानवादी बौद्धों के समान स्वप्न में देखे गये पदार्थों के समान नहीं है। अन्तर्चेतना के साथ-साथ सूफी बहिर्जगत की सत्ता भी स्वीकार करते हैं। यहीं जायसी में विशिष्टाद्वैत आजाता है। प्रश्न यह है कि यह पर्दा (जगत) विवर्त है या विकार। यदि विवर्त है तो जायसी शांकर वेदान्ती हैं और यदि विकार है तो रामानुजीय। सूफियों में दोनों मतों के दार्शनिक सम्प्रदाय रहे हैं यह हमने दिखाया है। परन्तु जायसी क्या मानते थे, जगत विकार है या विवर्त ?

हमने पीछे कहा है कि सूफियों में 'वजूदिहा' और 'शहूदिया'

दो प्रमुख सम्प्रदाय थे। प्रथम सम्प्रदाय शाङ्कर वेदान्त के अनुकरण पर जगत को भ्रान्ति मानकर 'कार्य कारणवाद' को (Theory of causation) नहीं मानता, विवर्त को मानता है। दाराशिकोह भी ऐसा ही दार्शनिक था, परन्तु दूसरे शहूदिया सम्प्रदाय में जगत को ईश्वर का अंश माना जाता है। अतः जगत रज्जु में सर्प की भ्रान्ति के समान कल्पित सत्ता नहीं है, वह ब्रह्म का ही प्रतिरूप है। इस दृष्टि से ब्रह्म विश्व रूप है। ब्रह्म के अतिरिक्त यहाँ कुछ भी नहीं है। वही सत्ता दृश्य भी है (जगत) और वही द्रष्टा भी। दृश्य और द्रष्टा दोनों की एकता है, यही है वह 'सर्ववाद' जिसे जायसी ने स्वीकार किया है। इसलिए सूफी कवि प्रकृति के सौन्दर्य का वर्णन करते हैं, और उसे ब्रह्म के सौन्दर्य का ही प्रतिबिम्ब मानते हैं। अतः प्रतिबिम्बवाद के ही अनुसार 'स्तुति खण्ड' में 'ब्रह्म' का रूप वर्णित हुआ है—

अति अपार करता कर करना, बरनि न कोई पावै बरना।

× × × ×

जीभ नाहिं, पै जिये गुसाईं, कर नाहीं पै करै सवाईं।
नयन नाहिं पै सब कुछ देखा, कौन भाँति अस जाय बिसेखा।
ना ओहि ठाउँ न ओहि बिन ठाऊँ, रूप रेख बिन निरमल नाऊँ।

ना वह मिला, न बेहरा, ऐस रहा भरपूर।
दीठवन्त कहँ नियरे, अंध मूरखहिं दूर।

इस प्रकार वह सत्ता अन्तर्यामी भी है और सर्वातीत भी। यही सत्ता जगतरूपी परदे में अपना प्रतिबिम्ब डालती है। जगत की प्रत्येक वस्तु में इसका प्रतिबिम्ब पड़ता है। 'दृष्टिवन्त' उसे देख सकता है, मूर्ख नहीं। प्रश्न होगा, परदा सत् है या असत्, या दोनों से परे अनिर्वचनीय ? सूफी इसे शङ्कर की तरह स्पष्ट नहीं कहते परन्तु निश्चित रूप से वे जगत रूपी परदे का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। तात्त्विक दृष्टि से परदा इसलिए है कि वह ब्रह्म व जीव के बीच व्यवधान बनता है। साथ ही यदि वह परदा न होता तो ब्रह्म का आभास किस प्रकार दिखाई पड़ता। अतः परदे को भेद कर सत्ता को पहचान लेने वाले के लिए परदा नहीं है—

देखि एक कौतिक हौं रहा, रहा अन्तर पट, पै नहिं अहा।

अतः स्पष्ट है कि जायसी के लिये नाम रूपात्मक यह परदा नाशवान है, अस्थिर है। यह त्रिकालावाधित सत्ता नहीं है, परन्तु वर्तमान में उसकी सत्ता अवश्य है, आदि सत्ता जिस दर्पण में अपना मुख देखती है वह असुन्दर नहीं हो सकता अतः जल (जगत) और जल में आभासित प्रतिविम्व दोनों सुन्दर हैं। यहाँ जायसी प्रतिबिम्बवादी वेदान्ती के समान जगत रूपी छाया की असत्ता का ही वर्णन नहीं करते उसकी सुन्दरता का भी वर्णन करते हैं। 'प्रसाद' जी भी पर्दे की सुन्दरता से परिचित थे—

"सुन्दरता के इस पर्दे में क्या अन्य धरा कोई धन है ?"

जायसी के लिए जगत 'भ्रम' नहीं है, नश्वर व अस्थिर अवश्य है। अतः जहाँ जायसी 'नास्ति, नास्ति' की चर्चा करते हैं वहाँ समझना यह चाहिये कि वह नश्वरता की ओर संकेत करते हैं। ब्रह्म व जीव के साथ जगत भी सत्य है, क्योंकि ब्रह्म ही अपने दर्शन के लिए स्वयं दर्पण या परदा बन जाता है। अतः यहाँ सब कुछ ब्रह्मरूप ही है, उससे अतिरिक्त कुछ नहीं, शङ्कर के यहाँ 'माया' ब्रह्म रूप नहीं है, वह उससे सर्वथा भिन्न वस्तु है, भावात्मक और त्रिगुणात्मक। जो लोग जायसी को शाङ्कर वेदान्ती सिद्ध करते हैं उन्हें यह अन्तर देखना चाहिए। शुक्लजी ने भी अन्त में यही स्वीकार किया है। यद्यपि वे कबीर व जायसी दोनों की दार्शनिक धारणाओं को एक 'अनिश्चित मिश्रण' मान बैठे हैं और उसका कारण उक्त दोनों कवियों की सारग्राहिणी प्रवृत्ति बतलाते हैं। "इसीसे आगे चल कर इन्होंने चित्तत्व के समुद्र से जो असंख्य प्रकार के शरीरों के भीतर जीव-बिन्दुओं की वर्षा कराई है, वह शुद्ध वेदान्त के अपरिच्छिन्न चित् के अनकूल नहीं है, विशिष्टाद्वैत भावना से ही मेल खाती है।" × इसके बाद शुक्लजी कहते हैं—

"इस प्रकार के कई परस्पर भिन्न सिद्धातों की झलक से यह लक्षित होता है कि उन्होंने जो कुछ कहा है वह उनके तर्क और ब्रह्म जिज्ञासा का फल नहीं हैं, उनकी सारग्राहिणी और उदार भावुकता का फ़ल है, उनके अनन्य प्रेम का फल है"। परन्तु हम सूफी दर्शन की परम्परा में जायसी को रखकर स्पष्ट देख सकते हैं कि सूफी 'शहू-

× जायसी ग्रन्थावली भूमिका पृष्ठ २०३

दिया' शिविर के विचारक थे, अतः उसके अनुकूल पड़ने वाली भारतीय धारणाओं को ही इन्होंने स्वीकार किया, विपरीत धारणाओं को नहीं। जायसी सूफीमत के सजग प्रचारक थे अतः यह मानना कि जायसी में परस्पर विरोधी मत हैं, सूफी दर्शन की परम्परा को स्वीकार न करना है। 'जगत' के सम्बन्ध में स्पष्ट मत सूफियों ने नहीं दिया है। वही अस्पष्टता हमें सभी सूफी कवियों में थोड़ी बहुत मिलती है। परन्तु जिस ढङ्ग से इन्होंने वस्तु जगत व ब्रह्म और जीव को समझाया है, उसका आधार प्रतिबिम्बवाद तथा सर्ववाद है, न कि शङ्कर का अवच्छेदकवाद। अतः जायसी की धारणाओं का अपना विशिष्ट रूप है। तो जायसी जगत (दर्पण या परदा) को ब्रह्म का ही अंश मानते हैं। किस प्रकार ?

जायसी के अनुसार ब्रह्म केवल शाश्वत सत्ता नहीं है, वह शिव और सुन्दर भी है। सौन्दर्य (ब्रह्म) का यह स्वभाव है कि वह अपने को व्यक्त करना चाहता है। भौतिक जगत इसी इच्छा का परिणाम है। अतः जगत ब्रह्म रूप सौन्दर्य का स्थूल अंश है, सूक्ष्म अंश जीव। इस प्रकार जीव व जगत के रूप में ब्रह्म अपने को व्यक्त करके भी उससे परे रहता है क्योंकि वह अन्तर्यामी भी है और सर्वातीत भी। सूक्ष्म अंश चित् अंश है और जगत अचित् अंश। चित् अंश, इस अचित् अंश जगत के माध्यम से ही सर्वान्तर्यामी सत्, चित्, आनन्दमय ब्रह्म को समझ सकता है। अतः जगत् नश्वर अस्थिर होने पर भी भ्रान्ति मात्र नहीं है जैसा कि शङ्कर मानते हैं। परन्तु साथ ही जायसी में रामानुजीय दर्शन का भी एक विशेष रूप ही दिखाई पड़ता है। रामानुज जीव व ब्रह्म का भेद स्वीकार करते हैं, सूफी जीव व ब्रह्म में किसी प्रकार का तात्त्विक भेद नहीं मानते, परन्तु जगत को भ्रान्तिमय भी नहीं मानते। जैसा कि तुलसी ने शांकरमत व रामानुज मत का अपने ढङ्ग से प्रयोग किया है ठीक उसी प्रकार जायसी आदि सूफियों ने भी। जायसी के सम्बन्ध में भ्रान्ति का कारण है, 'हल्लाज' (मंसूर) तथा जामी (१५ वीं शती) के बीच के विकास को न देखना। शुक्लजी ने 'हल्लाज' का विवेचन तो किया है, वेदान्त व उसमें अन्तर भी दिखाया है परन्तु उसके बाद के दार्शनिकों का विवेचन नहीं किया, जिन्होंने ब्रह्म, जीव, जगत व मुक्ति की समस्याओं को प्रतिबिम्बवाद व

सर्ववाद के आधार पर सम्भाव्य है। शुक्लजी ने कहा है कि हल्लाज मुक्ति की अवस्था में जीव व ब्रह्म में अन्तर मानता है, परन्तु पीछे के सूफियों में यह अन्तर नहीं दिखाई पड़ता। यही बात हमें जायसी में मिलती है। पीछे के सूफियों ने साफ कहा है कि हल्लाज को सूली पर इसलिये चढ़ाया गया क्योंकि उसमें 'द्वैतता' बनी हुई थी अन्यथा वह 'एकता' की स्थिति की घोषणा न करता। एकता की स्थिति में रहस्य की घोषणा नहीं हो सकती। अतः हल्लाज के बाद का सूफी चिन्तन ही जायसी में प्रतिबिम्बित हुआ है। क्योंकि हल्लाज इस्लाम का घोर शत्रु था, वास्तवमें दार्शनिक था और जायसी शरियत पन्थी सूफी हैं अतः उनमें इस्लाम की आस्था, मुहम्मद के प्रति भक्ति, कुरान व शरीअत के प्रति पूरी-पूरी निष्ठा है। सारांश यह है कि जायसी में 'हल्लाज' के बाद का सूफी दर्शन मिलता है। इसमें स्वयं भारतीय भावनाओं का जिस विशेष ढङ्ग से उपयोग कर लिया गया है उसकी ओर हमने संकेत किया है। यहाँ न तो शाङ्करवाद ही पूर्णरूप से स्वीकार किया गया है न विशिष्टाद्वैतवाद ही। उनका प्रतिबिम्बवाद भी एक विशेष प्रकार का है। हमारे यहाँ प्रतिबिम्बवाद नहीं चल सका क्योंकि दार्शनिक दृष्टि से वह एक दोषपूर्ण सिद्धान्त था* परन्तु सूफियों ने उसी पर अपनी आधार शिला रखी। भारतीय प्रतिबिम्बवाद की सब से बड़ी कठिनाई यह है कि यदि वस्तु सत्ता में प्रतिबिम्बित बिम्ब ही जीव है तो वस्तु के नष्ट होने पर जीव भी नष्ट हो जायगा। अतः प्रतिबिम्बवाद में जीव के मोक्ष का प्रश्न ही नहीं उठता। सूर्य गन्दे पानी में प्रतिबिम्बित होकर गन्दा ही दिखाई पड़ता है। यदि गन्दा पानी न रहे तो वह प्रतिबिम्ब कहाँ जायेगा, सूर्य में ही समा जायेगा या अन्यत्र कहीं स्थित रहेगा? यदि सूर्य में स्थित हो जायगा तो अच्छे जल में स्थित प्रतिबिम्ब तथा गन्दे जल में स्थित प्रतिबिम्ब में क्या अन्तर है? फिर जीवात्मा तो निर्लिप्त है चाहे वह किसी प्रकार के जल में प्रतिबिम्बित हो। अतः उसकी मुक्ति का प्रश्न उठता ही नहीं। साथ ही प्रतिबिम्बवाद में जीवात्मा को ब्रह्म की प्रतिच्छाया मानने का अर्थ यह है कि जीव व ब्रह्म में भेद है। इन कठिनाइयों के कारण वेदान्ती जीव को घट स्थित आकाश के समान

* देखिये वेदान्त प्रकरण।

और ब्रह्म को घट के बाहर स्थित महाकाश के समान मानते हैं जो अधिक बुद्धि सङ्गत है। परन्तु सूफियों को प्रतिबिम्बवाद की ये कठिनाइयाँ अनुभव ही नहीं हुई। सूफियों के यहाँ उतनी छानबीन नहीं हुई अतः उनके अनुसार जीव जगत दोनों उसी की प्रतिच्छाया हैं, जगत में जो कि स्वयं ब्रह्म रूप है, ब्रह्म अपना दर्शन जीवरूप से करता है, अतः यहाँ न तो जगत ही भ्रान्तिमय है, न जीव। हाँ यह ठीक है कि जगत को ब्रह्म ने आवरण रूप बनाया है जो चेतन सत्ता की ओर हमें नहीं बढ़ने देता, वह जीव व ब्रह्म के बीच परदा बन जाता है, अवरोधक पर्दा। अभिमानी जीव जगत को ही शाश्वत और अनादि समझता है, यह नहीं समझता कि जगत तो परिवर्तनशील, असार, जड़ तत्त्व है किन्तु उसके भीतर जगदात्मा अपनी झलक दिखा रहा है। इस 'झलक' को पाकर जीवात्मा निहाल हो उठता है और वह उसी 'हुस्न' या सौन्दर्य की प्यास में तड़पने लगता है। जगत की वस्तुयें जो आसक्ति उत्पन्न करने वाली हैं, त्याज्य हो जाती हैं, अभिमान और द्वैतता मिट जाती है।

इसी प्रतिबिम्बवाद को जायसी ने स्वीकार किया है, जिसमें जगत को भ्रम नहीं माना जाता। मुस्लिम एकेश्वरवाद को सर्ववाद का रूप देकर सूफियों ने स्वीकार किया था। कुरान की अपने ढङ्ग से व्याख्या कर उन्होंने जगत, जीव व ब्रह्म की समस्या सुलझा ली थी। यही प्रवृत्ति जायसी में भी मिलती है—

आपुहि आप जौ देखै चहा, आपनि प्रभुता आप सों कहा।
सबै जगत दरपन के लेखा, आपुहि दरपन, आपहि देखा।
आपुहि बन और आप पखेरू, आपुहि सौजा, आप अहेरू।
आपुहि पुहुप, फूलि बन फूलै, आपुहि भँवर, बास रस भूलै।
आपुहि घट घट महँ मुख चाहै, आपुहि आपन रूप सराहै।

दरपन बालक हाथ, मुख देखै, दूसर गनै।
तस भा दुइ इक साथ, मुहमद एकै जानिये।

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि दर्पण या परदा भी वही है और इसमें अपना मुख देखने वाला भी वही है। जगत व जीव उसी एक

सत्ता के प्रतिरूप हैं। ब्रह्म व जड़ जगत की एकता को रामानुज ने ब्रह्म से स्वगत भेद करके समझाया था, एक ही ब्रह्म के दो भेद कर लिये गये—(१) चित् (२) अचित्। अचित् तत्त्व ही जगत के रूप में बदल गया। जायसी को ब्रह्म के इन भेदों के मानने की आवश्यकता नहीं पड़ी, न अन्य सूफ़ियों ने ऐसे भेद किये हैं, वे तो एक ही बात कहते हैं कि जगत ब्रह्म रूप है कैसे ? इसका उत्तर केवल यह है कि गुप्त निधि के समान ब्रह्म ने अपना प्रकाश करना चाहा। अतः उसने जड़ जगत व चेतन जीव के रूप में अपने को बदल लिया वही जीव बन गया, और वही दर्पण। इसके लिये यह कल्पना सूफियों ने नहीं की कि तत्त्वतः ब्रह्म के स्वगत भेद हैं क्योंकि सर्वशक्तिमत्ता का सिद्धान्त जो उनके पास था। 'कुरान' कहती है कि वह सब कुछ कर सकता है अतः 'ब्रह्म' जड़ रूप में भी बदल सकता है अतः चेतन अंश के रूप में भी रह सकता है और साथ ही इन दोनों से परे भी रह सकता है। सर्व शक्तिमत्ता का सिद्धान्त स्वीकार करने के कारण उलझन की कोई आवश्यकता ही नहीं, निम्बार्क और बल्लभ को भी इसीलिये कोई कठिनाई नहीं पड़ी थी।

सूफ़ियों ने विशिष्टाद्वैत मत के अनुसार 'जीव' को अणु रूप भी नहीं माना। वे तो जीव व ब्रह्म में किसी प्रकार का कोई भी भेद मानने को प्रस्तुत नहीं हैं, केवल अज्ञान के कारण जीव अपना ब्रह्म रूप भूल गया है, यही दुःख सुख का क़ारण है। जीव का अपने को ब्रह्म समझने लगना ही मुक्ति है, ब्रह्मवत् हो जाना नहीं। ("बुन्दहिं बुंद समान, यह अचरज कासौं कहौं, जो हेरा सो हेरान, मुहमद आपुहिं आप मँह")। सूफ़ियों ने वेदान्तियों की तरह बाल की खाल नहीं निकाली। जगत को ब्रह्म रूप मानना, ब्रह्म को सब भेदों से परे मानना, जीव व ब्रह्म की एकता स्वीकार करना, आदि मतों में जायसी ठीक सूफी परम्परा में आते हैं, उससे अलग नहीं होते। उनमें विपरीत सिद्धान्तों का अनुचित मिश्रण नहीं है, सूफ़ीदर्शन की उदारता उनकी उदारता है, उसकी अस्पष्टता जायसी की अस्पष्टता है, उसके सिद्धान्त जायसी के सिद्धान्त हैं। सारांश यह है कि सूफी व जायसी सर्ववादी तथा प्रतिबिम्बवादी हैं। जायसी की व्याख्या सूफी दर्शन को समझकर की जानी चाहिये, "सोऽहं सोऽहं" पढ़कर सीधे शांकर वेदान्त या विशिष्टाद्वैत मत का अनुगामी जायसी को प्रमाणित करना भूल है। कबीर व जायसी में

सारग्राहिता थी, यह ठीक है, परन्तु उनकी सारग्राहिता की विशेषता असम्बद्धता नहीं है, उसका अपना स्वरूप है। अलग अलग स्थानों से लिये गये सूत्र जैसे कबीर दर्शन को एक निजी रूप दे देते हैं, वैसा ही जायसी में भी मिलता है।

"यह संसार झूठ थिर नाहीं, उठहिं मेघ जेऊँ जाइ बिलाहीं"

इसे देखकर वेदान्ती पुकार उठेगा कि यही तो शङ्कर कहते हैं और कह देगा कि जायसी में परस्पर विरोधी मत हैं परन्तु आगे देखिये–

जो यहि रस के बायें भएऊ, तेहि कहँ रस विष भर होइ गयऊ।
तेइ सब तजा, अरथ बेवहारू, औ घर बार कुटुम परिवारू॥

स्पष्ट है कि संसार झूठा है का अर्थ रज्जु में सर्प की भ्रांति नहीं है बल्कि जगत की असारता व अस्थिरता है। 'माया' का अर्थ भी जायसी ने जगत का बंधन किया है न कि उसका अर्थ 'शांकरी माया' है।

छाँड़ि देउ सब धन्धा, काढ़ि जगत सौं हाथ।
घर माया कर छोड़ि के, धरु काया कर साथ॥

इसी प्रकार इन पंक्तियों में मायावाद खोजा गया है—

हौं, हौं, करब अठारहु जोई, परगट गुपुत रहा भरि सोई,
बाहर भीतर सोइ समाना, कौतुक सपना सो निज जाना।
पानी मँह जस बुल्ला, तस यह जग उतराय।
एकहि आवत देखिये, इक है जगत बिलाइ॥

जगत को स्वप्न समझना एक चीज है और स्वप्न के समान सार हीन समझना दूसरो चीज। इसी प्रकार बुदबुद से क्षणिकता की ओर संकेत है।

जब चीन्हा तब और न कोई, तन, मन, जिउ, जीवन सब सोई।
'हौं, हौं, कहत धोख इतराहीं, जब भा सिद्ध, कहाँ परछाहीं,

यहाँ जगत को स्पष्ट 'परछाईं' कहा गया है इसका अर्थ यह है कि ब्रह्म व जीव के बीच में ब्रह्मकी प्रतिच्छाया रूप जगत बाधक है, जड़ तत्व आवरण बन जाता है जैसे परदा दर्शन में बाधक बनता है परन्तु ज्ञान होने पर परदा सहायक हो जाता है और उसी में से ब्रह्म का

आभास होने लगता है अतः अभिमान जब तक है, तभी तक जगत का ज्ञान रहता है। ज्ञान के बाद 'परछांई' के समान जगत का भान नहीं रहता केवल ब्रह्म की ही प्रतीति रह जाती है।

जगत अव्यक्त ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है, वह प्रतिच्छाया अन्त में उसी में समा जाती है, परन्तु उसी के लिये जो अपने नेत्र बिन्दु का विस्तार करके देखता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञान की दृष्टि से स्थूल जगत सूक्ष्म ब्रह्म की ही प्रतिकृति प्रतीत होने लगती है और तब जगत उसी अव्यक्त तत्व में समा जाता है। जीव तो स्वतः ब्रह्म है ही इस प्रकार ज्ञान दृष्टि से तीनों की एकता है—

पुतरी मँह जो बिंदि एक कारी, देखै जगत सो पट विस्तारी।
हेरत दिस्टि, उघरि तस आई, निरखि सुन्न मँह सुन्न समाई॥

एक से अनेक होने का सिद्धान्त जायसी ने निम्न प्रकार से समझाया है—

रहा जो एकजल गुपुत, समंदा, बरसा सहस अठारह बुंदा।
सोई अंस, घटहिं घट मेला, औ सोइ बरन, बरन होय खेला॥

शुक्लजी ने इसमें 'गुपुत समुन्दा' सूक्ष्म चित् को माना है जिस से जीवात्माओं की उत्पत्ति होती है, यह कार्य ब्रह्म की अवस्था मानी जा सकती है, परन्तु सृष्टि प्रक्रिया का वर्णन सामी पद्धति पर होने से हमें जबरदस्ती वेदान्त की खोज जायसी में न करना चाहिये। यहाँ जायसी ने बिना स्वगत भेदों की चर्चा किए हुये एक से अनेकता के सिद्धान्त को समझा दिया:—

गुपुत जल—ब्रह्म, वह ही १८ सहस्र योनियों में बरस पड़ा, बदल गया, अपना ही अंश अनेक शरीरों में रखकर क्रीड़ा करने लगा। अतः वस्तुतः चित् और अचित् दोनों एक ही सत्ता से उत्पन्न होते हैं क्योंकि ब्रह्म इस विषय में सर्वशक्तिमान है। ब्रह्म तो अखण्ड है, उसके टुकड़े नहीं हो सकते, वह अपनी शक्ति से अपने को जड़ में बदल सकता है और चेतन तो वह है ही। जगत की जड़ता व जीव की चेतना को देखकर यह कल्पना की कोई आवश्यकता नहीं कि ये तत्वतः मूल ब्रह्म में होंगे, ब्रह्म में जड़ता नहीं हो सकती पर वह अपने को जड़ रूप में अपनी सर्वशक्तिमत्ता से बदल सकता है। इस प्रकार जगत ब्रह्म ही है।

ब्रह्म, जीव व जगत की एकता सूफियों ने हठयोग की पद्धति पर भी समझाई है। जायसी भी पिण्ड में ब्रह्माण्ड के सिद्धान्त को मानते हैं।

घा घट जगत बरावर जाना, जेहि मँह धरती सरग समाना।
माथ ऊँच, मक्का बन ठाऊँ, हिया मदीना, नवी के नाऊँ।
सरवन आँखि, नाक मुख चारी, चारिहु सेवक लेहु विचारी।

दूसरे स्थान पर इस शरीर में सात खण्ड ज्योतिष के आधार पर समझाये गये हैं :—

खण्ड	स्थान	ग्रह
प्रथम	पद	शनिश्चर
द्वितीय	गुह्येन्द्रिय	बृहस्पति
तृतीय	नाभि	मङ्गल
चतुर्थ	बाँया स्तन	अदिति
पञ्चम	कण्ठ में जीभ के नीचे	शुक्र
षष्ठ	भ्रकुटि के बीच	बुद्ध
सप्तम	कपाल	चन्द्र

यह विधान हठयोग के अनुकूल नहीं पड़ता पर ज्योतिष के अनुकूल अवश्य पड़ता है।

इसके अतिरिक्त जायसी ने हठयोगियों की पिण्ड ब्रह्माण्ड कल्पना को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया है। सिंघल गढ़ वर्णन में उसका विस्तार से वर्णन किया गया है।

ब्रह्माण्ड को शरीर के भीतर मान लेने से जीव, ब्रह्म, जगत तीनों की एकता को पुष्ट करने का आधार सूफ़ियों को मिल गया। जायसी ने इसीलिए विस्तार से हठयोग का वर्णन किया है। जायसी में मुक्ति का स्वरूप शाङ्कर वेदान्त की पद्धति पर है, परन्तु मूर्च्छा, खुमार आदि उनकी अपनी वस्तुयें हैं। इच्छाओं के अभावों के बाद (फ़ना) आत्यन्तिक एकता की स्थिति आती है, नाम और रूपमय जगत मिट जाता है:—

विगरि गये सब नाँव, हाथ पाँव मुँह सीस धर।
तोर नाँव किहि ठाँव, मुहमद सोइ विचारिये॥

फना की स्थिति—

परमहंस तेहि ऊपर देई, सोऽहं, सोऽहं साँसै लेई।
तन सराय, मन जानहु दीआ, आसु तेल, दम वाती कीआ।
दीपक मँह विधि जोति समानी, आपुहि बरै, वाति निरवानी।

सृष्टि प्रक्रिया—ब्रह्म, जीव व जगत के स्वरूप पर विचार कर हम देखेंगे कि जायसी ने किस पद्धति पर जगत की रचना समझाई है। इस सम्बन्ध में भी बड़े भ्रम हुये हैं। वस्तुतः जायसी ने सृष्टि प्रक्रिया का आधार इस्लामी विश्वासों को ही बनाया है, कुछ नामों का भारतीय करण कर दिया गया है।

जायसी यह मानते हैं कि यह सृष्टि मुहम्मद के लिए बनाई गई है। मुहम्मद को ब्रह्म का प्रकाश कहा गया है।* वह सृष्टि के पूर्व में भी था, और प्रलय के बाद भी रहेगा। उसे जो जान लेता है वह 'अल्लाह' को जान लेता है। यह सृष्टि प्रथम और अन्तिम है। पद्मावत के स्तुति खण्ड में तथा अखरावट में जायसी ने सृष्टि क्रम इस प्रकार दिया है—

कीन्हेसि पुरुष एक निरमरा, नाम मुहम्मद पूनौं करा।
प्रथम जोति विधि ताकर साजी, औ तिहि प्रीति सिहिट उपराजी।

मुहम्मद के लिये इस प्रकार सृष्टि बनाई गई। यदि मुहम्मद को सर्व प्रथम उत्पन्न न किया जाता तो अन्धकार ही रहता। आगे मुहम्मद के मित्र सिद्दीक, उस्मान अली और उमर उत्पन्न हुए। भौतिक सृष्टि की भी रचना हुई। प्रश्न होगा कि चेतन से अचेतन सृष्टि प्रारम्भ कैसे हुई? जायसी कहते हैं कि पहले सब शून्य था, न सुर था न शब्द, न पाप न पुण्य, केवल वह अपने आप में ही रम रहा था। सृष्टि का कोई उपकरण नहीं था, न स्वर्ग था न धरती, न ब्रह्मा न महेश, कुछ भी नहीं था। परन्तु इस सर्वथा अरूप वज्रबीज के रूपमें ब्रह्म विद्यमान था (अखरावट पृष्ठ ३४४ जायसी ग्रन्थावली)। वह सर्वशक्तिमान ब्रह्म सर्व प्रथम

---

* कीन्हिस प्रथम जोति परगासू, कीन्हेसि तेहि पिरीत कविलासू। अर्थात् प्रथम ज्योति अर्थात् पैगम्बर को बनाया, फिर उसकी प्रीति के लिए सृष्टि को।

मुहम्मद को उत्पन्न करने में समर्थ हुआ। उसने उसे अपने बाद दूसरा दर्जा दिया, जिससे सारे संसार में आज प्रकाश हो रहा है। मुहम्मद के प्रेम के लिये वह ब्रह्म रूपी 'वज्रबीज' दो श्वेत और श्याम अंकुरों में परिवर्तित हो गया, एक स्वर्ग और एक पृथ्वी ये ही दो अंकुर हुए। बिना द्वन्द्व के सृष्टि नहीं चलती, लेखनी तभी चलती है जब उसके दो भाग हो जायें। इसी प्रकार ब्रह्म भी चित् और अचित् रूपों में बदल गया, यही 'कार्य ब्रह्म' की अवस्था है। अतः मूल सत्ता के अविभाजित्व में दोष नहीं आता वह तो चित् और अचित् में बदल कर भी निर्द्वन्द्व और निर्लेप रहती है। वही एक बूँद १८ हजार योनियों के रूप में बदल कर भी निर्लिप्त रहती है।

सर्व प्रथम 'आदम' उत्पन्न हुये फिर चार फरिश्ते। चारों से कहा गया कि एक-एक भूत लेकर मिला दो, इस प्रकार चार भूतों के मिश्रण से सृष्टि के पदार्थ बनने लगे, चारों भूतों से शरीर को बनाकर उसमें इन्द्रियाँ स्थापित की गईं, नव द्वार बना दिये गये और दसवें द्वार (कपाल) को बन्द कर दिया गया। ब्रह्म ने नारद (शैतान) से कह दिया कि तुम इस दशम द्वार के प्रहरी बनो। सूफी धर्म के अनुसार शैतान ईश्वर का भक्त है, प्रतिद्वन्दी नहीं जैसा इस्लाम में माना जाता है।× नारद ईश्वर के इशारे से ही जीवों को बहकाता है। उसने आदम और हौवा को वर्जित गेहूँ खिलाने का परामर्श देकर स्वर्ग से निकलवा दिया, साथ ही वह भी निकाला गया। तब से वह दुनिया को बहकाने का काम करता है। पृथ्वी पर आकर आदि मानव ब्रह्म के वियोग में रोने लगा। किन्तु ईश्वर की माया ने, आकर्षण के परदे ने उसे बाँधलिया। आदि मानव दुनिया के पाश में बँध गया, फिर हिन्दू और तुर्क उत्पन्न हुये..........।

इस प्रकार यह सृष्टि प्रक्रिया विशुद्ध सामी विश्वासों के आधार पर है, अतः "बिरह एक उपनी दुइ डारा" का अर्थ यह करना कि चित् और अचित् अंशों का मूल ब्रह्म में अवश्य होगा अतः यह विशिष्टाद्वैत वाद हुआ, गलत है। सामीमत यह नहीं मानते कि जड़तत्व पहले से ही ब्रह्म में रहता है। जायसी की सृष्टि प्रक्रिया में अन्य सामी विश्वासों का भी वर्णन हुआ है—यथा 'पुले सरांत' का जो पापियों के लिये पतला

× तू सेवक है मोर निनारा, दसईं पँवरि होसि रखवारा।

और अच्छे मुसलमानों के लिये चौड़ा हो जाता है। इस प्रसङ्ग में जायसी पर कबीर का भी प्रभाव दिखाई पड़ता है। कबीर के यहाँ वेद को माया कहा गया है यहाँ भी वेद, धर्म पुस्तकों और पञ्च भूतों को माया कहा गया है। यहाँ चेतना, अचेतन जड़तत्व में बँधी हुई है, मनुष्य व्यर्थ अपनी तीसरी सत्ता समझता है—

एकहिं तें दुय होय, दुय सौं राज न चल सकै।
बीचुतें आपहिं खोय, मुहम्मद एकै होय रहु॥

साधन मार्ग—जायसी ने साधक की यात्रा में ४ बसेरे और सप्त सोपानों की चर्चा की है। इसके अतिरिक्त समाधि और मिलनजन्य आनन्द का भी वर्णन है अर्थात् साधना पक्ष में साधना के सोपानों व स्थितियों का एक ओर तथा मुक्ति के स्वरूप का दूसरी ओर वर्णन रहता है। सिंघलद्वीप के वर्णन में सोपानों का वर्णन इस प्रकार है—

नवौं खण्ड, नव पौरी और तहँ वज्र किवार।
चारि बसेरे सौं चढ़ै, सत सौं उतरै पार॥

ये चार अवस्थायें शरीअत, तरीकत, मारिफत और हकीकत हैं तथा सप्तसोपान है—पश्चाताप, आत्म शुद्धि, दारिद्र्य, संयम, ईश्वर में विश्वास, स्मृति तथा ध्यान।

इनका प्रयोग जायसी में इस प्रकार मिलता है—

साधक है रतनसेन, साध्य है पद्मावती और हीरामन गुरु है। यह तो पद्मावती के रूपकत्व निर्देशक चौपाइयों से ही स्पष्ट है।❀ प्रायः यह तो सर्वमान्य है कि पद्मावत में किसी अंश तक रूपकत्व निर्देशित है, यह बात दूसरी है कि उसमें कवि पूर्णरूप से सफल हो पाया है या नहीं। इस प्रश्न पर हम पीछे से विचार करेंगे, पहले यह देखें कि सूफ़ी-साधना मार्ग को पद्मावत में कैसे निभाया गया है।

❀ तन चितउर मन राजा कीन्हा, हिय सिंघल बुधि पदमिन चीन्हा।
गुरु सुआ, जेहि पन्थ दिखावा, बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा।
नागमती यह दुनियाँ धन्धा, बाँचा सोइ न एहि चित बन्धा।
राघवदूत सोई सैतानू, माया अलाउदीं सुलतानू।
प्रेम कथा यहि भाँति बिचारहु, बूझि लेहु जेहि बूझै पारहु।

रतनसेन का ईश्वरीय कृपा से हीरामन गुरु से संयोग हो जाता है, वह सांसारिक माया के पाश में बद्ध था अतः सर्व प्रथम अहंकार ग्रसित जीवात्मा को परमात्मा की ओर उन्मुख करने का प्रयत्न 'राजा-सुआ संवाद खण्ड' में दिखाई पड़ता है। गुरु 'आराध्य' का रूपवर्णन करता है, अतः राजा के 'कल्व' में परमात्मा की ओर प्रवृत्ति जाग पड़ती है, जिसका प्रथम परिणाम गतजीवन पर पश्चाताप है। यह प्रथम सोपान है—

पश्चाताप—इसमें भी तीन स्थितियाँ हैं तीनों जायसी में मिलती हैं—

रूह में *जागृति*—

आवत जग बालक जस रोआ, उठा रोइ "हा ज्ञान सो खोआ"।
हौं तौ अहा अमरपुर जहाँ, इहाँ मरनपुर आयउँ कहाँ।

(ख) पापकर्मों का सहसा त्यागः—

अमृत बात कहत विष जाना, प्रेम के वचन मीठ कै माना।
पूँछहु बात भरथरिह जाई, अमृतराज तजा विष खाई॥

(ग) साधना के लिये प्रतिज्ञाः—

तुम सब जोगी सिद्धि सिग, होइ गनेस सिधि लेव।
चेला को न चलावै, तुलै गुरू जेहि भेव॥

(२) आत्म शुद्धिः—

चला भुगुति माँगे कहँ, साधि कया तप जोग।
सिद्ध होइ पद्मावति, जेहि कर हिये वियोग॥

(३) दारिद्रयः—कंथा पहिरि दण्ड कर गहा,

इस प्रकार जोगी खण्ड तक शरीअत का सोपान समाप्त होता है, पश्चाताप, दारिद्रय व आत्म शुद्धि की दशायें भी समाप्त हो जाती हैं, साधना की दृष्टि से यह इश्क की अवस्था है और साधक का नाम होगा 'मोमिन'। 'सात समुद्र खण्ड' में कठिनाइयों के सामना करते समय ईश्वर में विश्वास दृढ़ होता है:—यह सप्त सोपानों में चौथी स्थिति है—तरीक़त अवस्था है।

(४) विश्वास—

प्रेम समुद्र मँह बाँध्या बेरा, यह सब समुद्र बूँद जेहि केरा।
ना हौं, सरग न चाहौं राजू, ना मोहिं नरक सेंति कछु काजू॥
चाहौं ओहि दरसन कर पावा, जेहि मोहिं आनि प्रेम पथ लावा।
अस्ति-अस्ति सब साथी बोले, अन्ध जो अहै नैन विधि खोले।

बसन्त खण्ड के पूर्व तक तरीकत अवस्था समाप्त हो जाती है, साधक की संज्ञा यहाँ 'सालिक' है। बसन्त खण्ड में पद्मावती से भेंट हो जाने के बाद मारफ़त की अवस्था है तथा इस अवस्था के साथ संयम तथा स्मृति की अवस्थायें हैं। साधक की संज्ञा यहाँ 'आरिफ' है।

(५) संयम या नफ़स का नाश—

भलेहि रंग अछरी तोर राता, मोहि दूसर सन आव न बाता।
हौं कबिलास काह लै करऊँ, सोइ कविलास लागि जेहि मरऊँ।
ओहि के बार जीउ नहिं बारौं, सिर उतारि नेवछावरि सारौं॥
हौं, हौं, कहनि सबै मति खोई, जो तू नाहिं आदि सब कोई।

(६) स्मृति और ध्यान:—

कहाँ पिंगला सुखमन नारी, सूनि समाधि, लाग गई तारी।
बूँद समुद्र जैस होय मेरा, गा हिराय अस मिलै न हेरा॥
रंगहि पान मिला जस होई, आपुहि खोइ रहा होइ सोई॥

मारफत अवस्था को प्राप्त कर चुकने के कारण तथा साधना के सप्त सोपानों को पार कर लेने के कारण राजा तत्व का साक्षात्कार कर लेता है और सूली पर चढ़ने से भयभीत नहीं होता। जायसी ने 'रतनसेन' को यहाँ हल्लाज (मंसूर) बना दिया है—

हाड़हि हाड़ सबद सो होई, नस नस माँह उठै धुनि सोई।

'पद्मावती रत्नसेन भेंट' खण्ड में हकीक़त की अवस्था है। शहूदिया सम्प्रदाय यद्यपि सापेक्षिक मिलन स्थिति को मानता है, अर्थात्-जीव का ब्रह्म में पूर्णतया विलयन नहीं मानता तथापि जायसी ने दोनों के लहर समुद्र मिलन के समान पूर्ण लय स्थिति की ओर ही संकेत किया है। रतनसेन को 'वस्ल' प्राप्त होता है, साधक 'हक़' हो जाता है। तो जायसी में इस प्रकार चतुर्थ सोपानों व सप्त प्रारम्भिक तैयारी की दशाओं का वर्णन मिलता है।

सिंहलगढ़ से विदाई के वाद रत्नसेन के ऊपर जो कठिनाइयाँ आती हैं, जो वियोग और मिलन होता है, वह स्वाभाविक आने वाली वाधायें हैं। परन्तु उनसे 'हक़' को पहचान लेने वाले साधक का कुछ विगड़ता नहीं।

कुछ लोग सप्त सोपानों में अवूदिया, इश्क, ज़हद, म्वारिफ, वज्द, हकीक व वस्ल का वर्णन मानते हैं परन्तु साधना की यात्रा का क्रम देख कर तैयारी के रूप में ऊपर वर्णित की गई सात स्थितियाँ ही लेना चाहिये। इश्क, जहद, वज्द व वस्ल आदि सोपान (Stages) नहीं हैं, स्थितियाँ (States) हैं। अतः पश्चात्ताप, संयम, विश्वास आदि सोपान हैं, स्थितियाँ नहीं। वज्द व वस्ल का विचार समाधि की स्थिति में होता है।

सिद्ध और हठयोगी साधना का प्रभाव—अखरावट में सिद्ध शब्दावली का प्रयोग जायसी ने किया है, यथा—शून्य, अलख, सहज, हंस और सवद का, और उनका अर्थ प्रायः कवीर के अनुसार किया है। शून्य का अर्थ परब्रह्म; शब्द का अर्थ अनहद नाद तथा सहज का अर्थ ब्रह्म व समाधि की अन्तिम अवस्था किया है—परन्तु कहीं-कहीं शून्य का अर्थ सामान्यतः 'अभाव' के अर्थ में भी है—

हुता जो सुन्नम सुन्न, नाँव ठाँव ना सुर सवद।
तहाँ पाप नहिं पुन्न, मुहमद आपुहि आप महँ॥
आपु अलख पहिले हुत जहाँ, नाँव न ठाँव न मूरति तहाँ।

यहाँ शून्य का अर्थ प्रत्येक वस्तु का अभाव है। 'अलख' का अर्थ नाथ-पन्थी 'ब्रह्म' के अर्थ में है निराकार, निर्गुण ब्रह्म।

परम हंस तेहि ऊपर देई, सोऽहं, सोऽहं साँसें लेई॥

परमहंस का अर्थ यहाँ 'आत्मा' है। कवीर व सूर ने भी आत्मा को 'हंसा' कह कर पुकारा है।

हेरत दिष्टि उघरि तस आई, निरखि सुन्न मँह सुन्न समाई।

यहाँ शून्य का अर्थ अभाव भी है और त्राटक मुद्रा भी, जिसमें एक विन्दु पर दृष्टि जमाई जाती है। यह भी हठयोग के अनुसार है।

इहै जगत कै पुन्नि, यह जप तप सव साधना।
जानि परै जेहि सुन्न, मुहमद सोई सिद्ध भा।

यहाँ सुन्न का अर्थ 'ब्रह्म' है।

तेहि महँ अंस समानेउ आई, सुन्न सहज मिलि आवै जाई।

यहाँ भी शून्य का अर्थ 'निर्गुण ब्रह्म' है। 'सहज' का अर्थ शुक्लजी ने प्रकृति किया है परन्तु 'सहज' का अर्थ यहाँ समाधि की अवस्था है—

जायसी ने 'प्रणववाद' की भी चर्चा की है।

तहाँ उठे धुनि आउंकारा, अनहद सबद होइ झनकारा।

एक जगह 'शब्द ब्रह्म' से आदम की उत्पत्ति बताई है—

अनहद ते भा आदम दूजा।

अनहद व शून्य को एक देश वासी बताया है—

अनहद सुन्न रहें सँग लागे, कबहुँ न बिसरै सोये जागे।

सारांश यह कि जायसी हठयोग की साधनाओं को स्वीकार करते थे, क्योंकि ये साधनायें प्रेम के कठिन मार्ग में संयम (Self mortification) रखने में सहायता करती थीं, सूफियों ने वही ग्रहण किया है जो उनके विरुद्ध नहीं पड़ता अन्यथा अवतारवाद को वे अपना सकते थे, मूर्ति-पूजा को अपना लेते पर जायसी उसकी निन्दा करते हैं। अतः जायसी ने हठयोग को स्वीकार कर लिया। अखरावट में पिण्ड में ब्रह्माण्ड की कल्पना की गई है परन्तु चक्रों के वर्णन में जायसी ज्योतिष के ग्रहों का वर्णन करने लगते हैं यद्यपि अनहद, सून्य, सबद, अलख आदि का वर्णन करते हैं।

पद्मावत में चित्तौड़ व सिंघलगढ़ वर्णन में उन्होंने हठयोगी साधना को रूपक द्वारा निर्देशित किया है। इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, कुण्डलिनी, दशम द्वार, सुधा वर्षा आदि सब तत्व पद्मावत में उपस्थित हैं।❀ यहाँ नव पौरी—कान के दो छिद्र, आँख के दो छिद्र, नासिका के दो छिद्र, मुख १, गुह्येन्द्रियाँ २, इस प्रकार नव पौरियाँ बताई गई हैं। दशम द्वार=ब्रह्मरन्ध्र है। दो नदियाँ इड़ा, पिंगला हैं। पनिहारी कुण्डलिनी है, कुण्ड नाभि स्थल है, कञ्चन वृक्ष कैलाश का कल्पतरु है, कैलाश ब्रह्मरन्ध्र है, कल्पवृक्ष का मूल नाभि के नीचे तथा शीर्ष

❀ देखिये सिंघलद्वीप वर्णन खण्ड।

कैलाश पर है, फल अमरता है।

जायसी ने पार्वतीमहेश खण्ड में "चोर की सेंध" का वर्णन किया है, अर्थात् चक्रभेदन कर सुषुम्ना के गुप्त मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र की ओर जाना ही सेंध फोड़कर घर में प्रवेश करना है। पाँच कोतवाल, काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह से बचकर ही चोरी (योग) होसकती है।

गढ़ तर कुण्ड सुरंग तेहिमाँहाँ, तहँ वह पंथ कहौं तोहि पाँहा।
चोर बैठ जस सेंध सँवारी, जुआ पैंत जस लाव जुआरी॥

चित्तौरगढ़ वर्णन में सात पौरियों की चर्चा है वस्तुतः यहाँ ये सात सोपान हैं (Stages) क्योंकि जैसे ही सातवें सोपान को अलाउद्दीन पार करता है वैसे ही आनन्द की उद्भूति होती है:—

आँगन साह ठाढ़ भा आई, मँदिर छाँह अति शीतल पाई।

हठयोगियों के प्रभाव के कारण ही चमत्कारों का वर्णन है। महादेव पार्वती, हनूमान तथा अप्सरायें परीक्षा और फिर रक्षा के लिये अवतरित की गई हैं। हठयोगियों के समान ही यहाँ सिद्धि के गुटिका, किंगरी और कन्था हैं। भारत का सूफी धर्म इस प्रकार हठयोगी साधनाओं से ओत-प्रोत है।

अब जायसी के सम्बन्ध में रूपक काव्य की समस्या रह जाती है। जायसी ने अन्त में पद्मावत को रूपक काव्य माना है, इस सम्बन्ध में अनिश्चितता है। पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार "तन चितउर मन राजा कीन्हा" आदि चौपाइयाँ जो 'पद्मावत' को रूपक काव्य बतलाती हैं, ये 'पद्मावत' की मौलिक प्रतिलिपियों में नहीं मिलतीं, ये बाद में सूफियों ने जोड़ दी हैं, किन्तु इस सम्बन्ध में भी अभी अनिश्चितता ही है। इस प्रसङ्ग में पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अन्योक्ति व समासोक्ति का प्रश्न उपस्थित कर दिया है, परन्तु जायसी के सामने ऐसी कोई समस्या नहीं थी, उनका एक मात्र उद्देश्य तन्मय होकर कहानी कहना और अवसर पाते ही सूफी सिद्धान्तों की ओर संकेत करना था। पद्मावत का उद्देश्य था सूफी धर्म का प्रचार, हमें यह न भूलना चाहिये। अतः पद्मावत की बहुत सी उक्तियों में अन्योक्ति भी है और समासोक्ति भी जैसा कि स्वयं शुक्लजी ने स्वीकार किया है। परन्तु जायसी के काव्य, सिद्धान्त या सामाजिक महत्व की चर्चा

के स्थान पर अन्योक्ति और समासोक्ति का झगड़ा अब समाप्त हो जाना चाहिये।

वस्तुतः महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि पद्मावत रूपक काव्य है या नहीं। और यदि है तो उस रूपक का रूप क्या है ?

इस सम्बन्ध में विशेष बात यह है कि पद्मावत प्रेममार्ग का उपदेश देता है, लौकिक प्रेम को अलौकिक प्रेम का प्रतीक भी सूफी मानते हैं और सोपान भी। अर्थात् लौकिक प्रेम का वर्णन करते समय वे समझते हैं कि अलौकिक प्रेम का भी वर्णन हो रहा है। इस दृष्टि से "तन चितउर, मन राजा, हृदय सिंघल" आदि का रूपक ठीक है, साथ ही सूफी किसी लौकिक प्रेमिका या प्रेमी की प्राप्ति इसलिए आवश्यक मानते हैं:—

१—लौकिक प्रेम की प्राप्ति द्वारा साधक अलौकिक प्रेम की कठिनाई का अनुमान कर सकता है।

२—स्थूल प्रेम ही धीरे-धीरे सूक्ष्म प्रेम में परिणत होने लगता है।

३—लौकिक प्रेम साधक के लिए शिक्षा के रूप में है, कैसे प्रेम किया जाय, वह यही सीखता है।

४—प्रेमपात्र की प्राप्ति में, विरह की स्थिति में भावना की तीव्रता व शक्ति का ज्ञान साधक को हो जाता है। विरह में तड़पने का आनन्द उसे मिलने लगता है। मजनू ने यही अभ्यास किया था। लैला से भेंट करने पर भी 'सहवास' का वर्णन 'लैला मजनू' की कहानी में वर्णित नहीं होता।

मजनू 'लैला' को ईश्वर समझ कर ही प्यार करता है। एक व्यक्ति पर सारा प्रेम उड़ेल देने से व्यक्ति में पात्रता, विनय, अनभिमान, कष्ट सहिष्णुता, स्मृति, विश्वास, तन्मयता आदि गुण उत्पन्न हो जाते हैं जो साधना के लिये आवश्यक हैं। पद्मावत में इसीलिये रतनसेन तो सूफी साधना का मुख्य प्रतीक है परन्तु साथ ही रतनसेन के लिये पद्मावती भी साधक है। क्योंकि प्रेम की शिक्षा उसे भी मिलनी है। अतः प्रेमी व प्रेम पात्रों को हम इस प्रकार रख सकते हैं:—

साधक	आराध्य
रतनसेन—	पद्मावती
पद्मावती—	रतनसेन (उत्तरार्द्ध)
नागमती—	रतनसेन
रतनसेन—	नागमती (केवल उत्तरार्ध में)
देवपाल—	पद्मावती
अलाउद्दीन—	पद्मावती

अब रूपक को देखिये स्पष्ट हो जायगा।

तन चित्तौड़ है, मन राजा, हृदय सिंघल, और बुद्धि पद्मावती, गुरू हीरामन है, नागमती दुनियाँ धंधा, राघव शैतान है और अलाउद्दीन माया।

इसमें चित्तौड़ शरीर (पिण्ड) है, और राजा मन। सिंघल क़लब है, जिसके द्वारा ही परमात्मा की प्राप्ति सम्भव है। क़लब सूफी दर्शन में एक कल्पित 'हृदय' है जिस पर परमात्मा का प्रतिविम्ब साफ़ पड़ता है। गुरु हीरामन है, और राघव शैतान। यहाँ तक तो ठीक है—

परन्तु नागमती भी माया है और अलाउद्दीन भी, यह कैसे ?

१—नागमती व पद्मावती दोनों राजा की सेवा करने के लिये उपदेशित होती हैं ?

२—दोनों में सपत्नी विषयक द्वन्द्व चलता है ?

३—दोनों 'राजा' की मृत्यु के बाद सती होती हैं यह कैसे सम्भव है। ब्रह्म का बलिदान जीव के लिये कैसे ?

समाधान—हमने कहा है कि केवल पद्मावती ही आराध्य नहीं है, राजा भी आराध्य है, परस्पर प्रेम का निर्वाह तभी हो सकता है। प्रश्न हो सकता है कि जब पद्मावती को बुद्धि मान लिया तो बुद्धि जीवात्मा के लिये विकल क्यों होगी। इसका उत्तर यह है कि पद्मावती का वर्णन बोधवृत्ति तथा ब्रह्म दोनों रूपों में हुआ है। यदि वह केवल बोधवृत्ति थी तो उसके सौन्दर्य का प्रभाव प्रकृति के व्यापारों पर क्यों दिखाया गया ? बुद्धि तो इतनी आकर्षक वस्तु है नहीं। अतः पद्मावत समष्टिगत चेतना है और राजा व्यष्टिगत चेतना। इसलिए

समष्टिगत चेतना (ब्रह्म) को देख कर रतनसेन, अलाउद्दीन, देवपाल तथा राघव सबको आकर्षण होता है, परन्तु रतनसेन को छोड़ कर शेष प्रेम के पुण्य पंथ पर सप्त सोपानों से न गुजर कर अत्याचार व आतङ्क से प्रेम पाना चाहते हैं। अतः "नैननि देखा कर न पहुँचा" की स्थिति में आ जाते हैं। दूतियों को भेजकर प्रेम प्राप्त नहीं किया जा सकता। स्वयं कष्ट उठा कर, साधना के विकट कष्टों को उठाकर ही प्रेम प्राप्त किया जा सकता है। इसीलिए जायसी ने अलाउद्दीन को सबल होने पर भी असफल और निराश दिखाया है। यदि केवल इतिहास का वर्णन ही उत्तरार्द्ध में है तो चित्तौड़-विजय पर अलाउद्दीन को हर्षित दिखाया जा सकता था। परन्तु अलाउद्दीन को 'माया' इसलिये कहा गया है कि वह 'माया' के द्वारा—सांसारिक शक्ति के द्वारा प्रेम पाना चाहता है, अतः निराश होता है। देवपाल का भी यही हाल है। प्रश्न होगा कि राजा रतनसेन की मृत्यु क्यों दिखाई गई ? कथा सुखान्त भी हो सकती थी ? इसका उत्तर यह है कि राजा रतनसेन प्रेम मार्ग को कलङ्कित करने वाले देवपाल को यदि दण्ड न देता तो पद्मावती के प्रति उसके प्रेम का उपहास होता। अतः पद्मावती के उत्तरार्द्ध में भी रूपक चलता है। शुक्लजी को सर्वत्र लोक-संग्रहवाद देखने का स्वभाव कहीं-कहीं सीमा के अतिक्रमण की ओर ले जाता है। उत्तरार्द्ध में अलाउद्दीन का आना, दर्पण में रानी का दर्शन करना, राघव का संकेत, सारी वस्तुयें रहस्यमय सत्ता के प्रति आकर्षण व उद्वेग को व्यक्त करने के लिए हैं पर साथ ही कवि इतिहास के भी विरुद्ध नहीं जाता। जहाँ कवि को रहस्य सत्ता के आभास की ओर संकेत करने या साधना को अप्रत्यक्ष रूप से कहने का अवसर नहीं मिलता वहाँ वह काव्यकार तथा कथाकार की प्रकृत-भूमि पर रहता है, यथा गोरा बादल वृत्त में। हमें स्मरण रखना चाहिए कि गोरा बादल की चर्चा रूपक में नहीं है, रूपक में आये हुए पात्रों का वर्णन करते समय जायसी रूपक को यथाशक्ति निभाने का प्रयत्न करते हैं।

नागमती को दुनिया धन्धा क्यों कहा गया ? इसका निर्णय समय व अवसर को देख कर करना चाहिये। राजा (साधक) पद्मावती को प्राप्त करने के लिए चलता है, तब नागमती बन्धन नहीं तो

और क्या है ? सूफियों के यहाँ प्रेम के क्षेत्र में सामाजिक औचित्य नहीं देखा जाता कि एक पत्नी रहते दूसरी 'माशूका' से प्रेम किया जाय या नहीं। विवाह एक वस्तु है और प्रेम दूसरी। अतः पद्मावती के प्रति प्रेम में स्त्री बाधा है—दुनिया धन्धा है परन्तु 'चित्तौड़ आगमन खण्ड' के बाद परिस्थिति बदल जाती है, हमें देखना चाहिये कि कवि ने इसके बाद नागमती को शीर्ष पर रख दिया है। पद्मावती उसके अनुसार एक उपपत्नी मात्र है जो अनेक हुआ करती थीं। पद्मावती ही सर्वप्रथम ईर्ष्या से वाटिका में लड़ने जाती है, क्यों ? क्योंकि यहाँ भी जायसी का उपदेश यही है कि प्रेम में द्वन्द्व नहीं होता। राजा समझाता है कि दोनों मिल कर एक की सेवा करें तो प्रेम ही प्रेम है। प्रेम ही सब रोगों की औषधि है, यह सूफी विचारकों ने बताया था। जायसी इसे जानते थे, अतः नागमती वियोग का ताप सह कर राजा के प्रेम को जीत लेती है। अतः वह 'दुनिया धन्धा' से ऊपर उठती है, पद्मावती भी उदार बनती है, पति को बचाती है और अन्त में दोनों सती हो जाती हैं, प्रेम की परीक्षा में दोनों पूरी उतरती हैं। इस प्रकार रूपक का निर्वाह यहाँ भी हो जाता है।

राघव शैतान है क्योंकि उसका काम बहकाना है। पद्मावती के रूप को देख कर वह भी भड़क उठा था। परन्तु अपने को असमर्थ समझ कर वह अलाउद्दीन का पथ-प्रदर्शक बनता है। वह अलाउद्दीन का हीरामन है परन्तु गुरु गलत होने पर साधना भ्रष्ट होती है। अतः अलाउद्दीन को असफलता मिली, सूफी साधना का मूल प्रेम साधना के लिए कष्ट सहन करने में है। यह तत्व जहाँ-जहाँ नहीं है वहाँ-वहाँ प्रेम की प्राप्ति नहीं हो सकती। नागमती, पद्मिनी व राजा सफल प्रेमी हैं अतः ये ही सुखी दिखाये गये हैं। परन्तु देवपाल व अलाउद्दीन प्रेमी नहीं वासना के दास हैं, अतः उनका पतन होता है।

सती खण्ड में नागमती व पद्मावती प्रेम की साधना में परिपक्व होकर उस रहस्य-लोक की तैयारी करती हैं। यहाँ राजा आराध्य है—

यही दिवस हौं चाहति नाहा, चलौं साथ पिउ देउ गलबाँहा।
सारस पंख न जियै निनारे, हौं तुम्ह बिनु का जिओं पियारे।
दीपक प्रीति पतंग जेउँ, जनम निबाह करेउँ।
नेवछावरि चहुँ पास होइ, कंठ लागि जिउ देउँ॥

राजा के प्रेम की अनन्यता के कारण ही पद्मावती सती होने जा रही है। सूर्यलोक को भेद कर जाने वाले राजपूत की मृत्यु पर होने वाली सती के रूप और पद्मावती के सती होने में अन्तर है। यदि पद्मावत एक रूपक काव्य न होता तो इसका रूप कुछ और ही होता। परन्तु रूपक पर विचार करते समय हमें अपनी दृष्टि व्यापक रखनी चाहिये, क्योंकि संकुचित दृष्टिकोण से देखने पर संसार में सफल रूपक-काव्य एक भी न मिलेगा। जायसी प्रेम कहानी कहते जाते थे परन्तु उससे अधिक से अधिक उन्होंने ध्वनि निकालने का प्रयत्न किया है, और वह ध्वनि है 'एकांतिक प्रेममार्ग' जिसकी शिक्षा देना ही कवि का ध्येय है, इतिहास प्रस्तुत करना नहीं।